अंक 301 वर्ष 61

भाषा

मार्च–अप्रैल 2022

पूर्वोत्तर भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक

सत्यमेव जयते

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

भारत सरकार

भाषा

मार्च–अप्रैल(विशेषांक) 2022

भाषा (द्वैमासिक)

लेखकों से अनुरोध

1. ***भाषा*** में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध होनी चाहिए। रचनाएँ प्रायः टंकित रूप में भेजी जाएँ। हस्तलिखित सामग्री यदि भेजी जाए तो वह सुपाठ्य, बोधगम्य तथा सुंदर लिखावट में होनी अपेक्षित है। रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटोप्रति स्वीकार नहीं की जाएगी।

2. लेख आदि सामान्यतः फुल स्केप आकार के दस टंकित पृष्ठों से अधिक नहीं होने चाहिए और हाशिया छोड़कर एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए।

3. अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना अनिवार्य है। इससे रचना पर निर्णय लेने में हमें सुविधा होगी। मूल कविता का लिप्यंतरण टंकित होने पर उसकी वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ प्रायः नहीं होंगी, अतः टंकित लिप्यंतरण ही अपेक्षित है। रचना में अपना नाम और पता हिंदी के साथ–साथ अंग्रेजी में भी देने का कष्ट करें।

4. सामग्री के प्रकाशन विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।

5. रचनाओं की अस्वीकृति के संबंध में अलग से कोई पत्राचार कर पाना हमारे लिए संभव नहीं है, अतः रचनाओं के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा, पोस्टकार्ड आदि न भेंजे। इन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी।

6. अस्वीकृत रचनाएँ न लौटा पाने की विवशता/असमर्थता है। कृपया रचना प्रेषित करते समय इसकी प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

7. भाषा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी वर्तनी का प्रयोग किया जाता है। अतः रचनाएँ इसी वर्तनी के अनुसार टाइप करवाकर भेजी जाएँ।

8. समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

संपादकीय कार्यालय

संपादक भाषा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110066

भाषा

मार्च–अप्रैल, 2022

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित पत्रिका (क्रमांक–16)

अध्यक्ष, परामर्श एवं संपादन मंडल
प्रोफेसर नागेश्वर राव

परामर्श मंडल
प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित
सुश्री ममता कालिया
प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय
प्रो. पूरनचंद टंडन
प्रो. शैलेंद्र शर्मा
प्रो. सत्यकाम
डॉ. रविशंकर रवि
डॉ. एम. गोविंदराजन
डॉ. जे.एल.रेड्डी

संपादक
डॉ. किरण झा

प्रूफ रीडर
श्रीमती इंदु भंडारी

कार्यालयीन व्यवस्था
सेवा सिंह
संजीव कुमार

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

ISSN 0523-1418
भाषा (द्वैमासिक)
वर्ष : **61** **अंक : 2 (301)**
मार्च–अप्रैल 2022

संपादकीय कार्यालय
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.education.gov.in
www.chd.education.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12

बिक्री केंद्र :
नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, सिविल लाइंस,
दिल्ली - 110054
वेबसाइट : www.deptpub.gov.in
ई–मेल : acop-dep@nic.in
दूरभाष : 011-23817823/ 9689

सदस्यता हेतु ड्राफ्ट नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, दिल्ली के पक्ष में भेजें।

बिक्री केंद्र :
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chd.education.gov.in
www.chdpublication.education.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12

सदस्यता हेतु ड्राफ्ट निदेशक, कें. हिं. नि.,
नई दिल्ली के पक्ष में भेजें।

1. शुल्क सीधे www.bharatkosh.gov.in → Quick Payment → Ministry (007 Higher Education) → Purpose (Education receipt) में digital mode से जमा करवाई जा सकती है।
2. कृपया दिए गए बिंदुओं के आधार पर सूचनाएँ देते हुए संलग्न प्रोफ़ॉर्मा भर कर भेजें।
3. भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र निदेशालय की वेबसाइट www.chdpublication.education.gov.in से डाउनलोड किया जा सकता है।

मूल्य :

1. एक प्रति का मूल्य	=	रु. 25.00	
2. वार्षिक सदस्यता शुल्क	=	रु. 125.00	
3. पंचवर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 625.00	(डाक खर्च सहित)
4. दस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 1250.00	
5. बीस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 2500.00	

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे भारत सरकार या
संपादन मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

भाषा

अनुक्रमणिका

निदेशक की कलम से
आपने लिखा
संपादकीय
<u>आलेख</u>

1. खामती भाषा एवं खामती रामायण 'लीक चाओ लामाङ'	प्रो. दिनेश कुमार चौबे	9
2. त्रिपुरा की जमातिया जनजाति में भक्ति का स्वरूप	डॉ. मिलन रानी जमातिया	13
3. पूर्वोत्तर राज्यों में प्रांतीय भाषाओं के विकास में हिंदी की भूमिका	प्रो. विनीता कुमारी	18
4. पूर्वोत्तर में नव–प्रतिरोधी संस्कृति के प्रणेता हिजाम इरावत	दिनेश कुमार वर्मा	23
5. त्रिपुरा की जनजातीय भाषा कॉकबरक का विकास और लिपि का द्वंद्व	मुनींद्र मिश्र	27
6. पूर्वोत्तर की भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्राण–बांधव शंकर–माधव	डॉ. दीपक कुमार गुप्ता	38
7. गालो जनजाति की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना	डॉ. तादाम रूती	43
8. चोमांगकान : कार्बी जनजाति का सर्वप्रमुख मृत्यु–अनुष्ठान	प्रो. जय कौशल	52
9. त्रिपुरी लोकगीतों में समाज एवं संस्कृतिः एक दृष्टि	डॉ. बीना देबबर्मा	61
10. नेपाली भाषा के आदिकवि भानुभक्त आचार्य	डॉ. अभिजीत सिंह	67
11. पूर्वोत्तर भारत का भाषिक परिदृश्य और हिंदी का भविष्य	वीरेंद्र परमार	74
12. पूर्वोत्तर भाषा साहित्य	डॉ. उर्मिला शर्मा	82
13. बिहू नृत्य आज बनी असम की पहचान	नूतन पांडेय	86
14. असम की भाषा–समस्या	डॉ. जाहिदुल दीवान	90
15. मेघालय के खासी लोककथाओं, मिथकों में मानवीय चेतना के स्वर	डॉ. अनीता पंडा	93
16. असम के असमिया आदिवासी समुदायों के सांस्कृतिक स्वरूप एवं उनके लोकगीत	जीतू कुमार गुप्ता	100
17. पूर्वोत्तर में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उत्स	डॉ. रघुनाथ पांडेय	106
18. बोकार लोकगीतों में अभिव्यक्त धार्मिक मान्यताएँ	पासांग रुकू	112
19. पूर्वोत्तर की जनभाषाओं में लोकसंस्कृति	डॉ. संजय प्रसाद श्रीवास्तव	118
20. असमिया जातीय–जीवन की रूपरेखा नामघर	डॉ. शरिफुज जामान	123
21. पूर्वोत्तर भारत की अतुल्य भाषा, संस्कृति	प्रियंका कुमारी	127
22. पूर्वोत्तर भारत के त्योहारों में लोक जीवन की अभिव्यक्ति	डॉ. सुनील कुमार शॉ	133

23. असम की चाय जनगोष्ठी में स्त्री–जीवन	प्रियंकादास	137
24. असमिया के आंचलिक उपन्यास 'सेई नदी निरबधि' और 'पिता–पुत्र' में चित्रित शिक्षा व्यवस्था	शहिदुल इस्लाम खान	143
25. सिक्किम की सांस्कृतिक विरासत	उपमा शर्मा	151

संपर्क सूत्र **156**
सदस्यता फॉर्म

निदेशक की कलम से

केंद्रीय हिंदी निदेशालय निरंतर भाषाई दाय का निर्वहन करता हुआ भाषा (द्‌वैमासिक) पत्रिका के कई विशेषांकों का प्रकाशन कर चुका है। भारत के विभिन्न प्रांतों और क्षेत्रों के भाषाभाषी के मध्य सांस्कृतिक, साहित्यिक समरसता को स्थापित करने में लोक में व्याप्त विविध कला, साहित्य और वाचिक परंपरा के तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, विरासत को निंरतर आगे ले जाने हेतु पूर्वोत्तर के सभी अंचल प्राचीनकाल से ही अपना अभूतपूर्व योगदान देते आए हैं। विभिन्न रीति–रिवाजों, पर्व–त्योहारों में मिश्रित लोक तत्व यहाँ की संजीवनी है। जिस प्रकार भारतवर्ष के सभी राज्यों में प्रायः सभी प्रांत के लोग आपस में सौहार्द स्थापित कर रहते आए हैं वह भारतवर्ष की विशिष्टता को दर्शाता है, उसी प्रकार विभिन्न समुदायों और भाषाभाषी के मध्य सांस्कृतिक आदान–प्रदान समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है। इस विशेषांक में अनेक महत्वपूर्ण लेख समाहित हैं जिनमें औपनिवेशिक युग में विभिन्न प्रांतों से चाय बागानों में लाए गए श्रमजीवियों के संघर्ष की कथा है वहीं पर्व–त्योहारों के मध्य अपार खुशियों से भर जाने की गाथा भी है। अद्‌भुत प्राकृतिक सौंदर्य, ज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य और संस्कृति के समरस तत्वों की भूमि पूर्वोत्तर भारत की घाटियों और अंचल की विशिष्टताओं को समेटे हुए भाषा का यह विशेषांक आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने में सभी लेखकों, साहित्यकारों, शोधार्थियों एवं विद्‌वानों का योगदान सराहनीय है। पूर्वोत्तर, भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे असीम प्रसन्नता हो रही है। पूर्वोत्तर भारत की साहित्यिक, सांस्कृतिक विशिष्टताओं को समेटे हुए मार्च–अप्रैल, 2022 का यह अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है। आपके सुझावों का सदैव स्वागत है।

(नागेश्वर राव)

आपने लिखा

भाषा पत्रिका नवंबर–दिसंबर, 2021 का अंक 'राम तत्व मीमांसा' विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ है– यह देखकर और पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। 'हरि अनंत, हरिकथा अनंता' की उक्ति को चरितार्थ करने वाला यह विशेषांक श्रीराम के मानवीय रूप के साथ दैवीय–देव पुरुष रूप की अभिव्यक्ति का भी द्योतक सिद्ध हुआ है। महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदास के रामायण और रामचरितमानस को केंद्र में रखते हुए विद्वान लेखकों ने मर्यादा–पुरुषोत्तम श्रीराम एवं आदया शक्ति सीता के मानवीय आदर्श को दिव्य आध्यात्मिक आदर्श के साथ समन्वित कर लोकग्राही बना दिया है। अधिकांश लेखकों ने श्रीराम को मानवीय मूल्यों के संरक्षक, मर्यादित और संयमित जीवन जीने के संस्थापक, भारतीय संस्कृति के पोषक एवं पुरुषार्थ चतुष्ट्य के विधायक के रूप में प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया है। ज्ञान–विज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सेवाधर्म, त्याग, तपश्चर्या, प्रेम–स्नेह, दया, परोपकार, परहित आदि को पारिभाषित और विश्लेषित करने वाला यह विशेषांक पाठकों को शोधपरक सामग्री प्रस्तुत कर जीवनामृत का रसपान कराने की संजीवनी से मंडित है।

राम तत्व का प्राधान्य ही राम कथा का सारतत्व है। श्रीराम को केंद्र में रखकर रामचरितमानस के आधार पर मानव मूल्यों का चित्रण, निर्गुण–सगुण का समन्वय, राम तत्व का सौंदर्य, मनोवृत्तियों के उदात्तीकरण, सांस्कृतिक–विमर्श, भक्ति भावना और विशिष्टाद्वैतवाद आदि तथ्यों को कथ्य एवं तत्व के रूप में अभिव्यंजित किया गया है। नर में नारायणत्व की स्थापना ही आध्यात्मिकता की ज्योति जगाना है– यही प्रतिपाद्य भी रहा है।

'कवच अभेद विप्र गुर पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा।' संप्रति यही मंत्र जनमानस के लिए उपयोगी और सार्थक सिद्ध होगा– राम तत्व की महत्ता इसी में निहित है। अस्तु!

डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय

संपादकीय

बृहत सांस्कृतिक स्वरूप की समवेत ध्वनि भारतवर्ष के सौंदर्य को निखारती है। प्राचीनकाल से प्रकृति ने आदिम सभ्यता को पल्लवित किया है। शनैः शनैः मनुष्य विकास करता गया, ऊँचाइयाँ प्राप्त करता गया और उसकी सखा और अभिभावक स्वरूप प्रकृति सदैव पास ही रही। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों स्वरूपों में धरती ने मनुष्यता को सींचा है। शीत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमंत रूपी ऋतुएँ संपूर्ण भारतवर्ष में जीवनदायिनी राग बिखेरती हैं, वर्षा के जल का पान कर फसलें लहलहाती हैं।

विविध संस्कृतियों और सामाजिक आचार–व्यवहार तथा लोक रीति–नीति का समुच्चय भारतवर्ष पूरे साल विभिन्न पर्व–त्योहार के माध्यम से अद्भुत संस्कृति को दर्शाता है। नववर्ष से प्रारंभ होकर वर्ष के अंत तक विभिन्न सांस्कृतिक–सामाजिक विचारधाराओं के आपसी आदान–प्रदान और मेल से संबंध सुदृढ़ होते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के सातों राज्य सात बहनें और सिक्किम राज्य आठवाँ राज्य है। इन आठों राज्यों का अप्रतिम प्राकृतिक सौंदर्य नैसर्गिक छटा बिखेरता है। कवि हृदय, साहित्यानुरागी सहज ही प्रकृति के सम्मोहन में बिंध जाता है।

विविध भाषिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के मनोहारी स्वरूप की झलक पूर्वोत्तर में दिखती है। पूर्वोत्तर प्रदेश भारतवर्ष का ऐसा क्षेत्र है जहाँ पुरातन संस्कृति अभी भी जीवंत है। कालांतर में जिनमें व्यापक परिवर्तन नहीं हुए। आज भी पूर्वोत्तर के इन राज्यों में संस्कृति की नैसर्गिक– अनुभूति होती है। दैनिक क्रिया कलापों में विभिन्न सांस्कृतिक अनुष्ठान अस्मिता की पहचान बने हुए हैं। विविध संस्कृति वाले भारतवर्ष में सांस्कृतिक विविधता देश की विविधमुखी सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई और साहित्यिक क्षेत्र में समन्वय का व्यापक संदेश देती है।

पूर्वोत्तर की सात बहनों के नाम से ज्ञात राज्य असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, नागालैंड हैं। वैसे तो संपूर्ण भारत में भाषाई एवं सांस्कृतिक अनेकता में एकता है परंतु पूर्वोत्तर राज्यों की सांस्कृतिक विविधता का अनूठा सौंदर्य है। अरुणाचल सूर्योदय का प्रदेश है वहीं मेघालय मेघों से आच्छादित अंचल। विभिन्न कलाएँ आज भी यहाँ विद्यमान हैं जिनका व्यापक विस्तार हुआ है। विभिन्न हस्तशिल्प, गीत, नृत्य और संगीत लोक का परिचय देते हैं। इन कलाओं के माध्यम से यहाँ की संस्कृति उत्तरोत्तर अग्रगामी है। विभिन्न त्योहार जीवन में खुशियों के रंग भरते हैं। असम का बिहू, सत्रिया, अंकिया नृत्य, मेघालय का नांदकेम नृत्य, मणिपुर की नृत्य शैली आदि भारतीय दर्शन एवं जीवन शैली के परिचायक हैं। यहाँ के निवासियों ने अनेक सघर्षों एवं पड़ावों से आगे बढ़ते हुए अपनी कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति की ताजगी को आज भी बनाए और संजोए रखा है।

मुख्य रूप से पूर्वोत्तर राज्यों में असमिया, नेपाली, बोडो, बांग्ला और मणिपुरी तथा मैते भाषा का प्रयोग किया जाता है साथ ही शताधिक जनजातीय बोलियों का प्रयोग भी होता है। यहाँ के अनेक संगीतकारों और गीतकारों ने राष्ट्रीय फलक पर अपनी पहचान बनाई है और अपना अमूल्य योगदान दिया है। गीतकार भूपेन हजारिका, संगीतकार आर.डी. बर्मन का योगदान पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक धरोहर और विरासत है। जिस पर प्रत्येक भारतवासी गर्व करता है। साहित्यिक क्षेत्र में अनेक विलक्षण प्रतिभाएँ हुईं जिनमें श्रीमंत शंकर देव, माधव कंदलि, गोपीनाथ बरदलै, ज्योतिप्रसाद आगरवाला सहित अनेक ऐसी मुकुट मणियाँ हैं जिनसे पूर्वोत्तर का भाषिक, सांस्कृतिक सौंदर्य समृद्ध है।

पूर्वोत्तर की अतुल्य विरासत और परंपरा ने भारतवर्ष के राष्ट्रीय सांस्कृतिक गौरव को समृद्ध किया है। प्राकृतिक सुषमा से आच्छादित ये राज्य पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र रहे हैं। भारतवर्ष की विशाल सांस्कृतिक विरासत के समन्वय सेतु के रूप में पूर्वोत्तर के राज्यों का योगदान महत्वपूर्ण है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय का 'भाषा' का यह विशेषांक पूर्वोत्तर की इन्हीं विशिष्टताओं को समेटते हुए एक ही स्थान पर प्रस्तुत करने का प्रयास भर है। जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ हैं और है अतुल्य भारत की झलक जहाँ हरीतिमा भी है, मेघमालाएँ भी हैं, कण–कण में नृत्य और संगीत भी है। लोक जीवन के विभिन्न पर्व–त्योहारों में सृष्टि और जीवन की धुरी सूर्य और चंद्र भी अपना विशेष स्थान बनाए हुए हैं। प्रकृति का संग तथा विभिन्न पारिवारिक सामाजिक सदंर्भों की व्याख्या लोक पर्व–त्योहार के माध्यम से व्याप्त है। सिक्किम की संस्कृति ने सदा से देश के लिए सकारात्मक भाव और दर्शन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह विशेषांक अन्य महत्वपूर्ण विशेषांकों के प्रकाशन की कड़ी में एक और कदम आगे बढ़ाने का प्रयास है। इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने में विभिन्न विषय विशेषज्ञ, शोधार्थी, साहित्यकार एवं प्रबुद्धजन का सहयोग प्राप्त हुआ है। उनके प्रति विशेष आभार जिनके सहयोग के बिना यह मणिमाला गुँथ नहीं पाती। पूर्वोत्तर की अद्‌भुत सांस्कृतिक विरासत को दर्शाता हुआ यह विशेषांक सुधीपाठकों के समक्ष प्रस्तुत है कि समरसता कायम रहे, संस्कृति अक्षुण्ण रहे।

किरण

(डॉ. किरण झा)

आलेख

खामती भाषा एवं खामती रामायण 'लीक चाओ लामाङ'

प्रो. दिनेश कुमार चौबे

खामती या ताई खामती ताई–कदई परिवार की भाषा है, इसका संबंध म्यांमार (बर्मा) की शान भाषा से है। खामती लिक–ताई में लिखी जाती है जो बर्मी पर आधारित लिपि है। यह भाषा भारत में लगभग पाँच हजार (ब्रेडली 2007) व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। खामती भाषा–भाषी अरुणाचल प्रदेश और असम के राज्यों में पाए जाते हैं। अरुणाचल में खामती भाषा–भाषी सियांग और लोहित जिले के चखम, मोमोंग, बरपथार मीम खेराम, एम जोंग और मनखाओ क्षेत्र के नामसाई उपखंड लोहित जिले के निंगरो नानम इन्तेन नथान मामरेंग, महंग गाँवों में पाए जाते हैं। असम में लखीमपुर एवं डिब्रूगढ़ जिले के बरखामती बारीगाँव, देवताला निजान श्री भूया बरपथार और तिपलिंग गाँवों में इनका निवास है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि म्यांमार की इरावदी नदी की घाटी में बोर–खामती क्षेत्र इनका मूल निवास स्थान था। वे 18 वीं सदी के मध्यकाल से लेकर 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बीच देशांतरित होकर भारत में आए। ऐसा अनुमान है कि खामती लोगों का पहला समूह सदिया के दक्षिण में टेंगापानी में सबसे पहले स्थापित हुआ। जबकि कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि अरुणाचल के चांगलांग जिले के विजयनगर में खामती लोगों का पहला दल आया था। खुदाई में विजयनगर में बौद्ध स्तूप का पता चला है जिनका संबंध खामती से है। ये अपने को ताई खामती कहते हैं क्योंकि इनका संबंध ताई प्रजाति से है। इन लोगों की जीवन पद्धति एवं संस्कृति पर चीन की ताई संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। ये ताई वर्ग की भाषा बोलते हैं। इनकी संस्कृति और परंपरा पर बर्मा का प्रभाव देखा जा सकता है। 'खाम' का अर्थ है स्वर्ण और 'ति' का अर्थ है स्थान। ऐसे स्थान में रहने वालों को खामती के नाम से जाना जाता था। ऐसी मान्यता है कि खामती लोगों का मूल स्थान सोने से परिपूर्ण अर्थात् धन–वैभव से संपन्न था।

बोलचाल की खामती में पंद्रह व्यंजन और दस स्वर हैं। खामती की ध्वनि–व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि इसमें ब, द, ग, ज, भ, ध, घ, झ आदि जैसी घोष ध्वनियों का अभाव है। खामती एक तान वाली भाषा है और इसमें पाँच प्रकार के तान पाए जाते हैं। यही कारण है कि स्वर पर विभिन्न तान के प्रयोग से एक ही शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। उदाहरण के लिए खा, जाँघ, खां वे दोनों, खा[1] आलोचना, खा गुलाम, खा छप्पर।

असम एवं अरुणाचल की जनजातियों में खामती जनजाति बौद्ध धर्म को मानती है। इनमें प्रचलित रामायण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो सकेगा कि राम कथा केवल मैदानी प्रांतों में ही नहीं सुदूर पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों में भी लोकप्रिय है। वस्तुतः राम हमारे देश के अन्यतम राष्ट्र पुरुष हैं। राम कथा अनादि काल से देश की जनता का

मार्गदर्शन करती आई है। इसलिए भिन्न–भिन्न युगों में अपने समय के अनुरूप सर्वदा नवीन रूप में विविध साहित्यों में रचित होती रही है। राम कथा पर आधारित साहित्य भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय एवं मानव मूल्यों का उत्कृष्ट भंडार है। लोकमानस को आंदोलित–आह्लादित करने में राम विषयक साहित्यों का महत्व स्वयं सिद्ध है। राम कथा की लोकप्रियता से आकर्षित होकर बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबियों ने राम को क्रमशः बोधिसत्व और त्रिसष्ठि श्लाका पुरुष के रूप में मान्यता दी। अरुणाचल प्रदेश की खामती जनजाति में राम कथा के प्रभाव का कारण पास के असम राज्य से संपर्क माना जा सकता है। असम में कारबी, बोडो, राभा, मिसमी, खामती आदि जनगोष्ठियों में राम कथा मौखिक रूप में प्रचलित है। कारबी में प्रचलित रामायण 'साबिन आलून' तथा खामती रामायण 'लिक चाओ लामाङ' पूर्ण रामाख्यान कृति के रूप में उल्लेखनीय है।

अरुणाचल प्रदेश की बौद्ध संस्कृति से प्रभावित खामती समाज के विशेष ग्रंथ का नाम है– 'लिक चाओ लामाङ' अर्थात् राजाराम का चरित। खामती समाज में इस रामायण का विशेष महत्व है। धार्मिक परंपरा के अनुसार इसका पाठ और चर्चा बौद्ध विहारों में नियमित रूप से किए जाने के कारण लोगों के जीवन पर भी इसका विशेष प्रभाव है। बौद्ध धर्म में श्रीरामचंद्र को बोधिसत्व के रूप में मान्यता भी इसका कारण माना जाता है। वैष्णव धर्म में दशावतार की सूची में राम और बुद्ध दोनों को भिन्न–भिन्न अवतार में दर्शाया गया है किंतु बौद्ध परंपरा में श्रीरामचंद्र को स्वयं बुद्ध देव के पूर्ण अवतार के रूप में स्थापित किया गया है।

खामती जनजाति सभ्यता एवं बौद्धिक परंपरा की दिशा में विकसित मानी जाती है। ये लोग हीनयान शाखा के अनुयायी हैं। प्रायः सभी गाँवों में बौद्ध विहार या बापू चाङ देखने को मिलता है, जहाँ बौद्ध भिक्षु रहते हैं। बौद्ध विहार के प्रमुख को 'महाथेर' या 'गोसाई' कहा जाता है। शिल्प–कला, भाषा और साहित्य की दृष्टि से ये लोग समृद्ध हैं। विभिन्न मौखिक साहित्य के साथ उत्कृष्ट लिखित साहित्य खामती भाषा की समृद्धि को प्रतिपन्न करते हैं। एकाधिक प्रतिलिपियों के साथ खामती भाषा में लिखित असंख्य पांडुलिपियाँ बौद्ध विहारों में सुरक्षित हैं। इनमें धर्म विधि (कानून) इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, कथा–साहित्य, लोककथाएँ आदि विभिन्न विषयों पर आधारित ग्रंथ अमूल्य धरोहर हैं। रामायण और महाभारत का खामती संस्करण क्रमशः 'लिक चाओ लामाङ' और 'चाओ आलूड थम्मा पकताम' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाभारत की अपेक्षा रामायण की लोकप्रियता खामती समाज में अधिक प्रभावशाली है।

'लिक चाओ लामाङ' की पांडुलिपि प्रायः सभी बौद्ध विहारों में सुरक्षित है। नारायणपुर के विहार में सुरक्षित पांडुलिपि में 306 पृष्ठ हैं। खामती रामायण की कथावस्तु का आधार वाल्मीकीय परंपरा की राम कथा ही है। इसके रचयिता का बौद्ध धर्मावलंबी होना स्पष्ट होता है। संभवतः बौद्ध धर्म को मानने वाली खामती जाति के बौद्ध भिक्षु इस रामायण के रचयिता हैं। कारण इस कृति का आरंभ और अंत बुद्ध वचन और बुद्ध नीति से हुआ है। साथ ही विभिन्न प्रसंगों एवं अध्यायों के आरंभ एवं अंत में भी बुद्ध–वचन का उपदेश करते हैं। पूरे ग्रंथ में वाल्मीकि का कहीं उल्लेख नहीं है। रचयिता ने इसे 'सुत्तपिटक' के आधार पर रचित कहा है किंतु इसका आधार कोई बौद्ध राम कथा नहीं है। रामायणकार असम में प्रचलित राम कथा से परिचित होने के साथ ही बांग्ला के कृतिवास रामायण से विशेष रूप से प्रभावित हैं। इसका आधार केवल कृतिवास रामायण में वर्णित कथा प्रसंगों का इस कृति में शामिल होना है। उदाहरण के लिए विभीषण

पुत्र तरणीसेन के युद्ध प्रसंग को देखा जा सकता है। इस रामायण में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। 'कृतिवासी रामायण' और माधवदेव कृत 'आदिकांड रामायण' में वर्णित कथा–प्रसंगों की समानता के आधार पर इसे सन् 1560 ई. के पश्चात् की रचना माना जा सकता है।

रामायण की चर्चा की मौखिक परंपरा भी खामती समाज में काफी समय से प्रचलित थी। खामती समाज के अनेक रीति–नीति लोकविश्वास के वर्णन से स्थानीय वैशिष्ट्य उद्घाटित होता है। श्रेष्ठ एवं श्रद्धेय जनों को फल–फूल उपहार स्वरूप देने, सात दिनों तक लगातार उत्सव मनाए जाने, अलौकिक कथाओं (मिथकों) और चमत्कारिक प्रसंगों को अधिक महत्व देने में खामती समाज की आंतरिकता उभरी है। इसके अंतर्गत पात्रों एवं स्थानों के नाम को खामती भाषा और समाज के अनुरूप ढालना अथवा उनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन कर लेना उल्लेखनीय है इस दृष्टि से खामती रामायण खामती समाज का दर्पण बन गया है। यहाँ कुछ शब्दों के रूप–विश्लेषण उदाहरण के लिए देना अप्रासंगिक नहीं है।

अयुथा (अयोध्या), अरहत (अर्हत), आलिमेतिया (आर्य मैत्रेय), आनुमाम (हनुमान), आंकाता (अंगद), आनान्ता (आनंद), आकिमुखा (अग्निमुखी बाण), इंतामति (इंदुमति) केके (कैकेयी), हो खाम कोस्लेल (कौशल्या), कुम्ती (कुती), कुबेला (कुबेर), किंकिता (किष्किंधा), कोतामा (गौतम), चालामानि (चुडामणि), चातायु (जटायु), चातारू (शत्रुघ्न), चांपाति (संपाति), चाम्पुमाम (जाम्बवंत) चांखा (संघ), नांचिता (सीता), चाओ चुखालिक (सुग्रीव), चूपानाखा (शूर्पणखा), तात्सराखा (दशरथ), निलेच (नरेश) नालाल (नारद), फिफिचाना (विभीषण), पात्पुति (पार्वती), पुक्यिथा (वशिष्ठ), पोचालामा (परशुराम), मालिच (मारीच), चाओ माहे (महादेव), मिकथिला (मिथिला), मुक तान तालि (मंदोदरी), मेक्साना (मेघनाद), लॉखानाङ (लक्ष्मण), लामाङ (राम), लाखु (रघु), हालि (वायु), यामामाड (यमराज) आदि।

'खामती रामायण' में आधिकारिक राम कथा के अतिरिक्त कई अवांतर कथाएँ भी वर्णित हैं। कुछ लोकप्रिय अवांतर कथाएँ छोड़ भी दी गई हैं। इस रामायण में आदि लंका और उत्तरकांड की कथाएँ प्रायः वाल्मीकीय रामायण की परंपरा के अधिक निकट हैं किंतु अयोध्या, किष्किंध्या और सुंदरकांड की कथाएँ थोड़ी भिन्न हैं। इन कांडों में आधिकारिक कथा अपेक्षाकृत क्षिप्र और किंचित नवीन है। अनेक कथाओं के वर्णन में नवीनता मिलती है। कुछ कथाएँ ग्रंथकार की नवीन उदभावना–सी प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ सुमंत को राम का राज्यसेवक उपदेश, सुग्रीव के राज्याभिषेक के पश्चात् सीता का अन्वेषण न कर राम का सेना के साथ लंकापुरी के लिए प्रस्थान, सेतुबंध के समय विशाल केंकड़े (कान्थाम) का लात मार–मारकर सेतुभंग करना, सीता के पाताल प्रवेश का वर्णन न कर उन्हें राजमहल में वापस ले आकर सुख–शातिपूर्वक जीवन व्यतीत करना आदि प्रसंग उल्लेखनीय हैं।

रामपक्ष के सभी पात्र और विभीषण बुद्ध धर्म और नीति के अनुयायी हैं। राम स्वयं बोधिसत्व है। बोधिसत्व विष्णु के अवतार हैं। उनका अवतार पंचशील एवं त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) की स्थापना के लिए हुआ है। वे अपने इस कार्य को पूरा कर पुनः अपने लोक लौट जाते हैं। चारित्रिक दृष्टि से राम पुत्र, माता, स्वामी, मित्र वीर, पति और शासक के आदर्श स्वरूप हैं। राम के चरित्र में नवीनता उनके अहिंसा प्रिय होने के कारण है, कहीं–कहीं उनकी अहिंसाप्रियता दुर्बलता–सी प्रतीत होती है। इस रामायण में मार्मिक प्रसंग अपेक्षाकृत कम हैं। यह कृति प्रारंभ से अंत तक घटना बहुल वर्णनात्मक होने के साथ ही वर्णन चमत्कार से भरी है।

यह कहा जा सकता है कि खामती रामायण का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण होने पर भी यह अनूदित ग्रंथ नहीं है। मूल कथा के कुछ अंशों का परित्याग और कुछ उप–कथाओं एवं लोक कथाओं के ग्रहण करने से इस कृति में मौलिकता आ गई है। राम और सीता का पुनर्मिलन इस रामायण की मुख्य विशेषता है। जबकि मूल रामायण की कथा राम और सीता के बिछोह के कारण दुखांत रहती है किंतु यहाँ दोनों के पुनर्मिलन से कथा सुखांत बन गई है। शुभ–अशुभ, भला–बुरा, सत्य–असत्य की स्पष्ट धारणा और व्याख्या से यह रामायण खामती समाज के लोगों के कर्तव्य–अकर्तव्य के निर्धारण में युगों से मार्गदर्शन करती आई है। उत्तर पूर्वांचल का गौरव स्वरूप यह रामायण भारतीय राम साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होने पर भी भारतीय स्तर पर रामायण की परंपरा में अपना स्थान नहीं बना पाई है, इस दिशा में कुछ कार्य किए जा रहे हैं। हाल ही में श्री फनीधर बरा ने असमिया में इस कृति का अनुवाद किया है। हिंदी में इसके अनुवाद की योजना पूरी हो चुकी है। आशा है भारतीय रामायण में अपने ढंग की एकमात्र कृति 'लिक–चाओ–लामाङ' के हिंदी प्रकाशन एवं अध्ययन के क्षेत्र से, पूर्वोत्तर भारत को समझने की दृष्टि अधिक विकसित होगी।

– क्वार्टर नं.–पी–48, आवासीय परिसर पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, नेहू,
शिलांग, मेघालय–793022

❑❑❑

त्रिपुरा की जमातिया जनजाति में भक्ति का स्वरूप

डॉ. मिलन रानी जमातिया

साहित्य जगत में हम जिस अखिल भारतीय भक्ति आंदोलन को पढ़ते या पढ़ाते हैं, उसमें पूर्वोत्तर का असम और मणिपुर तो शामिल है, अगर नहीं है तो त्रिपुरा और पूर्वोत्तर के बाकी राज्य; जबकि पूर्वोत्तर के प्रत्येक राज्य में भक्तिकाल और भक्ति काव्य दोनों मौजूद रहे हैं। यह अलग बात है कि हम जिस भक्ति काव्य की लगातार चर्चा करते हैं, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह दक्षिण में उपजा और वहाँ से उत्तर में आया या शेष भारत में फैला, इस तर्ज पर असम और मणिपुर से होते हुए शेष पूर्वोत्तर राज्यों में गया कि नहीं, इसकी कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है, न ही इस दिशा में अभी कोई शोध या खोज हुई है। मेरे विचार से अन्य राज्यों की तरह त्रिपुरा में भी भक्ति काव्य अपने ढंग से मौजूद है। हालाँकि प्रभाव जरूर देखा जा सकता है, वह किसी जनजाति में गॉरिया भक्ति के रूप में उपलब्ध है तो किसी में शक्ति, शैव और वैष्णव भक्ति के रूप में। गॉरिया भक्ति का संबंध कुछ विद्वान शैव भक्ति से जोड़ते हैं, पर मेरे विचार से बाबा गॉरिया में विष्णु और शिव दोनों शामिल भी हैं और नहीं भी। अगर कुछ है तो वह केवल बाबा गॉरिया हैं। ये बाबा गॉरिया कौन हैं, क्या हैं, कैसे इनकी भक्ति की जाती है, गॉरिया गीतों में इसका स्वरूप क्या है आदि, इन बिंदुओं की चर्चा करना इस आलेख का उद्देश्य रहेगा। जो कि जमातिया जनजाति में विशेष रूप से प्रचलित है। जमातिया विद्वानों के अनुसार इस बार यानी अप्रैल 2022 में उसकी 431वीं पूजा होने वाली है और प्रथा के अनुसार, जमातिया जनजाति जब भी बाबा गॉरिया की बात करती है, सबसे पहले बाबा का नाम स्मरण और उनकी भक्ति करती है–

सबसे पहले हे बाबा गारिया!/ हम सब मिलकर आपको प्रणाम करते हैं/ हम तो अज्ञानी हैं, आप हमें ज्ञान दो/ हमें कुछ भी पता नहीं है/ आप हमको राह दिखाओ / तुम ही हो, तुम ही हो/ तुम्हारे अलावा हमारा कौन है......।[1]

जमातिया जनजाति में गॉरिया–पूजा साल की सबसे बड़ी पूजा होती है, इस पूजा से पूर्व बलंग सुवामा[2], तोयबुकमा[3], माबारी[4], महादेव–बारी[5] आदि और प्रत्येक जमातिया गाँव में केर पूजा[6] करना आवश्यक है। इन पूजाओं में सुख–समृद्धि की आकाँक्षा के साथ मुख्यतः यह प्रार्थना की जाती है कि आने वाली बाबा की पूजा बिना किसी व्यवधान के संपन्न हो। तब जाकर बाबा गॉरिया की पूजा का दिन आता है। इस जनजाति के लिए बाबा गॉरिया ही सब–कुछ हैं, यानी गॉरिया ही वेद–पुराण हैं, तीर्थ और वही तीनों लोकों के स्वामी हैं। दूसरे शब्दों में गॉरिया पूजा जमातिया जनजाति का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक केंद्र बिंदु है।

बाबा गॉरिया की पूजा से ठीक सात दिन पहले खेरफांग (मुख्य पुजारी में से एक, जिसके घर में बाबा का मुखौटा एवं पूजा सामग्री आदि रखे जाते हैं) के आँगन में लांप्रा (भूमि) पूजा कर चुकबार (देशी शराब) बनाई जाती है। लोक में इस दिन को चुकबार–सुङमानी कहा जाता है। पूजा के दौरान सबसे पहले चढ़ावे के रूप में बाबा को चुकबार का भोग लगाया जाता है। इसी दिन पहली बार बाबा की पूजा के दौरान दरिया[7] द्वारा ढोल बजाया जाता है। जमातिया जनजाति इसी

दिन से बाबा की पूजा का शुभारंभ मानती है। यह ढोल आज यानी पूजा के सात दिन पहले से बजना शुरू होता है और बाबा के विसर्जन के दिन तक बजता रहता है।

त्रिपुरा में जमातिया समुदाय के दोनों अकराओं (समाजपति) के निर्देशन में दो जगहों पर गॉरिया पूजा की जाती है। दोनों गॉरिया देवताओं के अलग–अलग नाम हैं– बिया गोनांग और बिया कोरोई। दोनों की पूजा एक साथ एक ही पद्धति से, परंतु अलग–अलग स्थानों पर की जाती है, हालाँकि ग्राम–परिक्रमा केवल 'बिया गोनांग बाबा गॉरिया' की ही होती है। बाबा की मुख्य पूजा अंतिम चैत्र के दिन की जाती है। जिसे जमातिया में 'महाबुइसू' कहा जाता है। महाबुइसू से पहले वाले दिन को 'हारिबुइसू' कहते हैं। इस दिन यानी हारिबुइसू से लेकर वैशाख के छह दिन तक इस समुदाय के लिए अन्य देवी–देवताओं की पूजा करना मना है। इन दिनों वे केवल बाबा की भक्ति एवं महिमा का गान करते हैं। बाबा के आह्वान में गाए जाने वाले गीत की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं–

भोर के समय शीतल बयार/ ओस की बूँदें गिरने के साथ/ आपकी आहट सुनाई दे रही है/ अब तो प्रकट हो जाओ ओ नरसिंह/ .... प्रकृति भी जाग गई/ जंगल प्रांत भी मुस्कुरा रहे हैं/ तुम्हारी संतानें तुम्हारी आरती कर रहे हैं/ अब तो आ जाओ ओ नरसिंह...

यों आजकल भक्ति की बात करना या भक्ति कविता करना दकियानूसी और पिछड़ा समझा जाने लगा है। ईश्वर पर सवाल उठाना आधुनिकता और प्रगतिशीलता का प्रतीक बन गया है, लेकिन आज भी पूर्वोत्तर के राज्यों में भक्ति की बहुत मजबूत परंपरा देखी जा सकती है। त्रिपुरा को भी हम इसी क्रम में देख रहे हैं जहाँ बाबा गॉरिया नामक लोक देवता की पूजा, भक्ति, श्रद्धा आदि में गाए जाने वाले गीत आधुनिक काल में भक्ति कविता/गीत का अनूठा और विरल उदाहरण है। सुवारी[8] और बगला[9] द्वारा गाए जाने वाले यह गीत जहाँ जमातिया जनजाति की सभ्यता की कहानी, सामाजिक संरचना, रहन–सहन, खान–पान, पहनावा आदि को बताते हैं, वहीं उनके रीति–रिवाज, सांस्कृतिक उत्थान, जीवन मूल्यों को भी उजागर करते हैं। बाबा की अभ्यर्थना में गाए जाने वाले गीत की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

ढोल–नगाड़ों से धरती को कँपाते हुए/ अपने आने की पद–ध्वनि चारों ओर गुँजाते हुए/ हर ओर बस अपने आने की ध्वनि करते हुए/ बादलों को बगला[10] बनाते हुए/ पहाड़ों–पर्वतों में प्राण फूँकते हुए/ आप पधारे हैं बाबा/ ...आसमान से धरती तक खूबसूरती/ चारों ओर सुहानी छटा आप लाए हो/ युवा बादलों को बेसुध बनाते हुए/ स्वर्ण–किरणों की बारिश करते हुए/ आप पधारे हैं बाबा...

भारत में जहाँ भी सगुण देवी–देवताओं यथा राम, कृष्ण, हनुमान, काली, शिव की मान्यता है, वहाँ उनके मंदिर बनाए गए, उनकी मूर्तियों की स्थापना की गई। अगर किसी भक्त को उनकी पूजा करनी है तो उसे उस मंदिर में जाना पड़ता है या फिर घर में किसी स्थान विशेष में मंदिर आदि बनाकर उसकी पूजा करनी होती है यानी भक्तों को भगवान के पास जाकर उनकी आराधना करनी होती है, लेकिन बाबा गॉरिया की कोई मूर्ति, कोई मंदिर मौजूद नहीं है। उन्हें हर साल बाँस से बनाया जाता है। वे हर साल महा बुइसू के अगले दिन से सेना तक यानी प्रथम बैशाख से अगले छह दिनों में अपने भक्तों के घर–घर ले जाए जाते हैं। किसी भगवान का अपने भक्तों के पास जाने का यह अनोखा उदाहरण है। इन दिनों प्रत्येक जमातिया शारीरिक एवं मानसिक शुद्धता के साथ बाबा गॉरिया का अपने घर में आने का इंतजार करता है। उनके स्वागत की तैयारी करता है। इस दौरान श्रद्धानत भक्तगण केवल और केवल बाबा की अपरंपार महिमा का ही गान

करते हैं। बाबा के ग्राम परिक्रमा के समय गाए जाने वाले गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

हमारे बाबा गारिया कमर पर हाथ रखकर / हमसे मिलने आए हैं/ अपनी संतानों का हाल जानने आए हैं/ साल में एक बार बुइसू और सेना के दिन/ अपनी संतानों को गोद में समेट कर/ जब बाबा मुस्कुराते हैं वह तस्वीर दुनिया की सबसे सुंदर लगती है, हायूङ[11] के बुबाग्रा[12] / हमारे बाबा गारिया...

सामान्यतः बाबा गॉरिया के गीतों में किसी भक्त द्‌वारा परलोक सुधारने की आकाँक्षा व्यक्त नहीं की जाती है बल्कि बाबा को प्रसन्न कर इहलोक को बेहतर बनाने का भाव व्यक्त किया जाता है। गॉरिया भक्त बाबा को समर्पित अपने गीतों में वर्तमान को अतीत के अनुरूप बनाने की माँग नहीं करते वरन् वर्तमान को वह जैसा है, उसे और बेहतर बनाने की माँग करते हैं। उदाहरण के लिए गीत की कुछ पंक्तियाँ आपके सामने प्रस्तुत है—

....आमाय पृथ्वी[13] को बनाने के लिए/ सुवारियों को साथ में लेकर/ स्वयं बाबा को आना पड़ा/ नागदेवी को भी वासुकि का नाम लेकर/ इस धरती पर आना पड़ा/ स्वर्ग की अप्सराओं को भी/ अचाई—दुङदुङखि[14] को लेकर/ धरती पर आना पड़ा/ डाकिनी—जोगिनियों का नाम लेकर/ जगत के मालिक को आना पड़ा.....

इन गीतों की एक सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनमें आत्माभिव्यक्ति का मुखर स्वर है। गॉरिया गीत गाने वाले सुवारि/भक्त अधिक पढ़े—लिखे नहीं होते हैं। न ही इन्होंने कहीं से संगीत और शास्त्र की औपचारिक शिक्षा ली है। न ही सुरों का आरोह—अवरोह सीखा है। अगर इनके पास कुछ है तो बाबा गॉरिया के प्रति भावना से भरा हुआ हिलोरें मारता मन। यही मन है जो इन सुवारियों/भक्तों के मुख से लोकवाद्‌यों की धुनों और थापों के साथ ऐसे सुरमयी, छंदमयी, रागमयी गीत निकलते हैं कि गाने वाले ही नहीं, सुनने वाला भी विभोर हो उठता है। यहाँ न कोई शास्त्र है ना किसी सत्ता का आतंक अगर है तो सिर्फ प्रेम और बाबा गॉरिया के प्रति श्रद्‌धा से नत सर। जहाँ सारे भक्त एकाभाव से अपने ईष्ट देव बाबा गॉरिया को पुकार उठते हैं—

ओ त्रिपुर मुरारी त्रिलोचन राजा/ बाबा गारिया, तुम्ही सुबराई हो/ तुम्ही शिब, गौरहरि,/ तुम्ही जगत के गुरु हो/ बाबा बाबा बाबा गारिया/ ... तुम्ही स्वर्ग, तुम्ही धरती, तुम्ही आकाश, तुम्ही पाताल/ तुम्ही त्रिलोकी, तुम्ही त्रिभुवन,/ ये सब तुम्हारे ही तो रूप हैं/ ओ बाबा गारिया राजा...

बाबा गॉरिया के भक्त जहाँ बाबा की अपरंपार रूप—लीला के गीत दिन—रात गाते हैं। वहीं वे भक्ति में मग्न होकर कभी बाबा को खिलाते हैं तो कभी उन्हें सुलाते हैं, कभी उन्हें जगाते हैं। इन वात्सल्य गीतों में सूरदास और तुलसीदास के वात्सल्य वर्णन की तरह बाबा गॉरिया के बालरूप का चित्रण है—

सांजा कतर[15] चली गई है/ रात भी गहराने लगी है/ अब तो सो जाओ ओ नरसिंहयई/ ... ओ मेरे सोने जैसे लाड़ले/ तुम सबसे अलग हो समझदार हो/ तुम तो अच्छे बच्चे हो/ अब सोने ही वाले हैं मेरे नरसिंह...

बाबा गॉरिया के गीतों के कई रूप और स्तर हैं। जिसमें प्रार्थना, विनय और लीला के गीत ज्यादा हैं। प्रार्थना या विनय गीतों में बुइसू यानी प्रथम वैशाख के दिन बाबा गॉरिया को भक्तों के बीच धरती पर बुलाए जाने का आह्वान मिलता है। उनसे आने की दीनतापूर्वक विनय की जाती है, तरह—तरह से उनके धरती पर प्रकट होने की प्रार्थनाएँ की जाती हैं। प्रेमानंद में बाबा के आने से भक्तों में उपजा आनंद और प्रेम के भाव का गान है तो उपदेश गीतों में भक्तों को बाबा गॉरिया की शिक्षाएँ हैं, जिसके लिए भक्तगण बाबा से ही प्रार्थना करते हैं— ओ बाबा गॉरिया! हमारी रीति—नीति को बिसराने मत देना, हे साथियों

आओ! आ जाओ! भगवान, शैतान, नद, नदी, नाले, आकाश एवं समुद्र देवता, लाम्प्रा सभी को हम पूजते हैं, हमारी रीति–नीति को भूल मत जाना, हे साथियों, भूल मत जाना...। उनमें बेहतर जीवन–व्यवहार तथा बाबा से प्रेम करने के तरीकों का वर्णन है। लीला संबंधी गीतों में बाबा की महिमा एवं अपार रूप की चर्चा की जाती है। विरह गीतों में सेना[16] के दिन उनके जाने से उपजे वियोग का करुणाजन्य चित्रण है। विरह गीत की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है– ***हमें इस धरती पर जन्म देकर/ हमें दुःख–दर्द देकर/ हमारी पीड़ा जानकर भी/ अंजान कैसे रह पा रहे हो/ हमारी हालत कैसे देख पा रहे हो/ ओ बाबा गारिया...***

बाबा गॉरिया के गीतों में बगला[17] गीतों का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें भी सुवारि गीतों जैसे तत्व मिलते हैं, इसके अलावा इसमें मनोरंजन, छेड़छाड़ एवं हल्की अश्लीलता का पुट भी मिलता है। जिसकी अपनी वजह और जरूरत है तो दूसरी ओर इन गीतों में जमातिया का इतिहास, उसकी संस्कृति और रीति–रिवाजों का खुबसूरत चित्रण मिलता है। यही कारण है कि बगला को इस समाज में विशेष सम्मान प्राप्त है। इन्हें बाबा गॉरिया के पूजा के दिनों में बाबा की सखी, सखा, भक्त, सुरक्षाकर्मी आदि कई नामों से संबोधित किया जाता है। यह स्थाई और अस्थाई दोनों तरह के होते हैं। स्थाई बगला उन्हें कहा जाता है, जिन्होंने बाबा के नाम से अपने जीवन को समर्पित कर दिया हो। अस्थाई बगला उन लोगों को कहा जाता है, जो अपने दुःख, कष्ट आदि को दूर करने के लिए बाबा की शरण में आते हैं और मुराद पूरी होने के बाद सांसारिक जीवन में लौट जाते हैं। एक तरह से यह बाबा गॉरिया के स्वयं सेवक होते हैं। बगलाओं द्वारा गाए जाने वाले गीतों का उदाहरण प्रस्तुत है–

...देखो–देखो हमारी लक्ष्मी भाभियों के मुँह/ माखुमाई[18] की तरह फैले हैं/ देखो देखो हमारे जीजाओं को देखो/ उनके पाँव में एक घुँघरू ऐसे लटका है/ कि अब गिरा तो अब गिरा/ गालों पर खाज लिए हुए/ जाने किस पर नजर मार रहे हैं/ बाबा गारिया सुबराई राजा....

बाबा गॉरिया के गीत भक्ति की ऐसी लोकधारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले के लिए वेद, पुराण, स्मृति, शास्त्र, चारों धाम, काबा–मदीना, सब बाबा में ही दिखता है। गॉरिया भक्त अपने बाबा के अलावा कहीं जाने की जरूरत ही महसूस नहीं करता। वे स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं कि नए साल में बुइसू और सेना के बीच, इस संसार में धरती माँ के ऊपर, जो तैंतीस कोटि देवी–देवता हैं, उनकी पूजा हमारे लिए निषिद्ध है, ओ बाबा तुम्हारी महिमा को हम नहीं जानते, तुम्हारी महिमा हम गा भी नहीं सकते, इस धरती पर सुबराई राजा का धर्म, उनकी परंपराएँ अचाई का 'आ हिङयादो[19]' देखो आज भी मौजूद हैं..।

किसी भी समाज के विकास की मूल आधारशिला भाषा है। इस दृष्टि से जमातिया जनजाति के लिए बाबा गॉरिया के गीत अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इन गीतों की भाषा जनसामान्य के जीवन व्यवहार की भाषा है। यहाँ लोक और शास्त्र की भाषा में कोई अंतर नहीं मिलता। इन गीतों ने इस जनजाति के भावों, विचारों, अनुभव एवं आकाँक्षाओं को सुरक्षित रखा है। गीतों में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक, बिंब, रूपक आदि सभी लोक से लिए गए हैं, जैसे– ***बाबा गारिया के आते ही.../ भोर में पक्षी हमको जगाने के लिए/ चहचहाने लगे/ नया साल आते ही कूयल भी कूकने लगी/ कुंकक पक्षी भी कुंकक –कुंकक करने लगा/ खेलांग फूल भी खिल गया/ पहाडी लँगूर भी हुते–हुते बोलने लगा/ बाबा के स्वागत में/ ओ जादु....***

अंततः मैं यह कहना चाहूँगी कि बाबा गॉरिया को सोना–चाँदी, रुपए–पैसे नहीं चाहिए, उसे केवल केर[20], कोथार[21], कोबोई[22]

चाहिए। बाबा अपने नादान संतानों को गलत काम से रोकते हैं। नासमझों को सही रास्ता दिखाते हैं। पूर्वोत्तर के त्रिपुरा में पिछली चार सदियों से लेकर आज तक चली आ रही इस भक्तिधारा के प्रवाह को भक्ति आंदोलन के कथित मूलधारा से गहरे रूप में जोड़ने, देखने एवं अध्ययन करने की बेहद जरूरत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जतोनि सोकाङ बाबा गॉरिया, ननो चोङ खुलूं जावो, पाल खुलूं जावो, चोङ रोङयानो रोङरई रदि, चोङ सियानो सिरदि, नोङसि–नोङसि, निनि बादेई के कोरोई, जतोनि सोकाङ

2. वन देवता की पूजा

3. नदी की पूजा

4. त्रिपुरा के उदयपुर में स्थित त्रिपुर सुंदरी शक्तिपीठ हिंदू धर्म में प्रसिद्ध इक्यावन शक्तिपीठों में से एक है।

5. त्रिपुरा सुंदरी के बगल में स्थित शिव–मंदिर

6. गाँव–सुरक्षा हेतु की जाने वाली पूजा

7. ढोल बजाने वाला

8. वे भक्त, जो केवल बाबा की महिमा का गान करते हैं।

9. वे भक्त जो बाबा की महिमा गान के साथ–साथ लोक रंजन के गीत भी गाते हैं।

10. गॉरिया बाबा की भक्ति से सुध–बुध खो बैठा भक्त।

11. ब्रह्मांड

12. राजा

13. पापी संसार

14. गॉरिया देवता के पुजारी का नाम

15. शाम छह–सात के मध्य का समय

16. बाबा की पूजा का अंतिम दिन

17. गृहस्थ साधु

18. माखुमाई, चूई की प्रजाति का एक जानवर होता है,

19. मंत्रोच्चार के लिए प्रयुक्त विशेष उच्चारण

20. पूजा कर पवित्र की गई धरती/ साधना /सुंदर

21. शुद्धता/पवित्रता

22. सत्य

– चांदमारी, आईएलएस हॉस्पिटल के पास, अगरतला, त्रिपुरा–799006

❑❑❑

पूर्वोत्तर राज्यों में प्रांतीय भाषाओं के विकास में हिंदी की भूमिका

प्रो. विनीता कुमारी

भाषा का देश के चिंतन और उसकी भावात्मक वृत्ति से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहता है। भाषा मनुष्य के सपनों, कलाओं और अंतर्संबंधों का सेतु है। सृष्टि के अन्य घटकों की तुलना में मनुष्य को विशिष्ट बनाने में भाषा एक महत्वपूर्ण कारक है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "किसी राष्ट्र के विधायक तत्वों (भूमि, वहाँ के वासी, संप्रभुता और भाषा) में भाषा की महती भूमिका है। उसके बिना राष्ट्र न वाणी पा सकता है, न जन–जन को जोड़कर उसे राष्ट्र ही बनाया जा सकता है। इस कठोर सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता ऐसे तत्व हैं, जो मानव–जाति को परस्पर मिलाने वाले भी हैं और विलगाते भी हैं।" भाषा हमारी राष्ट्रीय अस्मिता है। जातीय स्वाभिमान की उद्वाहिका है।

भाषा केवल संप्रेषण ही नहीं करती, चरित्र का उद्घाटन भी करती है। मात्र व्यक्ति के चरित्र को ही नहीं, पूरे राष्ट्र के चरित्र को उजागर करती है, समाज को जोड़ती ही नहीं है अपितु समाज को धारण भी करती है। भाषाई विविधता की दृष्टि से भारत विशाल बहुभाषी देश है। भारतीयता का बोध राष्ट्रीय एकता की मजबूती की आधारशिला है, सांस्कृतिक एकता का सबसे प्रबल माध्यम है। भारत जैसे बहुभाषी देश में यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसी भाषा हो जिसमें सारा देश संवाद स्थापित कर सके। राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र–निर्माण तभी संभव है जब बृहत्तर समाज से प्रत्येक व्यक्ति संपर्क कर सके। भारत जैसे विशाल, बहुभाषिक समाज से सतत संवाद जरूरी है। देश की समस्याओं से देश की जनता को परिचित कराना भी जरूरी है। इन दिनों प्रादेशिक भाषाएँ पूरी ईमानदारी से इस भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। इन प्रादेशिक भाषाओं से संपर्क हेतु भी किसी एक भाषा की आवश्यकता है। किसी समय अंग्रेजी ने यह भूमिका अदा की है, आज भी कर रही है परंतु बहुजन से जुड़ने के लिए हिंदी यह भूमिका निभाने में सक्षम है।

हिंदी प्रारंभ से ही हमारी राष्ट्रीयता के विभावन से मौलिक रूप में संबद्ध रही है। भारतीयता एवं राष्ट्रीय संवेदना को जगाने में इसकी अहम भूमिका रही है। भाषा, साहित्य और संस्कृति सर्वतः एकांतिक कभी नहीं हो सकते। विश्व में ऐसी कोई भाषा नहीं होगी जिस पर किसी न किसी रूप में दूसरी भाषाओं का प्रभाव न पड़ा हो। हिंदी भी इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। उस पर समय–समय पर देशी–विदेशी अनेक भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। हिंदी न केवल भारत की राष्ट्रभाषा है अपितु वह भारत की सांस्कृतिक–राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की प्राणधारा है। सबको एक सूत्र में जोड़ने और पारस्परिक संवाद को स्थापित करने का सेतु है। भाषाई उदारता और समरसता की जीवंत शक्ति जितनी हिंदी में है, उतनी किसी अन्य भाषा में नहीं इसलिए भारतीयों में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी ही है।

भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में हिंदी एवं जनजातीय भाषाओं की स्थिति

असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, मिजोरम, त्रिपुरा और सिक्किम– ये आठ राज्य पूर्वोत्तर भारत

कहलाते हैं। पूर्वोत्तर भारत चीन, म्यांमार, बांग्लादेश, भूटान और नेपाल से घिरा हुआ है। मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य, अनगिनत नदियाँ, नीली पर्वतमालाएँ और विभिन्न जनजातियाँ पूर्वोत्तर भारत की पहचान है। पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली अट्ठानवे प्रतिशत भाषाएँ अल्पसंख्यक जनजातीय भाषाएँ हैं, जो मौखिक रूप से विद्यमान हैं। उनकी लिपि नहीं है। कुछ भाषाएँ तो लिपि न होने के कारण लुप्तप्रायः हो गई हैं। पूर्वोत्तर राज्यों की असमिया, बांग्ला, बोडो, मणिपुरी, नेपाली भाषाओं को संविधान में स्वीकृति प्राप्त हुई है। पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों ने भारतीय समाज की सही भाषा नीति न रहने के कारण ही अपनी बोलियों के लिए भारतीय लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को अपना लिया। केवल बोडो ने अब देवनागरी लिपि को अपनाया। नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश तथा सिक्किम में दूसरी संपर्क भाषा के रूप में हिंदी विकसित हो चुकी है। पूर्वोत्तर भारत की कोई भी जनजातीय भाषा भारतीय आर्य परिवार की नहीं है। सभी जनजातीय भाषाएँ तिब्बत–चीनी –बर्मी परिवार एवं आस्ट्रिक परिवार से संबंधित हैं।

पूर्वोत्तर राज्यों का साहित्य विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों में होने के कारण सीमित रह गया। इन जनजातीय बोलियों में समृद्ध लोक साहित्य विद्यमान है, जो उनकी सांस्कृतिक समृद्धि का परिचायक है। यह लोक साहित्य भी विविध रूपों में है जैसे सुधार संबंधी, सामाजिक आचार–व्यवहार से संबंधित, नीति संबंधी, संस्कृति और विश्वास से संबंधित, धर्म एवं भक्तिपरक लोक साहित्य, प्रकृति एवं पर्यावरणपरक साहित्य, मूर्ति एवं चित्रकला से संबंधित, दानव संस्कृति से संबंधित आदि। पूर्वोत्तर राज्यों की प्रांतीय भाषाओं में प्रचुर और उत्कृष्ट साहित्य विद्यमान है। इस साहित्य के माध्यम से हम भारतीय साहित्य की मूल चेतना को जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। यह अलग बात है कि इस क्षेत्र के साहित्य का अपना चेहरा है, अपनी अभिव्यक्ति है और अपनी विशेषता है। पर इस विविधता के मध्य भी एकतानता का सुदृढ़ धागा बँधा हुआ है। परंतु यह बहुत बड़ी विडंबना कही जा सकती है कि इतना समृद्ध साहित्य होते हुए भी उसकी पहचान पूर्वोत्तर राज्यों तक ही सीमित है और यह साहित्य देश के अन्य भागों तक भाषिक व्याघात के कारण नहीं पहुँच पाया। इसी प्रकार से हिंदी भाषा में जो उत्कृष्ट साहित्य रचा गया है, पूर्वोत्तर राज्य उससे लाभान्वित नहीं हो पाते।

हिंदी के विकास में पूर्वोत्तर की भाषाओं का योगदान

असम में हिंदी का प्रचार–प्रसार तो सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण से ही माना जा सकता है। हिंदी साहित्य का आरंभ सिद्ध साहित्य से माना जाता है। सिद्ध सरहपा कामरूप जिले (असम) के अंतर्गत रानी गाँव के निवासी थे। उनकी रचनाओं में प्राकृताभास हिंदी के रूप मिलते हैं। सरहपा के अतिरिक्त लुइपा, कारूपा, कुक्कुरिपा, तांतिपा आदि सिद्धाचार्य असम के ही थे। इन सिद्धाचार्यों ने केवल भाषा और साहित्य को ही नहीं बल्कि तत्कालीन समाज, संस्कृति एवं धर्म को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया था। हिंदी साहित्य का आरंभ करने वाले सिद्ध और नाथपंथी समस्त भारत में घूम–घूमकर आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक राष्ट्रीय एकता का प्रचार करते रहे। उन्होंने एक ऐसी भाषा तैयार की, जिसमें भारत की सभी भाषाओं के बहुप्रचलित शब्दों के प्रवेश का द्वार खुला था। इन्हीं सिद्धों और नाथपंथियों के प्रयास से उस भाषा का विकास हुआ, जिसे आज हम हिंदी कहते हैं।

असम के ही महापुरुष शंकरदेव ने भी 15वीं शताब्दी में असम को शेष भारत से सांस्कृतिक रूप से जोड़ने के लिए अपनी रचनाएँ 'ब्रजबुलि' भाषा में रची। यह ब्रजबुलि

भाषा बांग्ला, मैथिली, ब्रज एवं असमिया के मिश्रण से बनी हुई थी। शंकरदेव के शिष्य माधवदेव, गोपालदेव, रामचरण ठाकुर, दैत्यारि ठाकुर, रामानंद द्विज, हरिकांत आदि ऐसे असम के साहित्यकार हुए जिन्होंने ब्रजबुलि में काव्य सृजन किया। असमिया छोड़कर ब्रजबुलि अपनाने के पीछे मुख्य उद्देश्य था अपने विचारों को असम के बाहर प्रसारित करना। इसके साथ ही इन्होंने ब्रज में रचना कर अपने राष्ट्रप्रेम एवं भाषाई एकता का परिचय दिया।

असम में हिंदी को अनिवार्य और ऐच्छिक विषय के रूप में अध्ययन–अध्यापन कराने का श्रेय भुवनचंद गंगोई को जाता है, जिन्होंने 'असम पोलिटेकनिक इंस्टीट्यूशन' नाम का विद्यालय खोलकर उसमें हिंदी को अनिवार्य विषय के रूप में लागू किया। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के बरहज निवासी बाबा राधवदास और उनके साथियों के सत्प्रयासों से असम में हिंदी का खूब प्रचार–प्रसार हुआ। इन्होंने 'हिंदी प्रचार समिति' की स्थापना 1938 में असम में की। असम से तीन हिंदी दैनिक समाचार पत्र भी प्रकाशित हो रहे हैं– पूर्वांचल प्रहरी, सेंटिनल, पूर्वोदय खबर। इसके अतिरिक्त असम से मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं।

मणिपुर में भी हिंदी का प्रचार–प्रसार काफी हुआ है। पौराणिक युग से मणिपुर का शेष भारत से घनिष्ठ संबंध रहा है। रुक्मिणी मणिपुर की ही रहने वाली थी। द्वारिका से आकर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह किया था। मणिपुर में कृष्णभक्तिपरक गीतों की रचना अधिक हुई। काशी, मथुरा, वृंदावन आदि तीर्थों से मणिपुरी भाषा–भाषी जब मणिपुर लौट कर आते थे तो भक्तिभाव से भरकर ब्रजबुलि के माध्यम से कृष्ण भक्ति के गीत गाते थे। कृष्णभक्त मणिपुरी कवियों में मारजित, नरसिंह, चंद्रकीर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'मणिपुर का सनातन धर्म' पं. अतोम्बापू शर्मा की 1951 में प्रकाशित प्रथम हिंदी पुस्तक मानी जाती है, जो मणिपुर से प्रकाशित हुई। पद्मश्री से विभूषित कालाचाँद शास्त्री ने हिंदी में 'बभ्रुवाहन' नाटक लिखा, जो 'आर्यन' थियेटर में सन् 1952 में खेला गया। मणिपुर में सैकड़ों लेखक हिंदी में साहित्य–लेखन और अनुवाद–कार्य कर रहे हैं।

मेघालय की राजधानी शिलांग में 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' की स्थापना होने से हिंदी के प्रचार–प्रसार में पर्याप्त प्रगति हुई। मेघालय के विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में हिंदी का अध्ययन–अध्यापन पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। इसी प्रकार मिजोरम में भी हिंदी के प्रति आकर्षण बढ़ा है। और अनेक लेखक मिजो भाषा के साथ–साथ हिंदी में भी साहित्य–रचना करके मिजोरम में हिंदी के प्रति रुचि उत्पन्न करने में सक्रिय हैं। नागालैंड में तो स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् असमिया के साथ–साथ द्वितीय भाषा के रूप में विद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी गई। नागालैंड सरकार के विशेष आग्रह पर भारत सरकार की ओर से सन् 1969 में हिंदी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, दीमापुर की स्थापना हुई। अब नागालैंड के विद्यालयों में पाँचवीं से आठवीं कक्षा तक हिंदी तृतीय भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है।

अरुणाचल प्रदेश और सिक्किम में तो हिंदी का प्रचार–प्रसार द्रुतगति से हुआ। पर्यटन–स्थल होने के कारण हिंदी यहाँ संपर्क भाषा बन गई है। अरुणाचल प्रदेश से तो 'अरुण नगरी', 'अरुण ज्योति', 'आलोकारुण', 'अरुण प्रभा' आदि पत्रिकाएँ हिंदी में प्रकाशित होती हैं। सिक्किम में नेपाली से हिंदी में अनुवाद कार्य और स्वतंत्र हिंदी लेखन भी पर्याप्त मात्रा में हो रहा है।

पूर्वोत्तर भाषाओं के विकास में हिंदी की भूमिका

भारतीय समाज में प्रत्येक नागरिक को विश्व–समाज से जोड़ने के मिशन में हिंदी की भूमिका महत्वपूर्ण है। आज आवश्यकता है कि हम एक नए पूर्णतः विकसित तथा वैश्विक दौड़ में अद्यतन सिद्ध होने वाले भारत का निर्माण करें। अब समय आ गया है कि हिंदीतर भाषी प्रदेशों के साथ हिंदी भाषी प्रदेशों को नए सिरे से अपने संबंधों पर विचार–विमर्श करना चाहिए। वैश्वीकरण के इस युग में जब संपूर्ण विश्व सिमट आया है और विदेशी भाषाओं को सीखने और जानने की ललक लोगों में बढ़ रही है, भाषा संबंधी नए संसाधन उपलब्ध हो रहे हैं, तब भारतीय भाषाओं में परस्पर दूरी कम होनी चाहिए। स्वार्थी राजनीति, नौकरशाही तथा पूँजीवादी प्रवृत्ति के कारण ही हिंदी की अन्य भारतीय भाषाओं से मनमुटाव की स्थिति रही। हिंदी के स्थान पर मातृभाषा को प्रतिष्ठित करने के प्रलोभन में हिंदीतर प्रदेशों में आज तक न तो प्रांतीय भाषाएँ ही प्रतिष्ठित हुई और न ही अंग्रेजी की प्रमुखता और विस्तार में कमी आई। भाषाओं की इस बंदरबाट का लाभ अंग्रेजी को ही मिला है। हम स्वाधीन होकर विदेशी भाषा के सहारे अध्ययन–अध्यापन और विकास करना चाहते हैं तो यह हमारे दैन्य, गुलामी का ही दूसरा रूप है।

राष्ट्र में भावात्मक एवं सांस्कृतिक एकता तभी संभव है, जब पूरे राष्ट्र में भावों के आदान–प्रदान का कोई एक माध्यम हो। यह कार्य स्वदेशी भाषा ही कर सकती है। विभिन्न प्रांतों के साथ भावात्मक एकता का कार्य हिंदी ही कर सकती है। भारत की जनवाणी हिंदी समन्वय, एकता और अखंडता की भाषा है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी आदि कई भाषाओं के साथ मिलकर हिंदी भाषा ने विकास किया है। आधुनिक युग में भी सभी भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी के साथ इसने समन्वय करते हुए उनकी शब्दावली तथा अन्य विशेषताओं को अपनाया है। हिंदी भाषा की यह समन्वय प्रवृत्ति उसके साहित्य में भी पाई जाती है। हिंदी भाषा और उसका साहित्य दोनों ही राष्ट्रीय एकता के प्रतीक बन गए हैं। हिंदी साहित्य के विकास में किसी एक धर्म, जाति या संप्रदाय के रचनाकारों का ही योगदान नहीं रहा बल्कि सभी धर्मों, जातियों, संप्रदायों के रचनाकारों ने भी योगदान दिया। हिंदी का साहित्य किसी वर्ग या क्षेत्र का साहित्य न होकर समस्त राष्ट्र का साहित्य है। इसमें अभेद और एकता के स्वर गूँज रहे हैं। इन्हीं स्वरों के कारण हिंदी समस्त राष्ट्र की वाणी बनी। वह समता और अखंडता की भाषा के रूप में निरंतर विकसित होती रही है और आज भी हो रही है। हिंदी भाषा प्रांतीय भाषाओं से न केवल अपने शब्द–भंडार को परिवद्र्धित करती है अपितु उन भाषाओं की संस्कृति, उनके मुहावरों को भी अपनाती है। क्षेत्रीय भाषाओं से एक ओर जहाँ हिंदी का विकास होता है वहीं दूसरी ओर हिंदी से क्षेत्रीय भाषाओं की भी समृद्धि होती है, उनका विस्तार होता है। भाषा के माध्यम से पूर्वोत्तर राज्यों की संस्कृति संपूर्ण भारत में पहुँचती है।

भूमंडलीकरण के इस दौर में आज प्रश्न केवल राष्ट्रभाषा हिंदी की अस्मिता और सम्मान का नहीं है बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा का है। सभी भारतीय भाषाओं का अपना महत्व है, उनकी अपनी अस्मिता है। सभी भारतीय भाषाएँ, चाहे वे पूर्वोत्तर राज्यों की हों, या दक्षिण अथवा पश्चिमोत्तर भारत की, सभी समुन्नत हों, समृद्ध हों और राष्ट्रीय जीवन में गौरवपूर्ण सम्मान प्राप्त कर सकें, यह हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए हम सबको प्रयासरत एवं जागरूक रहने की आवश्यकता है। सभी भाषाओं में पारस्परिक समन्वय स्थापित करते हुए नए सिरे से एक वैचारिक क्रांति कैसे लाई

जा सकती है और गिलहरी के समान हम सब कैसे इस पावन यज्ञ में अपना–अपना योगदान देकर अपनी समिधा डाल सकते हैं, यह विचारणीय है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भाषा, साहित्य और संस्कृति, संपादक विमलेश कांति वर्मा, ओरिएंट ब्लैकस्वान

2. साहित्य का श्रेय और प्रेय, जैनेंद्र, 'हिंदी और हिंदुस्तान निबंध'

3. राष्ट्रीय एकता और भारतीय साहित्य, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, काशी अधिवेशन स्मृति न्यास

4. हिंदी की आत्मा, डॉ. धर्मवीर, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली

– 1543, औटरम लाइंस, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009

❑❑❑

पूर्वोत्तर में नव–प्रतिरोधी संस्कृति के प्रणेता हिजाम इरावत

दिनेश कुमार वर्मा

संस्कृति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जनसाधारण के कार्यकलाप की उपज है, जिसका सामाजिक–ऐतिहासिक व्यवहार की प्रक्रिया में मनुष्य द्वारा निर्माण किया गया या किया जाता है। एक गैर–बराबर समाज जहाँ एक तरफ उत्पीड़न करने वाला, और दूसरी तरफ उत्पीड़न सहने वाला समुदाय होता है मौजूदा समाज–व्यवस्था के द्वैत को दिखलाता है। उत्पीड़क समुदाय और उत्पीड़ित समुदाय दोनों की मूल्य–मान्यताएँ, रीति–रिवाज, जीवन–स्तर, रहन–सहन, खान–पान में भिन्नता को भौतिक रूप से स्पष्टतः चिह्नित किया जा सकता है। उत्पीड़न करने वाला यथास्थितिवादी होता है, उसे मौजूदा समाज समस्याग्रस्त नहीं लगता और वह इस व्यवस्था को शाश्वत रूप में बनाए रखने का प्रयत्न करता है, जबकि उत्पीड़न सहने वाला परिवर्तनकामी होता है। वह मुक्ति के लिए उत्पीड़कों से भिन्न अपनी एक अलग प्रतिरोधी संस्कृति–साहित्य, कला, रंगमंच, खेल, दर्शन का निर्माण करता है।

हिजाम इरावत पूर्वोत्तर में प्रतिरोध की संस्कृति के प्रणेता थे। उनका यह कार्य तत्कालीन राजशाही व औपनिवेशिक तानाशाही के उत्पीड़न से, उत्पीड़ितों की मुक्ति के लिए, वैकल्पिक जनसंस्कृति के निर्माण का कार्य था। हिजाम इरावत का जन्म आज से लगभग 125 वर्ष पूर्व, मणिपुर के हिजाम लेइकाई में 30 सितंबर, 1896 को हुआ था। पिता की असमय मृत्यु और बाद में माँ के निधन से इन्हें प्रारंभिक जीवन से ही आर्थिक परेशानियों व अनेक कठिनाइयों से संघर्ष करना पड़ा था। आर्थिक बदहाली के कारण 1915 में पढ़ाई छोड़नी पड़ी। लेकिन इरावत की बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर महाराज चुराचंद ने अपने बड़े भाई की बेटी से इनका विवाह कर दिया। महाराज ने इन्हें सदर पंचायत (मजिस्ट्रेट) के उच्च पद पर नियुक्त किया, परंतु बाद में इरावत ने सदर पद से इस्तीफा दे दिया।

हिजाम इरावत ने राजनीति, साहित्य, कला, रंगमंच, खेल आदि को जन प्रतिरोध और संघर्ष के माध्यम के रूप में स्थापित किया। उन्होंने सदर पंचायत की प्रशासनिक शक्तियों का इस्तेमाल अपने लाभार्थ नहीं, बल्कि जनता की समस्याओं को समझने और उनके निदान हेतु किया। उन्होंने मेइतेई, नागा, कुकी आदि जातियों; पहाड़ व घाटी के वासियों; और हिंदू–मुस्लिम व अन्य पंथों के आपसी मतभेदों को ख़त्म करने और इनके उत्पीड़ितों को एकता के एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इस दृष्टि से 'निखिल हिंदू मणिपुरी महासभा', जिसके अध्यक्ष महाराज चुराचंद थे, का नाम बदलकर 'निखिल मणिपुरी महासभा' (एनएमएम) कर दिया जाना, इरावत का उल्लेखनीय कदम था।

एनएमएम का चौथा सम्मेलन, मणिपुर के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। इस खुले सत्र में हिजाम इरावत ने पहाड़ियों और झीलों पर सार्वजनिक स्वामित्व, घाटों पर करों को हटाने, धान के लिए एक निश्चित मूल्य निर्धारित करने, और जमीन का स्वामित्व जोतने वाले किसानों को दिए जाने की माँग को उठाया। हालाँकि, इन सबसे ऊपर, मणिपुर राज दरबार को समाप्त करने और एक पूर्ण जिम्मेदार सरकार की स्थापना के लिए चुनावी

प्रणाली से विधान परिषद की स्थापना की माँग की। यह माँग सीधे–सीधे सामंती व्यवस्था की उत्पीड़क संस्कृति के विरोध में उत्पीड़ित जनों की नव प्रतिरोधी संस्कृति का उद्घोष था।

इरावत ने अध्यक्षीय भाषण में निम्नलिखित शब्दों में राज्य के भीतर सत्ता के सामंती स्वरूप को बदलने की आवश्यकता को रेखांकित किया– "मणिपुर राज्य अब दरबार सदस्यों के प्रशासन के अधीन है, जिनकी नियुक्ति महाराज द्वारा अपने व्यक्तिगत हित और वैवाहिक संबंधों के आधार पर की गई है। ये सदस्य जनता द्वारा नहीं चुने गए हैं और इसलिए वे आम लोगों के सुख और समृद्धि के बारे में कभी नहीं सोचेंगे। निर्वाचित सदस्य ही लोगों की इच्छाओं और जरूरतों को पूरा करेंगे। मैं सभी किसान भाइयों से नम्रतापूर्वक अपील करता हूँ कि मणिपुर के ये मनोनीत उच्च अधिकारी एक दिन आपके हाथों में पड़ जाएँगे, जब उनकी कुर्सियों के सजे हुए पैर अचानक टूट जाएँगे।" बाद के महीनों में, एनएमएम के अध्यक्ष के रूप में इरावत ने आम लोगों पर लगाए गए कई करों जैसे, यारेक संतरी (जबरन गार्ड ड्यूटी), अमीन चकथांग (भूमि पंजीकरण अधिकारियों के लिए जबरन आतिथ्य), पोथांग बेगार (जबरन ढुलाई), चंदन सेंखाई (तिलक चिह्न के लिए प्रभार), सेंखाई (मछली पकड़ने के जाल पर कर), और नपेट सेंखाई (गैर–मेइतेई नाइयों को अनिवार्य भुगतान) को समाप्त करने का प्रस्ताव दरबार के सामने रखा। एनएमएम के प्रस्ताव दरबार के अधिकार के लिए सीधे चुनौती थे, जिसके कारण दरबार ने यह घोषणा करते हुए, बयान दिया कि, चूँकि एनएमएम अब एक राजनीतिक संगठन बन चुका है, इसलिए किसी भी सरकारी कर्मचारी को इसमें शामिल होने या किसी भी तरह से सहायता करने की अनुमति नहीं है। वे सभी जो राज्य के कर्मचारी थे, केवल इरावत और एलंगबाम टोमपोक को छोड़कर, ने तुरंत एनएमएम की अपनी सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। इरावत ने, इसके विपरीत, सदर पंचायत के पद से इस्तीफा दे दिया और अपनी पत्नी की सारी जमीन–जायदाद को भी वापस कर दिया। अपने इस कार्य से इरावत ने पूर्वोत्तर और खासकर मणिपुर के उत्पीड़ितों के बीच संघर्ष की एक नई संस्कृति को स्थापित करने का काम किया।

इरावत सामाजिक और आर्थिक अन्याय के खिलाफ थे। ब्राह्मणों की एक परिषद जिसे 'ब्राह्मण सभा' के नाम से जाना जाता है, धर्म के नाम पर लोगों पर अत्याचार करती थी। राजा, ब्राह्मण सभा और रतन तीनों किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह, गाँव को बहिष्कृत कर सकते थे और उन्हें मँगबा (प्रदूषित/असुरक्षित) घोषित कर सकते थे। इस प्रकार घोषित व्यक्ति अछूत, बहिष्कार और अंत में सामाजिक रूप से बहिष्कृत हो जाते थे। हालाँकि, लोगों को बहिष्कृत करने की यह प्रथा, अम्मंग–असेंग ऐसी थी कि जिन्हें प्रदूषित घोषित किया गया था, वे पैसे के भुगतान से पवित्र हो सकते थे। वास्तव में महाराजा की अध्यक्षता वाली एक मजबूत धार्मिक संस्था ब्रह्म सभा की सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ लड़ना इरावत के लिए एक बड़ी चुनौती थी। इसी तरह इरावत ने 1939 में चावल के गंभीर संकट से उठ खड़े हुए द्वितीय 'नुपी लान' (महिला युद्ध) का समर्थन किया और संघर्षरत लोगों को संबोधित करते हुए कहा, "हमने चावल के लिए भीख माँगी और बदले में हमें बंदूक के बट से केवल संगीन घाव मिले। एक मुट्ठी चावल के लिए हमने दो मुट्ठी खून दिया।" 'नुपी लान' के विद्रोह के उपरांत इरावत समाज सुधारक की भूमिका से एक क्रांतिकारी युग–प्रवर्तक नेता के रूप में उभरे। विभिन्न अंग्रेजी रियासतों में चल रहे जन–आंदोलनों और शोषितों–उत्पीड़ितों के प्रति गहरे जुड़ाव के कारण इरावत ने समाज–सुधार की अपेक्षा, व्यवस्था

परिवर्तन के जन–आंदोलनों को तेज किया, और जन प्रतिरोधी संस्कृति के प्रणेता के तौर पर अपनी छवि का निर्माण किया।

'नुपी लान' आंदोलन में शामिल होने के कारण राजद्रोह के आरोप में इन्हें तीन वर्षों के लिए जेल में डाल दिया गया। जेल से छूटने के बाद, उन्हें अप्रैल 1946 तक मणिपुर में आने की अनुमति नहीं दी गई। उन पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए, उन्हें कम्युनिस्ट होने के कारण प्रताड़ित किया गया, लेकिन इरावत ने उत्पीड़नकारी राज–व्यवस्था के दमन और शोषण के खिलाफ, उत्पीड़ितों के संघर्षों को विविध संगठनों की स्थापना के सहारे (कृषक सभा, प्रजा मंडल, प्रजा सम्मलेन, महिला सम्मलेन, यूथ लीग आदि) अंत तक अनवरत जारी रखा।

हिजाम इरावत ने पत्रकारिता, साहित्य को प्रतिरोध का औजार बनाया। मणिपुर में अपनी तरह की पहली पत्रिका मीतेई चानू (1922) नामक एक हस्त–लिखित पत्रिका शुरू की, जिसके बाद अन्य पत्रिकाओं जैसे 'अनौबा जुग' के संस्थापक व संपादक भी रहे। उनका पहला उपन्यास, 'मुहिनी' 1931 से 'याकैरोल' पत्रिका में क्रमबद्ध छपा और इसी तरह महान स्वतंत्रता सेनानी लोकमान्य तिलक की जीवनी, अक्तूबर 1931 से 'ललित मनुरी' पत्रिका में प्रकाशित हुई। उन्होंने 'गोमती' नामक एक नाटक भी लिखा और बंकिमचंद्र के उपन्यास 'कृष्णा कांतेर' का मणिपुरी में अनुवाद किया। वह 'मणिपुर साहित्य परिषद' के संस्थापक व महासचिव भी रहे। उन्होंने सिलहट जेल में कुछ कविताएँ लिखीं, जो देशभक्ति के जोश से भरी और आधुनिकतावादी लय से भरी हुई थीं। यह कविताएँ 'इमागी–पूजा' (माँ की पूजा) शीर्षक के तहत प्रकाशित हुई थीं। 'इमागी–पूजा' और '12 दिसंबर' मणिपुरी साहित्य की प्रसिद्ध कविताओं में से है। दरअसल, उनका लेखक साहित्य को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाए जाने का विरोधी रहा; वह साहित्य को जन–प्रतिरोध की आवाज उठाने का एक जिम्मेदार और सशक्त माध्यम मानते थे। उनकी '12 दिसंबर' कविता जो द्वितीय 'नुपी लान' के विद्रोह की याद में महिलाओं को समर्पित कविता है, विशेष उल्लेखनीय है। इसी तरह कछार में उन्होंने 'स्वदेश गनेर दल' की स्थापना की, जिसे बाद में उन्होंने इप्टा में निगमित कर दिया।

इरावत ने आधुनिक मणिपुरी रंगमंच में एक कलाकार के रूप में पुरुष और महिला दोनों भूमिकाओं में भागीदारी निभाई। उन्होंने प्रारंभिक काल (1915–20) के दौरान बंगाली नाटकों में अभिनय किया, और मणिपुरी नरसिंह (1925) में अपने पहले ऐतिहासिक नाटक में कुमुद की भूमिका निभाई। नाट्याभिनय के दौरान उन्होंने राजा की पोशाक पहनकर नाटक करने का जोखिम उठाया। तत्कालीन समाज में राजा की पोशाक पहनना प्रतिबंधित था और अपराध की श्रेणी में था, लेकिन इरावत ने ऐसा करके दरबार को चुनौती देने का काम किया। वे नाट्य आंदोलन से गहराई से जुड़े हुए थे। उन्होंने मणिपुर में 'मणिपुर ड्रामेटिक यूनियन' (एमडीयू, 1931 में) को स्थापित किया और 'दो हलों' को प्रतीक चिह्न के रूप में अपनाया। एस. ललित सिंह के सामाजिक नाटक 'अरेप्पा मारुप' में चंद्र सिंह की उनकी भूमिका यादगार थी। उन्होंने नाटक के मणिपुरी संस्करण 'देबाला देवी' में बलदेव की भूमिका निभाई। आधुनिक मणिपुरी रंगमंच में उनका योगदान वास्तव में बहुत बड़ा है। इसके साथ ही उन्होंने 'सत–जल', मणिपुरी मार्शल आर्ट को प्रोत्साहित किया। उन्होंने हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट, टेनिस और बैडमिंटन खेला; और वह 'मणिपुर स्पोर्ट्स एसोसिएशन' और 'इंफाल टाउन क्लब' जो आज भी मणिपुर का प्रमुख स्पोर्ट्स क्लब है, के संस्थापक सदस्य थे। उन्होंने ब्राह्मणवादी संस्कृति और ब्राह्मणों के विरोध में विभिन्न ब्राह्मणवादी त्योहारों के दिन

सामूहिक बंधुत्व के उद्देश्य से आधुनिक त्योहारों की वैकल्पिक व्यवस्था को स्थापित किया। होली और रक्षाबंधन के दिनों को उन्होंने खेल–महोत्सव के तौर पर मनाना शुरू किया; और आज भी इन त्योहारों के दिन पूर्वोत्तर और खासकर मणिपुर में विभिन्न खेल स्पर्धाएँ आयोजित की जाती हैं।

निस्संदेह, हिजाम इरावत ने राजशाही और औपनिवेशिक तानाशाही के खिलाफ सच्चे योद्धा की तरह लड़ते हुए, उत्पीड़ितों के बीच नव प्रतिरोधी संस्कृति के बीज को बोने का काम किया। उन्होंने अपने सुंदर स्वप्न 'बराबरी आधारित शोषण मुक्त समाज' की उद्देश्य–पूर्ति के लिए साहित्य, कला, रंगमंच, यहाँ तक कि खेल को भी जन प्रतिरोध का औजार बनाया। उनकी यह विशेषता ही उन्हें हिजाम इरावत से 'जननेता हिजाम इरावत' बनाती है; और आज पूरे पूर्वोत्तर के जनसाधारण व क्रांतिकारियों के बीच हिजाम इरावत को वही सम्मान प्राप्त है, जो भारत के जनसाधारण व क्रांतिकारियों के बीच शहीद–ए–आजम भगत सिंह को प्राप्त है।

– मकान संख्या सी–214/4, नजदीक एम.एस. पब्लिक स्कूल, लक्ष्मी पार्क,
नांगलोई, दिल्ली–110041

❑❑❑

त्रिपुरा की जनजातीय भाषा कॉकबरक का विकास और लिपि का द्वंद्व

मुनींद्र मिश्र

भारत की विशेषता उसकी सांस्कृतिक बहुलता है। भारत की यह बहुलता विस्तार पाती है, भारत की विभिन्न जनजातियों से। भारत का जनजातीय समाज यहाँ की संस्कृति को विशिष्टता प्रदान करता है। भारत में जनजातियों की संख्या अनगिनत है, इसलिए इनकी विविधता भी बहुत अधिक है। इस विविधता पर समय के साथ दूसरी संस्कृतियों की छाया पड़ी और इनका वैशिष्ट्य प्रभावित हुआ। जब हम जनजातियों की बात करते हैं तो प्रश्न उठता है कि हम जनजातियाँ किसे कहेगे? 'जनजाति' शब्द परिभाषित करने में मानवविज्ञानी एकमत नहीं है। भारतीय नृविज्ञानी धीरेंद्र नाथ मजुमदार के अनुसार– "जनजाति परिवारों या परिवार समूहों के समुदाय का नाम है। इन परिवारों या परिवार समूहों का एक नाम होता है, ये एक ही भू–भाग में निवास करते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं, विवाह, उद्योग धंधों में एक ही बातों को मानते हैं। एक दूसरे के साथ व्यवहार के संबंध में भी उन्होंने अपने पुराने अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित नियम बना लिए होते हैं।" वैसे जनजातियों को परिभाषित करते हैं उसकी संस्कृति से तथापि अकेली संस्कृति ही जनजातियों का निर्धारण नहीं करती। सामान्य रूप से देखा गया है कि एक स्थान पर रहने वाली जनजातियों की संस्कृति में एकरूपता नज़र आती है। प्रायः मुख्यधारा की सभ्यता से पृथक रूप से निवास करने वाला समुदाय जनजातियाँ कहलाती हैं। समुदाय में लोगों की शारीरिक एवं भाषाई विशेषताएँ जनांकिकीय आकार, पारस्थितिकीय अवस्थाएँ, सांस्कृतिक विश्वास एवं परंपराएँ इन समुदायों में मुख्य धारा से अलग प्रदर्शित होती हैं।

जब हम जनजातीय भाषा की बात करते हैं तो जनजातीय समाज द्वारा व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा की बात करते हैं। भाषा जीवन का अनिवार्य अंश है। भाषा शब्द भाष् धातु से बना है। जिसका अर्थ बोलना या कहना है। भाषा मानव मुख से निकली वह सार्थक ध्वनियाँ हैं, जिसके माध्यम से विचारों का आदान–प्रदान किया जा सकता है। भाषा प्रजातीय पहचान स्थापित करने का मुख्य कारक है। यह समूह चेतना एवं एकता का महत्वपूर्ण प्रतीक है। भारत की प्रत्येक भाषा संपर्क एवं विचारों के आदान–प्रदान से दूसरी भाषा के विकास में सहायक होनी चाहिए। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, "भाषा शब्दों का समूह/गुच्छ है जो ध्वनियों के द्वारा उत्पन्न, वाच्य यंत्रों से उच्चरित, किसी सुनिश्चित समुदाय में प्रयुक्त, स्वतंत्र रूप से स्थित अथवा वाक्यों के रूप में प्रयुक्त तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।"

भारत की बहुभाषिकता अपने आप में जहाँ गौरव की बात है, वहीं वह बड़ी समस्या भी खड़ी करती है। बहुभाषिकता के मध्य अपनी स्थिति को निर्धारित करना अत्यंत कठिन है। जैसा कि अल्पसंख्यंक भाषाएँ अपने सांस्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षमता में बहुत सक्षम नहीं होती है, इस कारण इन्हें अन्य प्रभावी भाषाओं की स्थिति जैसा सम्मान नहीं प्राप्त होता। जनजातीय समाज प्रायः एकभाषी या द्विभाषी होता है जहाँ इन्हें क्षेत्रीयता का कार्यात्मक ज्ञान, संप्रेषण कौशल भी प्राप्त नहीं होता जो कि क्षेत्र की संपर्क भाषा को होता है।

हमारा संविधान जनजातीय भाषाओं के संरक्षण एवं विकास का आश्वासन प्रदान करता है। संविधान की धारा 29(1) के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि, या संस्कृति है उसे बनाए रखने का अधिकार है। संविधान की धारा 350 ए भी मातृभाषा में अनुदेश पर जोर देता है। 1951 में यूनेस्को की भाषाई घोषणा में कहा गया कि देशी भाषा का प्रयोग शिक्षा में होना चाहिए तथा मातृभाषा को शिक्षा के अनुदेश की सर्वोत्तम भाषा बताया गया। तथापि इन सारे आश्वासनों को कार्यरूप में परिणति तब तक नज़र नहीं आएगी जब तक कि ये भाषाएँ शिक्षा, प्रशासन एवं जनसंचार में प्रयुक्त न होने लगें। जनजातीय भाषाओं के संवैधानिक अधिकारों को संरक्षित करने हेतु सभी जनजातीय भाषाओं को राज्य द्वारा विकसित किया जाना चाहिए। उनकी लिपि, शब्दकोश और पाठ्यसामग्री का विकास किया जाना चाहिए। यह प्रयास होना चाहिए कि सभी जनजातीय समाज अपनी भाषा में मौखिक और लिखित रूप से पूर्णरूप से सक्षम हो सकें। साथ ही उन्हें अन्य भाषाओं को सीखने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

भारत में आदिवासी समुदाय को अनुसूचित जनजाति का नामकरण संविधान में दिया गया है। त्रिपुरा में जनजातीय समाज को उपजाति के नाम से पुकारा जाता है। त्रिपुरा में जनजातीय समाज दो वर्गों में विभक्त है पहला वर्ग मूल त्रिपुरी जनजातियों का है दूसरा वर्ग प्रवासी जनजातियों का है। मूल त्रिपुरी जनजातियों में देबबर्मा, रियांग, जमातिया, उचाई, नोआतिआ के अतिरिक्त हलाम मिजो इत्यादि जनजातियाँ हैं जबकि प्रवासी जनजातियों में भील, मुंडा, ओरांग, संथाल, लेप्चा, खासी, भूटिया इत्यादि जनजातियाँ हैं। भाषाई आधार पर त्रिपुरा की जनजातियों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला बोडो समूह, दूसरा कुकी चिन समूह, तीसरा आराकान समूह। बोडो समूह के अंतर्गत त्रिपुरी जनजातियाँ जिनमें देबबर्मा, रियांग, जमातिया, उचाई, नोआतिआ इत्यादि हैं कुकी चिन समूह में हलाम, मिजो जनजातियाँ आती हैं। जबकि अराकान समूह में मोग और चकमा जनजातियाँ शामिल हैं। जनजातीय समाज की अपनी अलग–अलग सांस्कृतिक और परंपरागत, धार्मिक सीमाएँ, प्रजातीय विशिष्टता, भाषाई विभिन्नताएँ, आर्थिक कारक विशिष्टताएँ हुआ करती हैं। त्रिपुरा की जनजातियों को उनके ज्ञान एवं आस्थाओं, उनकी नैतिकताओं, रीतिगत नियमों तथा भाषाओं के भंडार तथा मौखिक साहित्य से अलग से पहचाना जा सकता है।

त्रिपुरा बहुभाषी प्रदेश हैं। जिनमें बांग्ला, कॉकबरक, चकमा, जमातिया, मोग, मणिपुरी, हिंदी, ओरांग, संथाली, मिजो, हलाम प्रमुख हैं। सर्वाधिक लगभग साठ प्रतिशत बांग्ला बोलने वाले हैं। फिर त्रिपुरी भाषा के बोलने वाले हैं। त्रिपुरा की बोलियों का वैविध्य उस बोली को बोलने वाले समाज की विशिष्टता को दर्शाता है साथ ही उस समाज के लोगों की भिन्न विशेषताओं, परंपराओं, विश्वासों, रीति–रिवाजों तथा आदतों के प्रकटन का माध्यम भी बनता है। त्रिपुरा की किसी जनजातीय भाषाओं के पास अपनी लिपि नहीं है। सभी का मौखिक और बोलचाल रूप ही है। इसे देखते हुए त्रिपुरा के राजपरिवार ने अपने पड़ोस की भाषा बांग्ला की लिपि को अपनाया था। त्रिपुरा का इतिहास बताता है कि त्रिपुरा के राजदरबार में बांग्ला भाषा का प्रयोग राजभाषा और राजकाज के लिए होता था। त्रिपुरा के भारत में विलय तक यही राजकाज की भाषा के रूप में त्रिपुरा के जनजातीय समाज के मध्य भी पहुँचती रही जिसके कारण जनजातीय समाज को नई भाषाई संस्कृति से परिचय मिला। बहुत से जनजातीय लोग कॉकबरक के स्थान पर बांग्ला बोलने में सहज और वैशिष्ट्य महसूस करने लगे।

बोली भाषा का ही अंश है। किसी भी भाषा की कई बोलियाँ हो सकती हैं यह कहा जा सकता है कि बोलियों में अंतर अवश्यंभावी था जब संचार के साधन नहीं थे उसी प्रकार एक

समूह की बोलियों में समानताएँ भी स्पष्ट रूप से नज़र आती थीं। त्रिपुरी लोगों की बोली कॉकबराक के नाम से जानी जाती है। जिसका शाब्दिक अर्थ लोगों की भाषा है। यह बोडो समूह की भाषा है जो मूल रूप से ब्रह्मपुत्र घाटी में बोली जाती है एक समय इस समूह की बोली का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत था जो असम के बड़े हिस्से के साथ–साथ उत्तर बंगाल, पूर्वी बंगाल के कुछ क्षेत्रों में भी बोली जाती थी। बोडो उपसमूह चीनी–तिब्बती भाषा समूह का हिस्सा है। ध्यान देने की बात यह है कि कॉकबरक भाषा की अपनी लिपि नहीं है या तो यह बांग्ला लिपि में लिखी जाती है या फिर रोमन लिपि में। कहीं–कहीं बोडो भाषा की तरह देवनागरी लिपि की भी चर्चा की जाती है। कॉकबराक की भी कई बोलियाँ हैं जो विभिन्न जनजातियों यथा रियांग, जमातिया तथा रूपिनी इत्यादि के द्वारा बोली जाती हैं। कॉकबरक भारत में विलय के पहले त्रिपुरा के बहुसंख्यक समाज की भाषा थी। देश के विभाजन के उपरांत पूर्वी बंगाल की हिंदू जनसंख्या बड़ी संख्या में त्रिपुरा में शरणार्थी बनकर आई और यहीं बस गई जिससे त्रिपुरा की जनांकिकीय स्थिति में परिवर्तन हुआ। वर्तमान में त्रिपुरा की प्रमुख 19 जनजातियों में से 8 जनजातियों की भाषा कॉकबरक है। जिनमें त्रिपुरी, रियांग, नोआतिया, जमातिया, रूपिणी, कलाई, उच्चाई, मुरासिंह कॉकबरक भाषा बोलते हैं। इनके अलावा अन्य हलाम समुदाय के लोग भी कॉकबरक भाषा का प्रयोग जनजातीय संपर्क हेतु करते हैं। हलाम समुदाय इसे राजानी कॉक की संज्ञा देता है अर्थात् राजा की भाषा। कॉकबरक बोडो दिमासा, गारो इत्यादि के साथ एक उपसमूह में रखी जाती है।

कॉकबरक दो शब्दों कॉक, बरक से मिलकर बना है। कॉक का अर्थ शब्द या भाषा है तो बरक का अर्थ व्यक्ति है। इस अर्थ में कॉकबरक का अर्थ व्यक्ति की भाषा है। वैसे बरक को दूसरे अर्थ में अपनी से लिया जाता है। यथा रीबरक का अर्थ अपना कपड़ा, चाबरक का अर्थ अपना खाना, ताक बरक का अर्थ अपना कपड़ा पहनने का ढंग। इस अर्थ में कॉकबरक का अर्थ अपनी भाषा के रूप में आता है। पूर्व में इसे सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ. सुकुमार सेन, ग्रियर्सन एवं डब्ल्यूडब्ल्यू हंटर जैसे भाषाविदों द्वारा तिप्पराह, अथवा म्रुंग या मुरुंग के रूप में नामित किया गया है। यह कॉकबरक नाम पहली बार 1900 ई. में ठाकुर राधामोहन देबबर्मा द्वारा प्रकाशित पुस्तक कॉकबरकमा में आया है।

वर्तमान में कॉकबरक भाषा साहित्यिक भाषा का दर्जा पा चुकी है। इस भाषा में सभी प्रकार की साहित्यिक परंपराएँ देखने को मिल रही हैं। पहली कॉकबरक पत्रिका का प्रकाशन छठे दशक के मध्य में हुआ था। कॉकबरक कहानियों, उपन्यासों, कविताओं, नाटकों की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कॉकबरक भाषा में कई फिल्मों का भी निर्माण हो चुका है। कॉकबरक भाषा को लिपिबद्ध करने का श्रेय उसके प्रयोक्ता समाज का नहीं है वरन् श्री दौलत अहमद नामक विद्वान ने पहली बार बांग्ला लिपि का प्रयोग कर कॉकबरक को लिपिबद्ध किया। यद्यपि त्रिपुरा के राजपरिवार की पारिवारिक भाषा कॉकबरक थी तथापि राजा द्वारा कॉकबरक भाषा के विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया बल्कि बांग्ला राजदरबार की भाषा रही साथ ही राजाओं द्वारा बांग्ला साहित्य संस्कृति के उन्नयन हेतु स्तुत्य कार्य किया गया है। जनजातीय भाषा और संस्कृति त्रिपुरा की पहाड़ियों में फलती–फूलती रही है। पीढ़ी दर पीढ़ी श्रुत और मौखिक साहित्य स्थानांतरित होता रहा लिपि की कमी और शिक्षा के अभाव के कारण यह मौखिक साहित्य लिपिबद्ध बहुत विलंब से होना आरंभ हुआ।

कॉकबरक त्रिपुरा के बरॉक समुदाय की मातृभाषा है। 18वीं सदी के अंत में कॉकबरक को भाषाई समृद्धि पाने का अवसर मिलना आरंभ हुआ। वर्ष 1897 में दौलत अहमद जो कि एक अधिवक्ता थे उन्होंने बांग्ला लिपि में कॉकबरक पुस्तक की रचना की जिसका नाम 'कॉकबोरोमा' था। जो कॉकबरक भाषा का भाषाई ज्ञान प्रदान

करने के लिए प्रथम प्रयास था। उसके बाद इस जिम्मेदारी को तत्कालीन राज्य के मंत्री ठाकुर राधा मोहन देबबर्मा ने उठाया राजा द्वारा उन्हें जनजातीय समाज में शिक्षा के विस्तार की जिम्मेदारी दी गई। उन्होंने कॉकबरक भाषा के मूल को जानने का प्रयास किया। उन्होंने ही यह सुनिश्चित किया कि त्रिपुरी समाज के अतिरिक्त रियांग, जमातिया, कोलाई, उचाई, नोआतिया, रूपिणी और मुरासिंह कुछ भिन्नताओं के साथ समान भाषा बोलते हैं तथा एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। उन्होंने ही आठ जनजातीय समुदाय की भाषा को कॉकबरक नाम प्रदान किया। उन्होंने कॉकबरक भाषा व्याकरण हेतु 'कॉक बरकमा' नामक पुस्तक बांग्ला लिपि में रचित की। साथ ही ठाकुर राधामोहन ने बांग्ला लिपि में कई कॉकबरक पुस्तकों की रचना कर कॉकबरक को साहित्यिक दर्जा दिलाने में अग्रणी भूमिका अदा की साथ ही कॉकबरक भाषी विद्वानों में साहित्य सृजन की संभावना पैदा की। ठाकुर राधामोहन के बाद अलींद्रलाल त्रिपुरा ने कॉकबरक में कई पुस्तकों की रचना की। अलींद्र लाल त्रिपुरा ने कॉकबरक हेतु बर्मी भाषा जैसी पृथक लिपि हेतु भी प्रयत्न किया जिसे स्थानीय लोगों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया।

कॉकबरक में सबसे प्रमुख कार्य बंगाल से त्रिपुरा में बसे श्री कुमुद कुंडू चौधुरी द्वारा आरंभ हुआ। कुमुद कुंडू चौधुरी भाषाविज्ञानी थे। उनके प्रयत्नों ने साकार रूप लेना आरंभ किया और 19 जनवरी, 1979 को कॉकबरक ने त्रिपुरा की राजभाषा का दर्जा प्राप्त किया। इसी प्रकार त्रिपुरा जनजातीय क्षेत्र स्वायत्तशासी जिला परिषद (टीटीएएडीसी) की स्थापना के बाद 20 अप्रैल, 1999 टीटीएएडीसी क्षेत्र में कॉकबरक को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया। लिपि का मुद्दा बना रहा जहाँ कॉकबरक की लिपि बांग्ला चल रही थी वहीं एक वर्ग ने रोमन लिपि में कॉकबरक लिखने की माँग की। लिपियों के भ्रम के मध्य कॉकबरक भाषा विकसित होती रही कॉकबरक लेखक चंद्रकांत मुरासिंह को साहित्य अकादमी से सम्मानित कर भारत सरकार ने कॉकबरक के महत्व को समझा। श्री श्यामलाल देबबर्मा, दशरथ देब, नरेशचंद्र देबबर्मा, रबींद्र किशोर देबबर्मा, ने कॉकबरक साहित्य में योगदान दे इसे समृद्ध किया। इसके साथ–साथ कुछ निताई आचार्य, शांतिमय चक्रवर्ती, मनोरंजन मजुमदार जैसे बांग्ला साहित्यकारों ने भी कॉकबरक भाषा में अपना योगदान दिया।

19वीं सदी के अंतिम वर्षों में त्रिपुरा के राजनीतिक अधिकारी श्री सी डब्ल्यू बोल्टन ने कॉकबरक को अनुदेशों की भाषा बनाने पर विचार प्रस्तुत किया था। उन्होंने 1872 से 1878 में मध्य पहाड़ी तिप्रा में शिक्षा संबंधी एक रिपोर्ट तैयार की थी जिसमें उन्होंने बताया था कि पहाड़ी त्रिपुरावासियों के लिए शिक्षा व्यवस्था व्यर्थ है क्योंकि एक तो जनजातीय लोग बच्चों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं हैं वे या तो अपने बच्चों को अपने साथ श्रम में सहयोग के लिए रखना चाहते हैं। उनका मानना है कि शिक्षा के बाद उनके बच्चे उनके साथ बाँस और झूम खेतों में काम करना पसंद नहीं करेंगे। दूसरा प्रमुख तथ्य उभरकर आया कि उनकी कोई लिखित भाषा नहीं है। शिक्षा का माध्यम बांग्ला है और बांग्ला शिक्षक न तो पहाड़ियों की भाषा जानते हैं और न पहाड़ों में निवास करते हैं। इसका उपाय तभी हो सकता है कि जब कुछ पहाड़ी युवकों को अगरतला में शिक्षा हेतु तैयार किया जाए और उन्हें पहाड़ों में अपने जनजातियों के मध्य विद्यालय खोलने भेजा जाए। इस प्रकार सी.डब्ल्यू बोल्टन को कॉकबरक भाषा का पहला स्वप्नदृष्टा कहा जा सकता है।

किसी भी भाषा को शिक्षा की भाषा बनने के लिए बहुत कुछ करना होता है। उसे साहित्यिक भाषा के रूप में कुछ शर्तों को पूरा करना होता है। उसके लिए आवश्यक होता है कि कुछ साहित्यिक विरासत उसके साथ हो। जिससे कि शैक्षिक पाठ्यक्रम तैयार किया जा सके। कॉकबरक के पास उपलब्ध समृद्ध लोक साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में सृजित हुआ है। चंताई दुर्लभेंद्र द्वारा रचित

'राजमाला' कॉकबरक भाषा का सबसे प्राचीन साहित्य है। कॉकबरक राजमाला वर्तमान में भी उपलब्ध नहीं है उसके विभिन्न भाषाओं में किए गए रूपांतर ही आज लोगों के सम्मुख हैं। 1703 में दुर्गामणि त्रिपुरा ने महाराजा महेंद्र माणिक्य का जीवन वृत्तांत कॉकबरक भाषा में लिखा था। उसके बाद सी.डब्ल्यू बोल्टन की रिपोर्ट से पता चलता है कि तत्कालीन युवराज राधाकिशोर ने त्रिपुरी–बांग्ला शब्दकोश निर्मित करने का प्रयास किया था। तथापि यह प्रयास पांडुलिपियों के रूप में आज भी अज्ञात है। पर 19वीं सदी के अंत में काजी दौलत अहमद और ठाकुर राधामोहन देबबर्मा द्वारा गंभीर प्रयास हुआ। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में कॉकबरक भाषा पूरी तरह साहित्यिक शून्यता में खोई रही। 1927 में तत्कालीन युवराज समरेंद्र चंद्र ने 'त्रिपुरा स्मृति' नामक पुस्तक लिखी। इसमें कॉकबरक गीत मिलते हैं। राधामोहन देबबर्मा के बाद खुशी कृष्णा त्रिपुरा द्वारा कॉकबरक भाषा में लेखन का संगठित प्रयास किया गया। खुशी कृष्ण त्रिपुरा रियांग विद्रोह के नेता रतनमणि रियांग के शिष्य थे उन्होंने रतनमणि रियांग द्वारा तैयार तैंतीस धार्मिक गीतों को लिपिबद्ध कर पुस्तकाकार में खा काचांग खुंबेर के नाम से 1942 में प्रकाशित कराया। 1954 के जनशिक्षा समिति आंदोलन में कॉकबरक भाषा के आंदोलन को गति मिली। सुधन्न देबबर्मा द्वारा पूरी तरह कॉकबरक भाषा की पत्रिका 'क्वताल कोथमा' का प्रकाशन किया गया। यह कॉकबरक पत्रिका कॉकबरक भाषा के लिए जीवनदायिनी निकली कुछ समय तक चलने वाली इस पत्रिका ने कॉकबरक भाषियों के मध्य लेखन के प्रति जागृति उत्पन्न की और भाषाई पहचान के प्रति सचेत किया। इसी बीच दशरथ देब की पुस्तक 'कॉकबरक छुरुंग' 1977 में प्रकाशित हुई। कालांतर में महेंद्र देबबर्मा द्वारा प्रकाशित 'याप्री' नामक समाचार पत्र आया। अस्सी के दशक में कोलकाता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो. सुहाष चटर्जी अपने दो छात्रों कुमुद कुंडू चौधरी और श्यामसुंदर भट्टाचार्जी के साथ अगरतला आए और कॉकबरक की आठ बोलियों पर पाँच साल तक अध्ययन किया। अपनी भाषाई परियोजना में उन्होंने जोगेंद्र चंद्र देबबर्मा, दशरथ देबबर्मा ओर अलींद्र लाल त्रिपुरा को शामिल कर कॉकबरक की वर्तनी का मानकीकरण कर इसे अनुदेश की भाषा के रूप में तैयार किया। इसी बीच केंद्रीय भारतीय भाषा संस्थान मैसूर की पुष्पा कारापुरकर कॉकबरक भाषा के ध्वन्यात्मक अध्ययन हेतु त्रिपुरा आईं। 1976 में कॉकबरक भाषा के व्याकरण की पुस्तक छपकर आई।

त्रिपुरा के महान जनशिक्षा आंदोलन के द्वारा अंतिम महाराजा बीर बिक्रम माणिक्य से पहाड़ी त्रिपुरा में शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने हेतु निवेदन किया गया। उन्होंने 488 विद्यालय पहाड़ों में खोले बाद में त्रिपुरा के महाराजा ने इस पावन निवेदन को मानते हुए पहाड़ी त्रिपुरा में 488 विद्यालयों को सरकार के अंतर्गत शामिल कर लिया। तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री ब्राउन ने महाराजा के निर्देशों के अनुसार इसे पूरे प्रदेश में फैलाया। जनशिक्षा समिति ने अपने प्रारंभिक आंदोलन काल में पहाड़ी त्रिपुरा में शिक्षा हेतु आंदोलन किया परंतु कॉकबरक को शिक्षा का माध्यम बनाने हेतु उनका कोई लक्ष्य न था। इस प्रकार पहाड़ी त्रिपुरा में शिक्षा तो पहुँची परंतु शिक्षा का माध्यम बांग्ला ही रही जो राजदरबार की भाषा थी। 1967 में त्रिपुरा उपजाति जुबा समिति की स्थापना के साथ देशी भाषा की भाषाई कल्पना उनके इस नारे के साथ जोर मारने लगी कॉकबरक को शिक्षा के अनुदेशों की भाषा बनाई जाए। इसे स्थानीय राजनीतिक दलों का भी समर्थन मिलना शुरू हो गया। 1972 में जब श्री सुखमय सेनगुप्ता के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार बनी तो उन्होंने शिक्षा विभाग के अंतर्गत जनजातीय भाषा विभाग की स्थापना की। ताकि प्राथमिक स्तर पर कॉकबरक भाषा की पाठ्य पुस्तकें तैयार की जा सकें। सरकार का उद्देश्य था कुछ अंकगणितीय एवं बाल ज्ञान की पुस्तकों को कॉकबरक भाषा में तैयार कर प्राथमिक शिक्षा में कॉकबरक बोलने वालों बच्चों को उनकी भाषा

की शिक्षा दी जा सके। इसका प्रथम परिणाम निकलकर आया अजीत बंधो देबबर्मा की कॉकबरक बाल पुस्तक 'स्वरंग्मा' के रूप में। उस समय कॉकबरक भाषा के बच्चों के लिए पृथक परीक्षा की व्यवस्था तो नहीं की गई पर यह प्रयास परवर्ती समय में कॉकबरक भाषी प्राथमिक विद्यालयों के लिए नजीर बनकर आया। 1978 में तत्कालीन शिक्षा मंत्री दशरथ देब ने कॉकबरक भाषा में प्राथमिक शिक्षा हेतु गंभीर प्रयत्न किए। इस हेतु एक सौ कॉकबरक शिक्षक तैयार किए गए जिन्हें जनजातीय बहुल क्षेत्रों के विद्यालयों में कॉकबरक शिक्षा हेतु नियुक्त किया गया। इस परिवर्तन का कॉकबरक समुदाय द्वारा अत्यंत उत्साह के साथ स्वागत किया गया। परंतु समुचित भाषाई पाठ्य नियोजन के अभाव में इस महान सूत्रपात को जल्द ही गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा। क्योंकि कक्षा पाँच तक के कॉकबरक भाषी छात्रों के कक्षा छह में पहुँचने पर शिक्षा का माध्यम उनकी प्राथमिक शिक्षा की भाषा कॉकबरक न होकर बांग्ला हो गई। प्राथमिक स्तर पर कॉकबरक शिक्षा व्यवस्था को तेज झटका मिला जब माध्यमिक शिक्षा कॉकबरक बच्चों के लिए असंभव सी लगने लगी। इससे विद्यालय छोड़ने वाले जनजातीय बच्चों की संख्या बढ़ने लगी। पालकों एवं कॉकबरक शिक्षकों के लिए इस गंभीर समस्या का कोई उपचार नजर नहीं आ रहा था। प्राथमिक शिक्षा में द्वितीय भाषा का नियोजन शिक्षा विभाग के द्वारा न करने का खामियाजा बच्चों को भरना पड़ा। उस काल में त्रिपुरा ने गंभीर जनजातीय–बांग्ला संघर्ष देखा जिसके कारण शिक्षा व्यवस्था को बहुत अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। बांग्ला शिक्षक पहाड़ों में जाने से डरते थे। जनजातीय लोग भी नगरों में कम ही निवास करते थे। इस खाई को पाटने में लगभग दो दशक से अधिक समय लगा। परंतु इसका खामियाजा कॉकबरक भाषा के विकास को भुगतना पड़ा। पहाड़ों के मिशनरी विद्यालयों में अंग्रेजी शिक्षा दी जाने लगी। अंग्रेजी शिक्षा पाए छात्र रोजगार में आगे निकलने लगे। ये भी कॉकबरक भाषा के विद्यालयों में दुखद पक्ष बनकर उभरा। बीते वर्षों में त्रिपुरा के जनजातीय समाज में जो संभ्रांत वर्ग बनकर निकला वह मिशनरी विद्यालयों का पढ़ा हुआ था। त्रिपुरा की बड़ी शासकीय सेवाओं में इन्हीं बच्चों ने रोजगार पाने में सफलता पाई। निश्चित रूप से यह वर्ग अपने जनजातीय आत्मसम्मान के स्थान पर एक बड़े वृत्त में सम्मान की खोज में लग गया। इस मद में कॉकबरक भाषा उन्हें पर्याप्त नज़र नहीं आई। यहाँ तक कि अगरतला के संभ्रांत जनजातीय वर्ग के लोगों ने कॉकबरक छोड़कर बांग्ला और अंग्रेजी अपना ली।

प्रदेश के शिक्षा मंत्रालय के लिए एक बड़ा कार्य आ खड़ा हुआ कि रणनीति तैयार कर कॉकबरक भाषा और द्वितीयक एवं तीसरी भाषा अंग्रेजी के मध्य संतुलन बनाकर शिक्षा व्यवस्था को विकसित करना। कॉकबरक भाषी क्षेत्र में एक ओर देशी भाषा कॉकबरक तथा प्रादेशिक शिक्षा का माध्यम बांग्ला एवं उच्च शिक्षा के माध्यम अंग्रेजी के बीच संतुलन स्थापित करना था। कॉकबरक भाषियों के मध्य प्राथमिक शिक्षा में त्रिभाषी ज्ञान का सूत्र लागू कर वर्तमान भाषाई समस्या को दूर करने का प्रयास किया गया। कहीं–कहीं चार भाषाएँ भी कॉकबरक विद्यालयों में सिखाई जा रही हैं। जमातिया होदा द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में कॉकबरक, बांग्ला, अंग्रेजी के साथ हिंदी को भी पढ़ाया जा रहा है। त्रिपुरा सरकार के विद्यालयों में पाँचवी तक कॉकबरक भाषा में प्राथमिक शिक्षा तथा बांग्ला और अंग्रेजी विषय पढ़ाया जा रहा है। छठी से बारहवीं तक कुछ विद्यालयों में कॉकबरक विषय के साथ शिक्षा प्रदान की जा रही है। त्रिपुरा विश्वविद्यालय में कॉकबरक में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम आरंभ होने के बाद कॉकबरक भाषा के शिक्षकों की कमी दूर हो गई है।

त्रिपुरा में राज्य शिक्षा अनुसंधान परिषद त्रिपुरा की स्थापना 23.03.1991 को हुई। इसे राज्य के पुराने जनजातीय भाषा प्रकोष्ठ को अन्य संगठनों के साथ संविलयित कर निर्मित किया

गया। जनजातीय भाषा प्रकोष्ठ की स्थापना शिक्षा मंत्रालय में 1973 में की गई थी। संविधान की धारणा के अनुसार सभी बच्चों का अधिकार है कि वे अपनी मातृभाषा में बोलें। त्रिपुरा में उन्नीस जनजातीय समुदाय हैं तथापि यहाँ पर वर्तमान में केवल सात–आठ जनजातीय भाषाएँ बोली जाती हैं। कुछ जनजातीय भाषाएँ अन्य समप्रकृति वाली भाषाओं के साथ संविलयित हो गई हैं। एससीईआरटी के जनजातीय भाषा प्रकोष्ठ द्वारा कक्षा एक से कक्षा बारह तक की पुस्तकों का पाठ्य विवरण तैयार कर उसके अनुसार पाठ्य पुस्तकों की छपाई की जाती है। 2006 से टीटीएएडीसी के विद्यालयों में कक्षा तीन से पाँच तक कॉकबरक भाषा में गणित, विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान की पढ़ाई भी कराई जानी आरंभ की गई है। एससीईआरटी ने न केवल कॉकबरक की पुस्तकें तैयार की हैं बल्कि चकमा बहुल क्षेत्रों में चकमा भाषा की प्राथमिक कक्षा की पुस्तकें एवं मोग बहुल क्षेत्रों में मोग भाषा की प्राथमिक पढ़ाई की पुस्तकें तैयार कराई हैं। कुछ जनजातीय क्षेत्रों में मिजो भाषा में भी प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जा रही है।

कॉकबरक भाषा ने पिछले सात दशकों में प्रगति के नए आयाम तय किए हैं तथापि अभी भाषाई रूप में स्थापित होने के लिए बहुत दूर चलना है। त्रिपुरा के टीटीएएडीसी (त्रिपुरा जनजातीय क्षेत्र स्वायत्तशासी जिला परिषद) की स्थापना के बाद कॉकबरक भाषा को विकसित होने का खुला अवसर मिला। टीटीएएडीसी क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षा के लिए कॉकबरक भाषा को लागू किया गया। कुछ विद्यालयों में कक्षा बारह तक कॉकबरक भाषा पढ़ाई जा रही है। विद्यालयों में भी लिपि को लेकर भ्रम बना हुआ है। एक ओर शासकीय रूप से बांग्ला लिपि में पुस्तकें उपलब्ध कराई जा रही हैं वहीं रोमन लिपि की माँग भी चल रही है।

त्रिपुरा विश्वविद्यालय ने 1993 में कॉकबरक भाषा पर प्रमाण–पत्र कार्यक्रम 1993 में आरंभ किया। त्रिपुरा विश्वविद्यालय ने वर्ष 2015 में कॉकबरक भाषा विभाग स्थापित किया गया था। कॉकबरक भाषा में स्नातकोत्तर उपाधि प्रदान की जाने लगी। विश्वविद्यालय में स्थापित कॉकबरक विभाग जहाँ छात्र–छात्राओं को शैक्षणिक उपाधि प्रदान कर रहा है वहीं स्थानीय जनजातीय भाषा के साहित्यकारों की रचनाओं को विस्तार प्रदान कर रहा है। यह विभाग कॉकबरक साहित्य में शोध कार्य को आगे ले जाने को प्रयासरत है जिससे कि कॉकबरक भाषा को मजबूती मिल सके। यह विभाग कॉकबरक के अतिरिक्त त्रिपुरा की अन्य जनजातीय भाषाओं का भी अध्ययन कर रहा है। कॉकबरक भाषा का अन्य समान परिवार की भाषाओं बोडो, गारो, राभा, दिमासा, तिवा इत्यादि के साथ तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। साथ ही वर्ष 2016 में भाषाविज्ञान एवं जनजातीय भाषा विभाग की स्थापना की गई। जहाँ स्थानीय भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। कॉकबरक भाषा के विकास के लिए त्रिपुरा सरकार ने जनजातीय शोध संस्थान की स्थापना 1970 में की है। जहाँ जनजातीय एवं भाषाई शोध को बढ़ावा देने के लिए निधि उपलब्ध कराई जाती है साथ ही जनजातीय साहित्य को प्रकाशित कर कॉकबरक भाषा के विद्वानों को मंच प्रदान किया जा रहा है। यह संस्थान 'तुई' नामक शोध पत्रिका प्रकाशित कर त्रिपुरा की भाषाई एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को लोगों तक पहुँचाने का कार्य कर रहा है। शोध पत्रिका 'तुई' के साथ जनजातीय शोध संस्थान साहित्यिक पत्रिका 'साइमा' के प्रकाशन द्वारा जनजातीय साहित्य को शासकीय व्यय पर प्रकाशित कर रहा है। जनजातीय शोध संस्थान का जनजातीय भाषा स्कंध राज्य की भाषाओं के व्याकरण, लिपि, मौखिक साहित्य पर शोध हेतु निधि और सुविधाएँ प्रदान कर रहा है। कॉकबरक एवं अन्य जनजातीय भाषाओं के अध्ययन हेतु अनुदान/ अध्येतावृत्ति/ मानदेय प्रदान कर रहा है तथा संगोष्ठी कार्यशालाएँ आयोजित कर रहा है। गैर जनजातीय समाज में कॉकबरक भाषा को

लोकप्रिय बनाने हेतु विशेष रूप से सरकारी कर्मचारियों के लिए कॉकबरक भाषा की कोचिंग का आयोजन किया जा रहा है। 2005 को कॉकबरक भाषा के राजभाषा दर्जा प्राप्त करने के पच्चीस वर्ष पूरे हुए। इस अवसर पर प्रत्येक वर्ष उन्नीस जनवरी को कॉकबरक उत्सव का आयोजन किया जाता है। जनजातीय शोध संस्थान कॉकबरक भाषा और साहित्य संबंधी विशद ग्रंथागार लोगों के लिए उपलब्ध कराता है। संस्थान ने त्रिपुरा जनजातीय सांस्कृतिक राज्य अकादमी नामक समिति का गठन वर्ष 2009–2010 में किया। अकादमी जनजातीय लोक गीत, लोक नृत्य, लोक संगीत वाद्ययंत्र, पर तीन वर्षीय डिप्लोमा त्रिपुरा विश्वविद्यालय प्रदान करती है।

कॉकबरक की सबसे बड़ी समस्या भाषा के लिए लिपि का चयन है। कॉकबरक का प्रारंभिक विकास स्थानीय राजदरबार की भाषा बांग्ला की लिपि के साथ हुआ है। पूरा प्रारंभिक साहित्य बांग्ला लिपि के साथ ही विकसित हुआ। पर अपनी अलग पहचान की आकांक्षा से जूझ रहा जनजातीय समाज का एक वर्ग भाषाई रूप से स्वयं को बांग्ला से अलग खड़ा करने को प्रयत्नशील है। उसे लगता है कि बांग्ला लिपि के कारण उसकी अलग पहचान नहीं हो पाएगी। विशेष रूप से शिलांग में चर्च के विद्यालयों में शिक्षित जनजातीय लोगों के मध्य कॉकबरक के लिए रोमन लिपि की आवश्यकता दर्शाई जा रही है। तथापि राजनीति वर्ग द्वारा कॉकबरक हेतु बांग्ला लिपि को ही प्रोत्साहित किया गया है। विशेष रूप से जनजातीय नेता एवं पूर्व मुख्यमंत्री दशरथ देबबर्मा ने इस संबंध में बहुत अधिक प्रयत्न किया है। स्थानीय कॉकबरक बोलने वालों का एक वर्ग यह बात रख रहा है कि बांग्ला लिपि कॉकबरक के सभी शब्दों का समुचित उच्चारण करने में समर्थ नहीं है। इसके साथ ही एक अन्य वर्ग तैयार हुआ है जो देवनागरी लिपि कॉकबरक हेतु उच्चारण को समुचित समझता है। देवनागरी कलामाबय कॉकबरक नाम से एक संगठन इस हेतु संघर्ष कर रहा है उनका मानना है कि यदि कॉकबरक देवनागरी लिपि अपनाती है तो उसे बोडो भाषा की तरह छठी अनुसूची में शामिल होने का मौका मिल सकता है। साथ ही साथ वो मानते हैं कि देवनागरी लिपि दुनिया में उच्चारण की दृष्टि से सर्वाधिक सक्षम लिपि है इससे कॉकबरक भाषा को अच्छी तरह बोला जा सकता है। उनका मानना है कि देवनागरी लिपि को अपनाकर अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाज की तरह भारतीय मुख्यधारा से सहजता से जोड़ा जा सकता है। समान परिवार की बोडो भाषा द्वारा देवनागरी लिपि को अपनाने के बाद बोडो साहित्य सभा द्वारा देवनागरी में बोडो भाषा लिखने का गंभीर प्रयत्न हो रहा है। यद्यपि यह प्रश्न बहुत कठिन है। तथापि प्रयास तीनों लिपियों के लिए चल रहे हैं।

कॉकबरक का साहित्यिक विकास आजादी के पश्चात् तेजी से हुआ। 1954 में 'कताल कथमा' (नई कहानी) के नाम से साहित्यिक पत्रिका का आरंभ कॉकबरक साहित्य के लिए संजीवनी बनकर आया। इसके संपादक सुधंव त्रिपुरा ने विभिन्न कॉकबरक साहित्यकारों में पत्रिका में लेख हेतु प्रोत्साहित किया स्वयं उन्होंने 'चेथुवांग' (उपन्यास) लिखकर धारावाहिक रूप में प्रकाशित कराया साथ में अनेक लेखकों की रचनाएँ भी धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुईं जिनमें रुबिरुंग देवी की 'फुमुकमुंग' (धाँ धाँ), नवलक्ष्मी देबबर्मा की 'सिक्ला बाई रुचाबलाईमानि रुचावमुंग', दशरथ देबबर्मा की 'गांधीजीनि कॉकलाम' (गांधीजी के विचार) रवींद्र देबबर्मा की 'कॉक चनाय', महेंद्र देबबर्मा की 'त्रिपुरा शब्दावली' तथा सुधंव देबबर्मा और महेंद्र देबबर्मा द्वारा अनूदित रवींद्रनाथ टैगोर के गीत प्रमुख हैं। यह पत्रिका लंबे समय तक नहीं चल सकी तीन साल बाद बंद हो गई तथापि इसने कॉकबरक भाषा को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने में प्रमुख भूमिका अदा की।

कॉकबरक साहित्य में आरंभिक लेखकों में बंशी ठाकुर का नाम प्रमुख है। 1948 में 'कॉकतांग कुलुई' नाम उनकी एक पुस्तक

प्रकाशित हुई। साथ ही कॉकबरक निबागुई चिनि खाईथाई (कॉकबरक के लिए हमारी जिम्मेदारी), हाथाई बुबाग्रा हिमालयनि खुरिवॉ कॉकबरक (गिरराज हिमालय की गोद मे कॉकबरक), बद्रीनारायण मुताईनॉक ताई माना कामि (बद्रीनारायण मंदिर और माना ग्राम) लेख लिखे। जितेंद्र देबबर्मा की पुस्तक 1959 में 'कॉकबरक सुरूंगमा' (कॉकबरक शिक्षा) प्रकाशित हुई। सुधीर देबबर्मा की रचना 'कॉकतांग' एवं 'सुरंगमा ईयाख्लि' प्रकाशित हुई। अजितबंधु देबबर्मा ने कॉकबरक भाषा साहित्य के विकास में निरंतर योगदान दिया पहले 'अभ्युदय' नामक पत्रिका निकाली बाद में 'त्रिपुरा संहति' नामक पत्रिका निकाली। इन पत्रिकाओं में उन्होंने कॉकबरक गीतों, लोककथाओं को स्थान दिया। उन्होंने 'कॉकरुबाम' नामक, त्रिभाषीय (कॉकबरक–अंग्रेजी –बांग्ला) शब्दकोश भी तैयार किया। महेंद्र देबबर्मा ने 'चेराई सुरूंगमा' नामक पुस्तक की रचना की तथा 'याप्रि' नामक साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित की। अलिंद्रलाल त्रिपुरा का नाम कॉकबरक साहित्य के विकास में सम्मान से लिया जाता है। उन्होंने 'उजातीय संस्कृति', 'उतांत्रिक चिकित्सा' नामक पुस्तक लिखी, उन्होंने 1972 में 'त्रिपुरा कॉकबरक साहित्य सभा' की स्थापना की जो अपने आरंभ से दांङ्दू पत्रिका का प्रकाशन कार्य कर रही है वर्तमान में इसके संपादक प्रख्यात साहित्यकार नंदलाल देबबर्मा हैं। उनका 'लामानि हामचंग' नाटक अत्यंत लोकप्रिय है। उनकी 'सुरूंगमा' (कॉकबरक शिक्षा) पुस्तक 1973 में प्रकाशित हुई। बांग्लाभाषी प्रतापचंद्र रॉय ने कॉकबरक भाषा के विकास के लिए विशिष्ट योगदान दिया उन्होंने 'चिनि हा' (हमारी मिट्टी) नामक साप्ताहिक पत्रिका का संपादन किया। बांग्लाभाषी शांतमय चक्रवर्ती ने अनेक कॉकबरक रचनाएँ सृजित की जिनमें 'भरतनिअ पाँचालि', 'रामायन कॉचरजाक' (संक्षिप्त रामायण), 'याप्रि कुताल' (नया कदम), 'लेखामुंग' (गिनती विधि), 'हिंदी त्रिपुरा शब्दकोश', 'त्रिपुरानि केरेंग कथमा' (त्रिपुरा की लोककथाएँ), 'कगतांग कगलब बुतांग' (छड़ा एवं कविता संग्रह), 'फिरॉगाई फाइदि' (लौट आओ), 'मुकतुई' (आँसू) इत्यादि प्रमुख हैं।

1986 में कॉकबरक साहित्य संस्कृति संसद की स्थापना की गई। दशरथ देबबर्मा, सुधंव देबबर्मा, महेंद्र देबबर्मा, श्यामलाल देबबर्मा इसके प्रमुख सदस्य थे। इस संस्था ने 1987 में तीन महत्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया। सुधंव देबबर्मा की 'हाचुक खुरियो' (पहाड़ों की गोद में), श्याम लाल देबबर्मा की 'आदङ' (प्रतिनिधि कहानी संग्रह) और चंद्रकांत मुरासिंह की 'हापिंग गयारिंवॉ चिबुकसा रिंगवॉ' (झूम खेतों के मचान पर सर्प की पुकार) कविता संग्रह। छठे दशक से कॉकबरक साहित्य विकास की ओर बढ़ा विभिन्न पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं जिनमें 1961 में अजय देबबर्मा और सूर्ज रियांग की 'कॉकतुन', 1967 में अजय देबबर्मा की 'चिनि कॉक' जिसे 1972 से मृणाल देबबर्मा ने संपादित किया। आदिवासी छात्र फेडरेशन द्वारा संपादित पत्रिका 'साचुलांग', विजय रांखल द्वारा संपादित 'त्रिपुरा स्टार' और काराम देबब्रत कलाई द्वारा 'संपति हॉजलाई', श्यामलाल देबबर्मा द्वारा संपादित 'आईतॉरमा' और 'त्रिपुरा कॉकतुन', ब्रजबिहारी रॉय द्वारा संपादित 'चिनि हा', दशरथ देबबर्मा द्वारा संपादित 'लामा' जिसे बाद में निरंजन देबबर्मा ने संपादित किया, महेंद्र देबबर्मा द्वारा 'याप्रि' तथा नगेंद्र जमातिया द्वारा 'चबा और दूंगुर' नामक पत्रिकाएँ निरंतर कॉकबरक साहित्य को अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही हैं। बीसवी सदी के अंतिम दो दशकों में भी कई विभिन्न संपादकों ने कई पत्रिकाएँ प्रकाशित की जिनमें सुनील देबबर्मा की 'जॉरा', चंद्रकांत मुरासिंह की 'हाचुकनि खॉरांग' और 'चाति', शब्दकुमार जमातिया की 'साचुलांग', कमलिया जमातिया की 'आईददॉरप', बिकासरॉय देबबर्मा की 'चेथुवांग' जिसे बाद में बिनय देबबर्मा ने संपादित किया, दरसिराम देबबर्मा की 'हुकुम', निताई आचार्य की 'याखराई', बुदराय देबबर्मा की 'खाकामुंग', राधाचरण देबबर्मा की 'सिचाखा', राजकुमार जमातिया की सिग्लि, कुंजबिहारी

देबबर्मा की 'पॉहर पत्रिकाएँ' प्रमुख थीं। इनमें से कुछ पत्रिकाएँ निरंतर प्रकाशित हो रही हैं अधिकतर दो–चार साल प्रकाशित होकर बंद हो गईं। तथापि ये पत्रिकाएँ कॉकबरक भाषा के विकास में महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में आई हैं।

जहाँ एक ओर पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रही वहीं कॉकबरक साहित्य में विभिन्न पुस्तकों के प्रकाशन से भी समृद्धि आई। 1973 में बुदुराय देबबर्मा की 'खानि रूचापमुंग' गीत संकलन, श्यामलाल देबबर्मा की 'बेंगसुनाल नाटक' (1974), दशरथ देबबर्मा की 'कॉकबरक सुरुंग' (कॉकबरक शिक्षा) व्याकरण पुस्तक (1977), नगेंद्र जमातिया की 'हाथाई' (निबंध संग्रह–1978), मनोरंजन देबबर्मा की 'बुबार' (कहानी कविता एवं निबंध संग्रह–1978), नरेशचंद्र देबबर्मा संपादित 'कॉकबरक कॉकलब बुचाब' (कविता संग्रह–1983), 'कॉगलब कॉगतांग बुतांग' (1983) : शांतिमय चक्रवर्ती, श्यामलाल देबबर्मा की 'दुनदुरूकम' (कहानी संग्रह– 1984) पुस्तकें प्रकाश में आईं। नरेश चंद्र देबबर्मा की पुस्तक कॉकबरक भाषा साहित्येर क्रम विकास के अनुसार 2009 तक चौहत्तर कविता संग्रह, तेइस कहानी संग्रह, अठारह गीत एवं लोकगीत संग्रह, नौ उपन्यास तथा पचहत्तर से अधिक निबंध, अनुवाद, व्याकरण की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं।

कॉकबरक भाषा के उन्नयन हेतु कॉकबरक साहित्य सभा और कॉकबरक उन्नयन परिषद की स्थापना की गई। कॉकबरक को प्रदेश की दूसरी भाषा की मान्यता मिलने के बाद त्रिपुरा कोंगतून नामक साप्ताहिक समाचार पत्र आरंभ किया गया जिसमें दो पेज साहित्यिक गतिविधियों के लिए रखे गए जिससे कॉकबरक साहित्य के विकास को अवसर मिलने लगा। पिछले दो दशकों में कॉकबरक साहित्य संसद, कॉकबरक ती हुकुमू मिशन, हाचुक्नी खोरांग, दे कॉकबरक पब्लिशर्स जैसे संगठन उभरे हैं। जो कुछ कॉकबरक पुस्तकों को प्रकाशित करने में सफल हुए हैं। इस भाषा में कविता, कहानी, उपन्यास, इत्यादि सामने आ रहे हैं। कॉकबरक विद्वानों द्वारा जहाँ देश के प्रमुख साहित्य को कॉकबरक में अनूदित किया जा रहा है वहीं कॉकबरक साहित्य को भी अन्य भाषाओं में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। कॉकबरक भाषा ने न केवल साहित्य जगत में अपनी पहचान स्थापित की है वरन् कॉकबरक भाषा ने अब सिनेमाई जगत में भी उभरने में सफलता पाई है।

कॉकबरक भाषा अन्य जनजातीय समूह की भाषाओं की तरह भारत की अल्पसंख्यक और जनजातीय भाषा के रूप में मानी जाती है। परंतु 19वीं सदी के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ कॉकबरक का भाषाई संघर्ष 20वीं सदी के उत्तरार्ध में तीव्रता को पकड़ लोगों के मध्य भाषाई जागरूकता पैदा करने में सफल रहा। जिससे भाषाई संरक्षण एवं संवर्धन हेतु कॉकबरक भाषी जनजातीय समाज आगे आया। जिसके परिणामस्वरूप श्री चंद्रकांत मुरासिंह को कॉकबरक साहित्य के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। कॉकबरक भाषा के विभिन्न मंच स्थापित हुए। भाषाई आंदोलन की परिणति 19 अगस्त, 1979 को कॉकबरक को प्रादेशिक राजभाषा की मान्यता के रूप में हुई। 1981 से कॉकबरक को अनुदेश की भाषा के रूप में भी मान्यता मिली। प्रदेश के शिक्षा विभाग ने कॉकबरक सलाहकार परिषद एवं कॉकबरक पाठ्य पुस्तक समिति की स्थापना की। तथा कॉकबरक भाषा की पाठ्य पुस्तकें मुद्रित कराई। यद्यपि आज भी कॉकबरक भाषा को लंबा रास्ता तय करना है। कॉकबरक साहित्य को उच्चतम स्तर तक पहुँचाना होगा। मौलिकता को सजीव रखते हुए अन्य भाषाओं में कॉकबरक साहित्य की पहुँच बनानी होगी। त्रिपुरा का जनजातीय शोध संस्थान इस दिशा में गंभीरता से कार्य कर रहा है। परंतु संस्थान द्वारा कॉकबरक साहित्य को केवल अंग्रेजी और बांग्ला में अनूदित किया जा रहा है जिससे कॉकबरक साहित्य की पहुँच सीमित दायरे में है। त्रिपुरा विश्वविद्यालय में कॉकबरक विभाग खुलने के बाद नई संभावना जागी है निश्चित रूप से यह कॉकबरक भाषा के लिए संजीवनी का कार्य कर सकता है यदि इस

विभाग द्वारा मौलिक शोध और साहित्य को प्रोत्साहित किया जा सके। त्रिपुरा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा कॉकबरक साहित्य के हिंदी रूपांतरण हेतु कुछ कार्य किया गया है। विभाग का प्रयास है कि जनशिक्षा आंदोलन के प्रथम अध्यक्ष सुधन्य देबबर्मा के उपन्यास 'हाचुक खुरियो' (पर्वतों की गोद में) के हिंदी रूपांतर को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए। केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा कॉकबरक हिंदी शब्दकोश तैयार किया गया है। इसके अतिरिक्त कॉकबरक लोकसाहित्य को हिंदी रूपांतरण के साथ प्रकाशित किया गया है। डॉ. मिलनरानी जमातिया, श्रीमती खुमितिया देबबर्मा, श्री चंद्रकांत मुरासिंह, श्रीमती लिली देबबर्मा इत्यादि विद्वत मंडली कॉकबरक एवं हिंदी के मध्य सेतु का कार्य कर रहे हैं। तथापि कॉकबरक साहित्य को अभी भी देश में पहचान बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है जबकि डॉ. अतुल देबबर्मन द्वारा कॉकबरक भाषा में अत्यंत भावोत्तेजक 1980 उपन्यास रचा गया। साथ ही गीता रहस्य पर डॉ. अतुल देबबर्मा द्वारा कॉकबरक भाषा में लिखा जा रहा साहित्य अपने आप में विशिष्ट है इस पर प्रदेश से बाहर चर्चा की जरूरत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. देबबर्मा नरेशचंद्र– कॉकबरक भाषा साहित्येर क्रम विकास, नवचंदना प्रकाशन, अगरतला 2010

2. चौधरी कुमुद कुंडू– कॉकबरक भाषा उ साहित्य, अक्षर प्रकाशन, अगरतला 1919

3. देबबर्मा नरेशचंद्र, प्रसंग कॉकबरकेर मान्य भाषा, नवचंदना प्रकाशन, अगरतला, 2010

4. चटर्जी डॉ. सुनीति कुमार, बांग्ला भाषा तत्वेर भूमिका

5. चक्रवर्ती शांतिमय– कॉकबरकेर उत्स संधाने

6. गोस्वामी डॉ. एस.एन.– स्टडीज इन साइनो तिब्बतन लैंगुएजेज

7. दीपक डॉ. प्रदीप कुमार– लैंगुएज प्रॉब्लम एमंग द ट्राइब्स ऑफ त्रिपुरा, तुई, अंक 28 अप्रैल –सितंबर 2014

8. जमातिया डॉ. मिलन रानी एवं पांडेय प्रो. चंद्रकला (संपा.) कॉकबरक की प्रतिनिधि कविताएँ, मानव प्रकाशन कोलकाता, 2014

9. मजुमदार, धीरेंद्र नाथ, एवं मदान टी.एन. –ऐन इंट्रोडक्शन टु सोसल एंथ्रोपोलॉजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस मुंबई

– विश्वविद्यालय परिसर, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, सूर्यमणिनगर, त्रिपुरा पश्चिम–799022

❑❑❑

पूर्वोत्तर की भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्राण–बांधव शंकर–माधव

डॉ. दीपक कुमार गुप्ता

भारत के पूर्वोत्तर में स्थित सुंदर राज्य असम का इतिहास जिस प्रकार अविस्मरणीय तथा महान है ठीक उसी प्रकार यहाँ की भाषा, साहित्य और संस्कृति की पूरे विश्व में एक अलग ही पहचान है। यही कारण है कि आज लंदन हो या स्पेन श्रीमंत शंकरदेव के नाटक या उनके द्वारा लिखा गया बरगीत या उनके द्वारा प्रचारित संस्कृति वहाँ भी प्रचलित है तथा आज भी विश्व के विभिन्न स्थानों में रह रहे अनेकों लोग अपने अंदर आत्मसात् किए हुए हैं।

असम राज्य अपनी संस्कृति का वाहक सदियों से अपनी परंपराओं को अपने प्राणों से पोषित करते हुए अपने अंदर तथा अपनी जीवन चर्या में समाए हुए है। यहाँ विविध प्रकार की भाषा तथा अनेकों बोलियों के साथ–साथ विविध प्रकार की संस्कृति, रीति–रिवाज, रहन–सहन, खान–पान, पहनावा आदि देखे जाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव तथा माधवदेव इसी भाषा–संस्कृति तथा साहित्य आदि के प्राण–बांधव हैं। उन्होंने असम की भाषा, साहित्य और इसकी संस्कृति को अपनी आत्मा से सींचा है। गुरु शंकरदेव तथा माधवदेव ने असम की संस्कृति में राम तथा कृष्ण को स्थापित करके तथा यहाँ साहित्य को लौकिक रूप देकर लोगों के हृदय में उतारा है तथा समस्त जनमानस का उद्धार किया है। इसी कारण असमिया समाज ही नहीं संपूर्ण भारत इस महान गुरु–शिष्य शंकरदेव– माधवदेव की सराहना करता है तथा बड़े आदर के साथ इनका नाम लेता है। ये गुरु–शिष्य असम प्रांत की भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के प्राण ही कहे जाते हैं।

महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका आविर्भाव रूढ़िवादी संकीर्ण एवं व्यभिचारी मानसिकता वाले समाज व्यवस्था का प्रतिकार कर समाज में समरसता लाने तथा मानवीय हृदय में करुणा, दया, परोपकार तथा एकेश्वर के प्रति भक्ति स्थापित कर समाज का उद्धार करने के लिए ही हुआ था। श्रीमंत शंकरदेव ने तत्कालीन समाज में चल रहे अमानवीय कृत्य को देखा था। पशु बलि तो उस समय साधारण–सी बात थी, लोग तो नर बलि भी करते हुए अपराध बोध न कर इसे भक्ति एवं श्रद्धा का ही अविभक्त एक रूप मानते थे। ये हाल तो ब्राह्मणों और उच्च वर्ग समाज का था। शासक वर्ग भी इन रूढ़िवादी व्यवस्था के पोषक थे। श्रीमंत शंकरदेव को इन सभी व्यवस्था और लोगों से लड़कर भक्ति तथा एक महान संस्कृति का प्रचार कर समाज का भी उद्धार करना पड़ा था। परंतु उन्होंने कभी भी हार नहीं मानी और एक सुंदर और सुसंस्कृत समाज के स्वप्न को सार्थक करने का प्रयास किया।

श्री महेश्वर नेओग द्वारा लिखित उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'श्री श्रीशंकरदेव' में वर्णन है– पूब भारतर प्रथम नब–बइष्नब–धर्म प्रवर्तक, असमिया जातीयता, संस्कृति आरु साहित्यर प्राण–प्रतिष्ठाता जगद्गुरु महापुरुष श्री शंकरदेव अवतीर्ण हय 1371 शकत मध्य असमर आलिपूखूरीत; आरु प्राय सकुरी बसर भू–भारतत थाकि असमिया जाति आरु समाजक नतून भेटित थापोना करि, 1490 शकत पूबर बेहारत बैकुंठ–प्रयाण करे।

(नेओग 2016:19)

अर्थात् शंकरदेव पूर्वोत्तर भारत के प्रथम नव–वैष्णव धर्म के प्रवर्तक, असमिया जाति, संस्कृति और साहित्य की प्राण प्रतिष्ठा करने वाले थे।

शंकरदेव ने पूर्ण रूप से धर्म तथा सुसंस्कृत संस्कृति का प्रचार करना शुरू कर दिया था। कोच–कछाड़ी तथा आहोम राजाओं द्वारा धर्म प्रचार में बाधा दिए जाने पर भी वे रुके नहीं।

ब्राह्मण से लेकर तांत्रिक साधू–संन्यासी भी उनके पीछे लगे रहे। इस सब परेशानियों के बावजूद भी शंकरदेव अपने धर्म–प्रचार तथा समाज कल्याण की भावना के प्रचार में अडिग रहे। चित्र महंत ने अपने 'असमिया साहित्य का इतिहास' में लिखा है– "श्रीमंत शंकरदेव असमिया भाषा–संस्कृति समाज के पिता हैं। इनके आविर्भाव से सारा असम आकाश स्वच्छ हो उठा, समाज की संकीणर्ताएँ दूर भागती गईं।"

(महंत 2005:34)

इस तरह कहा जा सकता है कि उत्तर–पूर्व भारत के प्रथम विप्लवी कवि शंकरदेव ने आध्यात्म और भक्ति के माध्यम से जाति–पाति के भेद–भाव को दूर कर भक्ति के क्षेत्र में अनेक देववाद मत तथा तंत्र–मंत्र साधना में फँसे मानव समाज को एकशरणीया भागवत भक्ति देकर, कृष्ण और राम की भक्ति देकर समाज का उद्धार किया।

श्रीमंत शंकरदेव को असमिया ग्रंथ का जनक भी कहा जाता है। शंकरदेव को विभिन्न भाषाओं का ज्ञान था। भारत के प्रचलित तीर्थ स्थलों में घूमने के कारण उन्हें काव्य के लिए सर्वमान्य भाषा के चुनाव का ज्ञान था। यही कारण है कि उन्होंने तत्कालीन भारत की प्रमुख भाषा ब्रज तथा असम की प्रमुख असमिया भाषा को मिलाकर एक नवीन भाषा का सृजन किया, जिसे ब्रजबुली या ब्रजावली की संज्ञा दी। प्रो. भूपेंद्र रायचौधुरी द्वारा संपादित पुस्तक 'असमिया साहित्य निकष' में उन्होंने एक स्थान पर कहा है– शंकरदेव असमिया गद्य के जनक हैं। उन्होंने अपने नाटकों में गद्य का सफल प्रयोग किया है। शंकरदेव ने असमिया भाषा को नवीन जीवन, नवीन शिल्प प्रदान किया। असम के लोकजीवन से उन्होंने शब्द–संभार चुना, नए–नए शब्दों से असमिया शब्द–भंडार को समृद्ध किया, नविन शब्दों एवं अलंकारों से भाषा को सजाया। वर्णन–कुशलता, सूक्ष्म पर्यवेक्षण, काव्यिक सौंदर्य एवं रस संचारण की दृष्टि से शंकरदेव के साहित्य ने असमिया साहित्य को एक मानक एवं प्रतिष्ठित रूप प्रदान किया।

(रायचौधुरी, संपा. 2006:22)

श्रीमंत शंकरदेव ने संस्कृत, असमिया, ब्रजावली तीनों भाषाओं में अपनी रचनाएँ की हैं। 'हरिश्चंद्र उपाख्यान', 'रुक्मिणी हरण काव्य', 'भक्ति प्रदीप', 'गुण माला', 'उत्तर कांड रामायण', 'कीर्तन–घोषा', 'बरगीत' तथा नाटकों में– 'पत्नी प्रसाद नाट', 'कालि–दमन', 'केलि गोपाल', 'रुक्मिणी हरण' आदि लिखकर असमिया भाषा का उद्धार किया तथा इसे संपूर्ण भारत के साथ जोड़ा।

शंकरदेव ने जिस विशृंखलित समाज व्यवस्था का उद्धार कर उसे सुस्थिर तथा सुव्यवस्थित किया था तथा धर्म प्रचार करते हुए अधर्म और पाखंड के गर्त में जाते हुए मानव जाति का उद्धार कर धर्म, संस्कृति, न्याय, प्रेम आदि के प्रति आदर को फिर से उनके हृदय में स्पंदित किया था। शंकरदेव का साथ देने और उनके उद्देश्य की पूर्ण पूर्ति में माधवदेव का योगदान भी सराहनीय एवं अतुलनीय है। यह पूर्ण सत्य है कि असमिया समाज का पुनरुद्धार कर सुंदर सुव्यवस्थित संस्कृति देने में शंकर–माधव का बहुत बड़ा योगदान रहा है। शरीर के बिना जिस प्रकार प्राण का अस्तित्व होते हुए भी स्थिरता नहीं होती, ठीक उसी प्रकार माधव के बिना शंकर भी अधूरे थे। इसीलिए इनको बांधव भी कहा गया है। लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा ने तो शंकरदेव और माधवदेव के मिलन को मणिकांचन–संयोग बताकर असमिया संस्कृति का पुनरुद्धारकर्ता घोषित किया है।

केवल शंकरदेव के लिए ही नहीं वरन् समस्त असमिया जाति और समाज के लिए माधवदेव का अवदान एक वरदान साबित हुआ। शंकरदेव के वैकुंठ प्रयाण के पश्चात् संपूर्ण वैष्णव धर्म का, एक शरणीया हरि नाम धर्म के प्रचार का दायित्व माधवदेव ने अपने कंधों पर लेकर मानवजाति का कल्याण किया। शंकरदेव ने जिस एक शरणीया हरि नाम धर्म की नींव विशृंखलित असमिया समाज में रखी, उसकी शाखाओं को माधवदेव ने ही अपने संपूर्ण जीवन के समर्पण के

द्वारा पोषित किया। माधवदेव ने परम् भक्त एवं ज्ञानी शंकरदेव को अपना गुरु स्वीकार कर अविवाहित रहकर आजीवन गुरु शंकरदेव की सेवा करने का तथा वैष्णव धर्म के प्रचार–प्रसार करने का कठिन व्रत ले लिया और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस मिलन ने तत्कालीन असमिया समाज का एक साथ उद्धार किया। इन्होंने एक साथ मिलकर असम का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टियों से उपकार किया था। माधवदेव द्वारा रचित रचनाएँ कुछ इस प्रकार क्रमानुसार उल्लेखित हैं– 'नामघोषा', 'भक्ति रत्नावली', 'जन्म रहस्य', 'आदिकांड रामायण', 'बरगीत', 'चोर धरा', 'पिम्परा–गुछोवा' इत्यादि।

आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व असम प्रांत धार्मिक बाह्याडंबर तथा राजनीतिक अस्थिरता के कारण त्रस्त था। इन दो महापुरुषों ने यहाँ विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए भी यहाँ के साहित्य, भाषा तथा संस्कृति का व्यापक विस्तार कर नव–निर्माण का कार्य किया। इस संस्कृति उद्धार के प्रतिफलन से आज असम प्रांत के घरों तथा समाज में हरि नाम कीर्तन तथा वैष्णव सेवा का प्रचलन है। जन्म के पश्चात् से लेकर मृत्यु तक के संस्कार हो या गृह प्रवेश से लेकर सामाजिक आयोजन आज सभी गाँव से लेकर शहरों में भी सर्वत्र यहाँ का जनमानस शंकर–माधव द्वारा प्रदत्त बरगीतों और नाम–घोषा तथा कीर्तन–घोषा को गाता है। शंकर–माधव द्वारा प्रचारित नाम–कीर्तन का गायन हर प्रांत तथा हर जनसामान्य की प्रथम पूँजी है और इसे वे शंकरदेव काल से अपने हृदय में सींचते हुए वर्तमान में भी इस संस्कृति को बनाए हुए आने वाले भविष्य को परंपरागत रूप से प्रेरित कर रहे हैं।

मैंने प्रायः अपनी कई यात्राओं में देखा है कि यहाँ शंकर–माधव के महान ग्रंथों के गीत शोभा बढ़ा रहे हैं। इनके ग्रंथों आदि के गीत जनमानस का कंठाहार हैं जिसे वे बड़े ही आदर और प्रेम पूर्वक गाकर अपनी भावी पीढ़ी को यह आदर्श सौंप दे रहे हैं। माधवदेव कृत 'नाम–घोषा' का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

पाप–सागरत तल नियाईलेक
बले कलि दुराचार।
राम–नाम बिने पाप एराईबार
उपाय नाहिके आर।।
हरित शरण लईया यिटोजने
सदा राम–नाम गावे।
हौक बा सकाम निष्काम तथापि
कलिर दोषे नपावे।।

(हाजरिका, संपा. 2003:702)

माधवदेव के अनुसार राम नाम बिना पाप सागर के तल से उबरने का कोई उपाय नहीं है। हरि की शरण लेकर जो भी जन सदा ही राम नाम गाता है वह सकाम कर्मी हो या निष्काम कर्मी कलि के कोप का भाजन नहीं बनता।

माधवदेव इस उश्रृंखलित समाज को हरि नाम तथा हरि की सेवा करने का उपदेश ही नहीं देते बल्कि वे तो इस सेवा के माध्यम से जनमानस को वो सारे गुण सौंप रहे हैं जो एक सभ्य समाज की नींव हैं तथा जीवन का परम लक्ष्य भी बड़ी ही सरलता से दे देते हैं। माधवदेव जनसामान्य को हरि की सेवा का उपदेश देते हुए तथा राम–कृष्ण की गुण राशि का बखान करते हुए कहते हैं–

तुमि भक्त–कल्पतरु बाहिरे भितरे गुरु,
तुमि बिने नाहि मोर आर।
कृपा करा हे हरि चरणत रक्षा करि,
दिया मोक सेवा–रस सार।।

(उपरिवत्:683)

अर्थात् हरि ही भक्तों के कल्पतरु हैं। हरि के सिवा और कोई अन्य उनका उद्धार नहीं कर सकता। इसीलिए माधवदेव हरि से कृपा की याचना करते हुए कहते हैं कि वे अपनी चरण में रक्षा पूर्वक रखकर उनकी चरण सेवा का रस प्रदान करें।

इसी हेतु इतिहासकार चित्र महंत लिखते हैं कि– सच कहा जाए तो माधवदेव ने शंकरदेव प्रवर्तित धर्म की ज्योति समग्र पूर्वी भारत में फैला

दी। साहित्यिक दृष्टि से माधवदेव का पांडित्य कहीं–कहीं शंकरदेव से बढ़कर है। इन्होंने सारे समाज को सभी ओर से एक सूत्र में बाँधकर विराट असमिया जाति का संगठन किया।

(महंत, 2005:22)

श्रीमंत शंकरदेव–माधवदेव विरचित बरगीतों की मधुरता, सरसता, सरलता, उसका भाव बोध तथा गीत्यात्मकता असमिया समाज का प्राण है। यहाँ की आधारशिला बरगीत है। उनके बरगीतों में जनमानस के उद्धार की पुकार है। श्रीमंत शंकरदेव के बरगीत का एक उदाहरण द्रष्टव्य है जहाँ वे राम नाम को मुक्ति दायक कहते हैं। शंकरदेव के अनुसार इस संसार सागर से पार उतरने का एक मात्र साधन राम नाम रूपी तरणी ही है। इस नाम के प्रभाव से समस्त पापों का नाश हो जाता है तथा इसके एक बार उच्चारण से सैकड़ों का उद्धार हो जाता है–

बोलहु राम नामेसे मुकुति निदाना।
भव वैतरणी–तरणी सुख सरणी
नाहि–नाहि नाम समाना।।
नाम पंचानन नादे पलावत
पापदंती भयभीत।
बुलिते एक शुनिते शत नितरे
नाम धरम विपरीत।।

(असम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, 2021:127)

श्रीमंत शंकरदेव समस्त जगत के आराध्य राम की वंदना करते हुए पापियों द्वारा भी राम का पवित्र नाम लेने पर उद्धार की बात बताते हैं। इन्हीं राम के सुमिरन से इस दूर्घोर संसार से पार पाया जा सकता है–

जय जय जगत जनक श्रीराम।
पातकीयो तरे यार लैले गुण नाम।
याक सूमरणे तरि दूर्घोर संसार।
करो हेन रामर चरणे नमस्कार।।

(दत्तबरुवा, 2016:467)

महापुरुष शंकरदेव ने अपने उत्तरकांड रामायण में राम का वह रूप प्रस्तुत किया है जिसका प्रभाव मानव के ह्रदय में महान भावना को उजागर करता है। यहाँ न केवल भगवान राम के जगत उद्धारक रूप का गुणगान हुआ है बल्कि राम कथा प्रसंग के माध्यम से एक कुशल राजा, मर्यादापुरुषोत्तम व्यक्तित्व तथा एक आदर्श पुत्र के रूप में वर्णन कर के समाज के समक्ष ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जो भारतीय समाज की सदियों से नींव रहा है। इसी मर्यादा को उन्होंने वर्तमान समय से परिचित कराया तथा आने वाले भविष्य के लिए भी मर्यादा का एक महान उदाहरण प्रस्तुत कर के जनमानस का कल्याण किया–

राम बन गैला पालि पितृर आदेश।
शुनियोक उत्तरकांडर कथा शेष।।

(उपरिवत्:467)

अर्थात् पिता के वचनों की रक्षा हेतु राम उनकी आज्ञा से वन को भी चले जाते हैं। यह आदर्श निश्चय ही एक सुसंस्कृत समाज की आधारशिला है।

निष्कर्ष : उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रीमंत शंकरदेव और श्री माधवदेव वास्तव में पूर्वोत्तर के प्राण–बांधव हैं। उनके प्रयास से असम आकाश स्वच्छ हो उठा। सामाजिक संकीर्णताएँ विलुप्त होती गईं तथा समाज को एक महान संस्कृति को बचाए रखने की प्रेरणा भी मिली। आज समस्त राज्य इन दोनों महापुरुषों की इस अद्भुत देन की सदा ही वंदना और आदर करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हाजारिका, सूर्यकांत, संपा. कीर्तन–घोषा आरु नाम–घोषा, प्रथम प्रकाशन, गुवाहाटीः लाबण्य प्रकाशन, 2003

2. दत्तबरुवा, हरिनारायण, संपा. सप्तकांड रामायण, चौदहवाँ संस्करण, गुवाहाटी, दत्तबरुवा पब्लिशिंग कंपनी प्रा.लि., 2016

3. रायचौधुरी, प्रो. भूपेंद्र, संपा. असमिया साहित्य निकष, प्रथम संस्करण, गुवाहाटी, विश्वविद्यालय प्रकाशन विभाग, 2006

4. महंत, चित्र. असमिया साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण. गुवाहाटी, असम हिंदी प्रकाशन, 2005

5. अंबर भाग–2, असम माध्यमिक शिक्षा परिषद, पुनर्मुद्रण. गुवाहाटी, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, 2021

– हिंदी शिक्षक, अदलागुरी मजलिया विद्यालय, बोंगाईगाँव, असम–783392

❑❑❑

गालो जनजाति की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना

डॉ. तादाम रूती

गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख जनजातियों में से एक है। इसकी संस्कृति–परंपरा तथा सामाजिक व्यवस्था बहुत समृद्ध और विकसित है। गालो समाज के बारे में यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह अरुणाचल प्रदेश की लगभग पच्चीस जनजातियों में सबसे प्रगतिशील समुदाय है। इसकी कुल जनसंख्या 2011 जनगणना के अनुसार लगभग डेढ़ लाख है। जनसंख्या की दृष्टि से अरुणाचल प्रदेश में यह ञिशी और आदी के बाद तीसरी सबसे बड़ी जनजाति है। गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश के मध्य भाग में स्थित पाँच जिलों में बसी हुई है– वेस्ट सियाङ, लोवर सियाङ, ईस्ट सियाङ, लपा–रादा तथा अपर सुबनसिरी। इन जिलों के अतिरिक्त अरुणाचल के कई जिलों में ये बसने लगी हैं।

गालो जनजाति 'आबो–तानी' नामक आदि–पुरुष को अपना पूर्वज मानते हैं। उनका विश्वास है कि 'आबो–तानी' से ही समस्त मनुष्य जाति का विकास हुआ। गालो मूलतः मंगोल नस्ल के हैं और ऐसा माना जाता है कि ये प्राचीनकाल में तिब्बत के किसी क्षेत्र से अरुणाचल में आए थे। इनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती क्योंकि गालो का कोई लिखित इतिहास नहीं है। इनके बारे में जो थोड़ी–बहुत जानकारी प्राप्त होती है वह उनके लोक साहित्य से होती है। लोक साहित्य को पूर्ण रूप से प्रामाणिक मानने की गलती हम नहीं कर सकते क्योंकि वह अभी तक मौखिक रूप में ही मौजूद है जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देते जाते हैं। इस स्थिति में तथ्य पूरी तरह मनुष्य की स्मृति पर टिका होता है और मनुष्य की स्मृति हमेशा समान या तेज नहीं होती। कभी–कभी जानकार व्यक्ति अपनी सहूलियत के अनुसार तथ्य से छेड़छाड़ भी करते हैं। ऐसे में तथ्य या जानकारी का घटना–बढ़ना जायज है। फिर भी अभी तक के प्राप्त तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि ये तिब्बत से ही आए थे।

गालो की भाषा बहुत समृद्ध भाषा है। इसकी भाषा दुनिया के महान भाषा परिवारों में से एक 'तिब्बतो–बर्मन भाषा परिवार' के अंतर्गत आती है। गालो भाषा में बहुत सारी लोकोक्तियाँ, मुहावरे एवं कहावतें प्रचलित हैं। इसमें साहित्य रचना नहीं होने के कारण भाषा का परिष्कृत रूप अभी तक विकसित नहीं हो पाया है इसलिए अलग–अलग क्षेत्र में थोड़ी भिन्नताएँ देखने को मिल जाती हैं। गालो की भाषा जो पुराने ज़माने में प्रयोग करते थे उसे 'गोङ्कु आगोम' (पुरानी भाषा) कहते हैं। इसे हम भाषा का शुद्ध रूप भी कह सकते हैं। आजकल देश–दुनिया के संपर्क में आने के कारण इसकी भाषा में बहुत सारी भाषाओं का प्रभाव दिखाई देता है। इसके शब्द–भंडार में हिंदी, अंग्रेजी, असमिया, बांग्ला आदि भाषाओं के बहुत सारे शब्द अंतर्भुक्त हो गए।

गालो में आधुनिक शिक्षा के आगमन के पूर्व नीति–नियम की शिक्षा बड़े–बूढ़े लोक–कथाओं, लोक–गीतों, लोकोक्तियों एवं कहावतों द्वारा देते थे। इन शिक्षाप्रद लोक साहित्य का कोई लिखित रूप नहीं है वे मौखिक रूप में ही चलते आ रहे हैं। अलग–अलग परिस्थितियों एवं अवसरों के लिए लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि मौजूद हैं। आज यह विलुप्त होने के कगार पर खड़ा है। नई पीढ़ी पश्चिमी सभ्यता का अंधाधुंध अनुसरण कर रहीं है जिसके कारण वे अपने समाज की अच्छाइयों पर भी ध्यान नहीं दे पा रही है।

गालो जनजाति को उसकी बोली के आधार पर चार उपजातियों में विभाजित कर सकते हैं–

कारगु– कारदी, पूगो, लारे तथा दुमपो–रीजो गालो। 'कारगु– कारदी' वेस्ट सियाङ जिला के उत्तर–पश्चिमी भाग में रहते हैं। इनकी बोली में शब्दों के उच्चारण एवं ध्वनि में अन्य गालो की तुलना में अधिक कर्कशता रहती है। ये लोग बहुत सीधे–सादे होते हैं और रूढ़िवादी भी। 'पूगो' गालो वेस्ट सियाङ के मुख्यालय 'आलो' के आस–पास बसे हुए हैं। ये लोग कुछ ध्वनियों का अधिक प्रयोग नहीं करते जैसे 'र', 'च' इत्यादि। इसलिए इनकी बोली को गालो में सबसे अधिक कोमल एवं मीठी मानी जाती है। मुख्यालय के आस–पास बसे हुए होने के कारण शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने काफी विकास कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र के लोगों ने हर क्षेत्र में काफी तरक्की कर ली है। 'लारे' गालो वेस्ट सियाङ के निचले भाग एवं ईस्ट सियाङ के दक्षिण पूर्वी भाग में बसे हुए हैं। इनकी बोली पूगो गालो तथा कारगु–कारदी दोनों के बीच की है। लारे गालो लगभग सभी ध्वनि का सही–सही उच्चारण करते हैं। दुमपो–रीजो गालो अपर सुबनसिरी जिला के दुमपो–रीजो इलाके में बसे हुए हैं। ये लोग वेस्ट सियाङ या ईस्ट सियाङ के गालो से थोड़ा अलग होते हैं। तागिन जनजाति के समक्ष रहने के कारण इनकी बोली एवं रहन–सहन तागिन जनजाति से काफी प्रभावित है।

परिवार हर समुदाय की समाज–व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई होता है और इसी में रहकर मनुष्य एक साथ रहने की कला तथा एक–दूसरे की मदद करना, अनुशासन आदि शिक्षा पाता हैं। गालो जनजाति में भी परिवार की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गालो में परिवार बहुत बड़ा होता है और अधिकतर संयुक्त–परिवार ही होते हैं जिसमें घर का सबसे बुजुर्ग पुरुष घर का मुखिया होता है। एक परिवार में माता–पिता, दादा–दादी, बेटा–बेटी, भाई–बहन, चाचा–चाची और उनके बच्चे सभी होते हैं। जब चाचा–चाची के परिवार बढ़ने लगते हैं तो वे अलग घर बना लेते हैं। घर का मुखिया जब बुढ़ा हो जाता है तो सबसे बड़ा बेटा घर की जिम्मेदारी उठा लेता है। घर में वृद्ध माता–पिता के साथ–साथ छोटे भाई–बहन के पालन–पोषण की जिम्मेदारी उसी की होती है। इसलिए घर की संपत्ति में भी घर के सबसे बड़े बेटे का अधिकार अधिक होता है। छोटे भाई जब शादी कर लेते हैं तो उनके बच्चें हो जाने के बाद सामान्यतः अलग घर बना लेते हैं पर किसी–किसी परिवार में बच्चों के बड़े हो जाने के बावजूद एक साथ रहते हैं। छोटे भाई अलग घर में रहने के बावजूद बड़े भाई के साथ हमेशा जुड़े रहते हैं। जब भी कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेना होता है या कुछ विशेष अवसर होता है तो बड़े भाई की सलाह जरूर लेते हैं। इस तरह वे हमेशा एक परिवार की तरह जुड़े रहते हैं।

गालो समाज पुरुष–प्रधान समाज है। घर का मुखिया पुरुष ही होता है। अतः जो भी निर्णय होता है वह मुखिया का ही होता है परंतु कुछ–कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए स्त्रियों की भी राय ली जाती है। मध्य या उत्तर भारत के समाज में जो स्त्रियों की अवस्था है उसकी तुलना में गालो समाज में स्त्रियों को बहुत सारे अधिकार एवं आजादी मिली हुई हैं। यूँ तो कहने के लिए पुरुष बाहर का काम–काज देखता है और औरत घर के भीतर का, लेकिन पुरुष और स्त्री बराबर बाहर के भी काम करते हैं। गालो समाज में स्त्रियाँ भी खेती में काम करती हैं और लकड़ियाँ लाना, ओपो (स्थानीय चावल से बनी शराब) बनाना, पशु–पालन, भोजन पकाना, बच्चों का पालन–पोषण आदि अनेक काम करती हैं। पुरुष खेती, शिकार एवं व्यवसाय आदि कार्य करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो स्त्रियों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। गालो समाज में पुत्र और पुत्री को समान रूप से माता–पिता प्रेम करते हैं परंतु अक्सर देखा जाता है कि लोग पुत्र का होना आवश्यक मानते हैं क्योंकि पुत्र ही है जो उसके वंश को आगे बढ़ाता है। गालो की एक अद्‌भुत विशेषता यह है कि जब किसी का नामकरण होता है तो पिता के अंतिम शब्दों को लेकर ही रखते हैं जैसे 'लारता' से 'तादाम' फिर

'तादाम' से 'दाममिन' आदि। इस विशेषता के कारण पुत्र का होना अनिवार्य माना जाता है। बेटियों को अकसर पराया धन माना जाता है क्योंकि बेटी शादी करने के बाद माता–पिता के घर को छोड़कर अपने पति के साथ रहती है। गालो समाज में दामाद की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। उसे अपने सास–ससुर एवं सालों की सेवा करनी होती है। जब भी परिवार में कुछ महत्वपूर्ण कार्य होता है या उत्सव आदि होता है तो ऐसे अवसर पर हमेशा दामाद को याद किया जाता है। इस तरह दामाद एवं पुत्री भी परिवार का ही हिस्सा होता है। पुत्र–वधु की घर में बहुत बड़ी भूमिका होती है। घर की सारी व्यवस्था उन्हीं के हाथों में होती है। पुत्र–वधुओं का भी अलग–अलग नाम होता है जैसे– बड़ी बहू को 'ञामतअ' (ञामते), उसके बाद का 'ञामदअ', उसके बाद 'ञामको', उसके बाद 'ञामरो' और अंतिम वाली को 'ञामी'। बड़ी बहू की जिम्मेदारी सबसे अधिक होती है। उसे अपने पति और संतान के साथ–साथ सास, ससुर, देवर, ननद आदि परिवार, के सभी लोगों की सेवा करनी होती है। उसके काम–काज में घर की बाकी औरतें जैसे सास, ननद, देवरानी आदि भी मदद करती हैं। भाभी और देवर का रिश्ता हँसी–मजाक का रहता है। गालो समाज देवर और भाभी के रिश्ते के लिए काफी बदनाम है। पुराने जमाने में तत्कालीन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण देवर–भाभी में हँसी–मजाक का रिश्ता कभी–कभी इतना आगे बढ़ जाता था कि वह शारीरिक संबंध का रूप भी ले लेता था। ऐसे रिश्तों की समाज उस समय निंदा तो करते थे पर अनैतिक नहीं मानकर कभी–कभी नज़रअंदाज़ कर देते थे। परंतु परिस्थितियाँ आज बदल गई हैं। विभिन्न सभ्यताओं के संपर्क में आने के बाद इस तरह के रिश्तों को आजकल अनैतिक मानते हुए काफी निंदा की जाती है पर देहातों में अपवाद के रूप में एकाध घटना देखने को मिल सकती है। गालो में एक ही जाति/वंश के (अपने पिता के) जितनी भी पीढ़ी के लोग होते हैं चाहे वह पुरुष हो या स्त्री 'आबो' (पिता) कहते हैं जैसे पिता से बड़ों को 'आबो काई' (बड़े पिता), छोटे को 'ञाञा या आबाई' (चाचा या छोटे पिता) और लड़कियों को 'आबो ञिजिर/पाते' (लड़की पिता) आदि। चाची को 'आनअ' (माँ) या 'आन ञिजिर' (जवान माँ) कहकर ही पुकारते हैं और भतीजा–भतीजी आदि को 'आओ' (पुत्र या पुत्री) ही कहते हैं। चाचा–चाची अपने बच्चों से जितना प्रेम करते हैं उतना ही भतीजा–भतीजी को भी प्यार करते हैं। जीजा–साली का रिश्ता भी हँसी–मजाक का ही रहता है। गालो में बड़ों का सदैव आदर किया जाता है। बड़ों को कभी भी नाम से नहीं बुलाते; उन्हें चाचा, मामा, दादा, नाना आदि कहकर पुकारते हैं। अगर कोई बड़ों को नाम से बुलाते हैं तो उसे असभ्य या संस्कारहीन माना जाता है और बड़े गुस्सा भी करते हैं। इस तरह गालो समाज में एक–दूसरे के साथ घनिष्ठ रिश्ता होता है।

शादी– ब्याह मनुष्य जीवन का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। हर समाज की विवाह पद्धति अलग–अलग होती है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को अपने मायके छोड़कर ससुराल जाना होता है। गालो समाज में भी विवाह के उपरांत लड़की पति के साथ रहती है और अपने नाम के साथ पति के नाम की उपाधि को जोड़ना होता है अर्थात् वह पूर्ण रूप से अपना सब कुछ छोड़कर पति की हो जाती है। गालो में विवाह पद्धति को 'ञिदा' कहते हैं। गालो में पारंपरिक विवाह प्रक्रिया बहुत लंबी होती है। सबसे पहले लड़के वालों की ओर से 'लामपो' (मध्यस्थ) लड़की का हाथ माँगने के लिए लड़की के घर उपहार स्वरूप कुछ वस्तुएँ लेकर जाना होता है जैसे– ओपो (स्थानीय शराब), रोकसा (गालो तलवार), जेरा (रेशम की चादर), माँस– मछली आदि। लड़की वाले उपहार स्वीकार करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि रिश्ता स्वीकार है और अगर उपहार स्वीकार नहीं किया तो इसका अर्थ 'न' होता है। रिश्ता स्वीकार करने से पहले माता–पिता या बुजुर्ग अकसर लड़की की सहमती लेते हैं। रिश्ता स्वीकार करने

के पश्चात् दोनों समधी शादी की रस्म के लिए तैयारियाँ शुरू कर देते हैं। तैयारियाँ समाप्त होने के बाद लड़की वालों के कहे अनुसार लड़के वाले बारात लेकर लड़की के घर आते हैं। उसमें लड़की वाले गर्मजोशी के साथ उनकी मेहमाननवाजी करते हैं। बारात अकसर तीन रात रहती है। उस तीन दिन में लड़की वालों की ओर से पूरे गाँव वाले बारातियों का आदर–सत्कार करते हैं। घर–घर में बारातियों को बुलाते हैं और उन्हें खाना और ओपो इत्यादि खिलाते–पिलाते हैं। उनके मनोरंजन के लिए नृत्य–गान का भी प्रबंध किया जाता है। लड़की वालों तथा लड़के वालों के बीच काफी हँसी–मज़ाक, छेड़–छाड़, नोंक–झोंक भी होती है। इस तरह माहौल उत्सव का सा रहता है। इसके बाद लड़के वाले चले जाते हैं। एक–दो दिन बाद लड़की वाले लड़की को विदाई देने के लिए गाँव वालों के साथ लड़के के गाँव जाते हैं। गाँव पहुँचने से पहले ही रास्ते पर लड़के वाले ओपो–आचिन (खाना–शराब) आदि के साथ स्वागत करते हैं। गाँव में प्रवेश करते समय गाँव वाले एकत्र होकर लड़की वालों का स्वागत करते हैं जिसमें वे एक प्रकार का नृत्य भी करते हैं। उस रात को मेहमानों के मनोरंजन के लिए नृत्य–गान आदि चलता है। दूसरे दिन मिथुन (एक प्रकार का जानवर जो गालो में बहुत मूल्यवान है) तथा अन्य जानवरों की बलि दी जाती है। लड़के वालों के सामर्थ्य के तथा लड़की वालों की रज़ामंदी के अनुसार मिथुन की बलि दी जाती है। अमूमन कम से कम दो मिथुन की बलि दी जाती है। लड़की वालों की स्वीकृति इसलिए ली जाती है क्योंकि जितने मिथुन मारेंगे उसके मूल्य को लड़की वालों को चुकाना होता है। उसके बाद रात को लेन–देन की बात होती है। गालो समाज में लड़की का 'आर' या 'आलिक आर' (कन्या मूल्य) लड़की के माता–पिता को देना होता है। एक लड़की के लिए कुछ मूल्य निर्धारित किया गया है जैसे– दो मिथुन, बैल का जोड़ा, एक गाय, जलाया हुआ सुअर, रोकसा (गालो तलवार), ओपो आदि। निर्धारित वस्तुओं से एक वस्तु भी अति हो जाता है तो उसी वस्तु के मूल्य का लड़की के माता–पिता को 'आदाम–बाती' या 'आमे' (कांस्य का बना थाली–कटोरा आदि) तथा 'तादोक–दोकमिन' (पारंपरिक मनका एवं माला) देना होता है। इस दौरान भी लड़के के गाँव वाले मेहमानों को ओपो–आचिन के लिए आमंत्रित करते हैं। लगभग गाँव के सभी लोग मेहमानों को आमंत्रण देते हैं और हर घर में ओपो–आचिन दिया जाता है। इस तरह रस्म समाप्त होने पर लड़की वाले नववधु को छोड़कर अपने घर वापस चले आते हैं।

आजकल पारंपरिक विवाह बहुत कम दिखाई देता है क्योंकि यह बहुत खर्चीला होता है। आजकल लड़का–लड़की आपस में प्रेम विवाह करते हैं। ऐसी स्थिति में भी कम से कम कुछ रिवाज तो करना ही होता है जैसे– 'ञामे लायाब' (एक प्रकार की रस्म जिसमें भगवान और समाज को साक्षी मानकर यह घोषणा की जाती है आज से लड़का और लड़की पति–पत्नी है) 'ञामे–लायाब' में संपूर्ण गाँव वालों को आमंत्रित करते हैं। इसमें भी ओपो–आचिन का प्रबंध किया जाता है। अपने सामर्थ्य के अनुसार मुर्गी से लेकर मिथुन तक मारा जाता है। इसमें 'ञिबुह' (पुजारी) मंत्रोचार करते हैं और विधाता को, पूर्वजों तथा गाँव वालों को साक्षी मानकर लड़का–लड़की की सुख– समृद्धि के लिए पूजा करते हैं और दोनों के बालों में तीन–चार मुर्गी के पंख चिपकाते हैं जिसे 'रोगमी येगनाम' कहते हैं। इस तरह दोनों सदैव के लिए पति–पत्नी के बँधन में बँध जाते हैं।

गालो समाज में संपत्ति के रूप में पहले ज़मीन, आमे–तादोक (काँस्य का बर्तन एवं माला/ मनका), पशुधन आदि होता था। गालो में संपत्ति पर पुरुषों का ही अधिकार होता है लेकिन आमे–तादोक पर स्त्रियों का होता है। स्त्रियाँ ही आमे–तादोक को रखती हैं लेकिन पति के या पुरुष के बिना आज्ञा के वह उसको किसी को नहीं दे सकती या बेच सकती। इस प्रकार उस

पर भी पुरुषों का ही अधिकार होता है। पिता के देहांत के बाद ज़मीन पर पूरी तरह से पुत्र का अधिकार होता है। सामान्यतः ज़मीन का बँटवारा सभी पुत्रों में बराबर से किया जाता है लेकिन किसी–किसी स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र अधिक दावा करते हैं क्योंकि उनकी जिम्मेदारी भी अधिक होती है। पशुधन पर भी पुत्रों का ही अधिकार होता है और उसका भी समान रूप से ही विभाजन होता है। ऐसा कहा जाता है कि तादोक या दोकमिन (मनका या माला) बेटियों के लिए होते हैं पर पिता की मृत्यु के बाद उसपर पुत्रों का ही अधिकार होता है। बेटियाँ विवाह उपरांत उसे प्राप्त करने के लिए उसी के मूल्य का ओपो–आदिन (शराब–माँस) आदि लेकर 'दूने इन्नाम' (मायके जाना) जाना होता है। इस तरह तादोक या दोकमिन स्त्रियों द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती जाती है। अगर कोई व्यक्ति पुत्रहीन ही देवलोक चला जाता है तो उनकी संपत्ति पर करीबी रिश्तेदार जैसे भाई–बंधु या चाचा–भतीजा अधिकार जमाते हैं। बेटियों का ज़मीन पर अधिकार नहीं होता है। अन्य संपत्ति जिसे एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकते हैं उसे वह ले जा सकती है पर ज़मीन नहीं।

गालो के पारंपरिक प्रशासन व्यवस्था को 'कबा' कहते हैं। समाज को चलाने की यह बहुत व्यवस्थित व्यवस्था है और इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। गाँव के जितने भी बुजुर्ग एवं युवा पुरुष होते हैं वे सब 'कबा' का सदस्य होते हैं। सामान्यतया स्त्रियाँ इसकी सदस्या नहीं होती लेकिन विशेष परिस्थितियों में उनकी राय भी ली जाती है और 'कबा आगेर' (सामाजिक कार्य) में वे भी कार्य करती हैं। 'कबा' शब्द लोगों के समूह या जनता के लिए भी प्रयोग किया जाता है। 'कबा' ही गाँव के नियम–कानून बनाते हैं और अपराधियों को दंड भी देते हैं। जितनी भी घटना या झगड़ा, चाहे जिस प्रकार के भी हों उसका सुलह 'कबा' ही करता है। घटना या झगड़ा सुलझाने के अतिरिक्त जितने भी सामाजिक कार्य होते हैं उसे भी कबा ही करता है। 'कबा–आगेर' के अंतर्गत घर बनाना, 'लूला/लूराप रागनाम' (पशुओं को जंगल में बंद रखने के लिए बेड़ा बनाना), किसी की मृत्यु होने पर उसको दफ़नाना, किसी के बीमार होने पर खेती कर देना, गाँव की साफ–सफाई आदि। कबा आगेर के लिए अमूमन घर–घर जाकर बुलाना जरूरी नहीं समझा जाता। किसी बुजुर्ग के कहने पर जवान लड़का गाँव की गलियों से ही ज़ोर–ज़ोर से आवाज लगाकर सबको काम के बारे में बता देते हैं। कबा आगेर में आना बाध्य होता है और अगर कोई इसमें अनुपस्थित हो गया तो जुर्माना लिया जाता जो 'कबा मुर्को' (कबा के पैसा/खाता) में जमा हो जाता है।

किसी भी समाज का आधार उसका धर्म और लोक–विश्वास होता है क्योंकि धर्म और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गालो में विश्व के अन्य समुदायों की तरह व्यवस्थित धर्म जैसा कुछ नहीं था। उनका धर्म ही जीवन–शैली है और जीवन–शैली ही धर्म। गालो समाज विश्वास करते हैं कि ब्रह्मांड में 'जिमी' का अस्तित्व मौजूद था जिसने सृष्टि का निर्माण किया। 'जिमी' का अर्थ होता है 'शांति' या 'शून्य'। 'जिमी' को हम 'स्वयंभू' (परमात्मा) के रूप में देख सकते हैं। 'जिमी' ने 'मदो–सिची' (आकाश और ज़मीन) को बनाया और दोनों के मिलन से सृष्टि का विकास हुआ। उनसे ही आदि–पुरुष 'आबो तानी' उत्पन्न हुआ और आबो तानी से समस्त मनुष्य जाति का। गालो समाज विश्वास करते हैं कि संसार के सभी जीव–जंतु एक ही विधाता की निर्मिति है इसलिए सबको वे आदर करते हैं। गालो जनजाति प्रकृति की पूजा करती है। 'दोञी–पोलो' (सूर्य–चंद्र) को देवी–देवता के रूप में पूजते हैं। सूर्य को 'आन/आने दोञी' (सूर्य माता) कहते हैं क्योंकि इस सृष्टि की उर्जा का मूल स्रोत सूर्य ही है। और चाँद रात को अँधेरे को चीरते हुए प्रकाश फैलाता है इसलिए चंद्र को पिता 'आबो/आब पोलो' (चंद्र पिता) कहते हैं। दोञी–पोलो के अतिरिक्त खेती का, घर का, जंगल का आदि बहुत सारे देवी–

देवताओं की भी पूजा करते हैं। इसके साथ ही प्रेतात्माओं और शैतान की भी मान्यता है जो लोगों को बीमार कराते हैं। ऐसे प्रेतात्माओं और शैतान से बचने के लिए भी पूजा करते हैं। इस तरह पूजा अलग–अलग तरह की होती है जिसे 'उइ/उयु मोनाम' या' दिप मोनाम' कहते हैं। 'उइ/उयु' का शाब्दिक अर्थ बहुत लोगों ने अपनी अंग्रेजी की पुस्तकों में 'भूत–प्रेत' के अर्थ में ही प्रयोग किया है जिसके कारण उनको पढ़ने वाले पाठक यह समझने की भूल करते हैं कि गालो जनजाति के लोग भूत–प्रेत की पूजा करते हैं। वास्तविकता यह है कि गालो में 'उइ/उयु' का अर्थ प्रेतात्माओं के साथ–साथ पवित्र आत्माओं (देवताओं) के लिए भी किया जाता है। इस प्रकार पूजा अलग–अलग तरह की होती है जैसे सुख–समृद्धि और अच्छी फसल के लिए 'दिगो–बारजि' पूजा करते हैं। अच्छे स्वास्थ्य और अच्छे शिकार के लिए 'आइ–आगाम' या 'काले' पूजा करते हैं।

गालो लोगों की मान्यता है कि हर जीव में आत्मा होती है इसलिए उसकी बेवजह जान लेना पाप होता है। गालो लोग जब भी शिकार करते हैं तो उसके लिए पूजा करते हैं। जंगल काटने पर या बड़े–बड़े वृक्षों को काटने पर भी पूजा करते हैं। इस तरह अनेक अवसरों में पूजा की जाती है। जैसे कि पहले कह चुके हैं कि गालो विश्व के अन्य धर्म की तरह व्यवस्थित धर्म नहीं था लेकिन आजकल परिस्थितियाँ बदल गई हैं। ईसाई धर्म के तीव्र प्रचार– प्रसार के कारण बहुत से लोग धर्मांतरित हो रहे हैं। धर्मांतरण के बहुत कारण है जिसमें से मुख्य हैं– ईसाई धर्म पश्चिमी देशों से आया है अर्थात् पश्चिमीकरण को लोगों द्वारा आधुनिकीकरण का पर्याय मानकर अपनाना, ईसाई धर्म की सुगमता और लचीलापन, सनातनियों में 'ञिब/ञिबु' (पुजारी) की कमी आदि। इस अंतिम कारण यानी पुजारी की कमी धर्मांतरण का एक बहुत बड़ा कारण है। पुजारी की घटती संख्या का कारण यह है कि कोई भी अपनी इच्छानुसार पुजारी नहीं बन सकते। पुजारी बनना पैदाइश होता है या उसे 'यीरना–गोना' (विधाता) चुनकर भेजते हैं और चुने हुए व्यक्ति को पुजारी बनने का संकेत मिलने पर बहुत सारी पाबंदी या विधि–निषेध का पालन करना होता है तब जाकर कोई पुजारी बन पाता है। इस समस्या के समाधान के लिए और धर्मांतरण की समस्या के समाधान के लिए लोगों ने एक मुहिम जैसे सनातन धर्म आंदोलन चलाया है। इन लोगों में अन्य धर्म की तरह सनातन विश्वास को व्यवस्थित बनाने के लिए 'देरः/गाङगी' (मंदिर) बनाया है जिसमें लोग रविवार के दिन जाते हैं और विधिवत तरीके से दोञी–पोलो की पूजा करते हैं।

अधिकतर गालो आबादी कृषि–कार्य पर ही आश्रित है। पर्वतीय क्षेत्र में बसने के कारण ज्यादातर झूम खेती करते हैं साथ ही साथ पानी खेती भी करते हैं। ज्यादातर गालो परिवार आत्मनिर्भर हैं। बहुत मेहनती प्रवृत्ति के होने के कारण खेतों से अन्न निकालने वाले परिवार के पालन–पोषण के लिए काफी होते हैं। झूम खेती में धान, तामी (बाजरा जैसे अनाज), मक्का, कच्चू, शकरकंद (मीठा आलू) तथा विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ बोते हैं। झूम खेती के लिए हर साल जगह को बदला जाता है। जंगल को काटकर जलाया जाता है और उसे साफ करके खेती की जाती है। इस प्रक्रिया में जंगल काटने से पहले पूजा करते हैं और बड़े–बड़े वृक्षों को काटने के लिए भी पूजा करते हैं। इस तरह फसल बोने और उठाने तक कई रस्मो–रिवाज करते हैं। धान या मक्का को सामूहिक रूप से बोया जाता है अर्थात् धान या मक्का बोने के लिए गाँव की औरतों को बुलाते हैं जिसे 'रिगबो' कहते हैं। ऐसे में काम करने वालों के लिए 'ओपो–आचिन' (खाना–पीना) का इंतज़ाम मेज़बान को करना होता है। 'रिगबो' में किसी को बुलाते हैं तो बदले में जिसको बुलाया है उसके वहाँ भी इसी तरह 'रिगबो' बुलाने पर जाना अनिवार्य होता है। गालो में जो भी बड़ा कार्य होता है उसके लिए 'रिगबो/रिगे' बुलाया जाता है। इसके कई फायदे होते हैं जैसे– जो काम हम अकेले नहीं कर

सकते उसे सामूहिक रूप से करने से आसानी से किया जा सकता है और एक साथ काम करने में हँसी–मज़ाक भी चलता है जिससे थकान का एहसास नहीं होता। इसका और एक फायदा यह है कि समाज एक सूत्र में हमेशा बँधे रहते हैं। कृषि कार्य से संबंधित अनेक रीति–रिवाज तथा उत्सव होते हैं। पहली बार जब फसल बोते हैं और फसल उठाकर जब सब कार्य समाप्त हो जाते हैं उस समय उत्सव सा माहौल रहता है। गाँव के सभी लोगों को दावत देते हैं और 'दिगो–बारजि' पूजा करते हैं।

त्योहार या उत्सव मनुष्य के संघर्ष भरे जीवन में पुनः उत्साह एवं ऊर्जा भरने का काम करते हैं। गालो समाज में भी कई उत्सव मनाते हैं जिसमें से 'मोपिन' सबसे महत्वपूर्ण है। अरुणाचल प्रदेश में मोपिन को सिर्फ गालो लोग ही पसंद करते हैं ऐसा नहीं है, लगभग सभी समुदाय के लोग मोपिन का बेसब्री से इंतजार करते हैं। मोपिन त्योहार मनाने की तिथि पाँच अप्रैल तक है लेकिन यह कम से कम तीन दिन मनाया जाता है और किसी–किसी क्षेत्र में पूरे अप्रैल मनाते हैं। कृषिप्रधान समाज होने के कारण 'मोपिन' त्योहार कृषि से ही संबंधित है। अच्छी फसल एवं सुख–समृद्धि के लिए यह त्योहार मनाया जाता है। इस त्योहार के दौरान मिथुन, सुअर आदि की बलि देकर 'जितह–बोतह' पिङ्कू–पिन्तह' या 'आने मोपिन' (समृद्धि की देवी) को धन्यवाद देते हैं। बलि पर चढ़ाए गए पशुओं के माँस को सामूहिक भोज के लिए तैयार किया जाता है। त्योहार का मुख्य आकर्षण 'पोपिर' (एक प्रकार का नृत्य जो सिर्फ मोपिन में किया जाता है और एक–दूसरे के कंधे को पकड़कर पोपिर गीत गाते हुए करते हैं) और चावल के आटा को भिगो कर एक–दूसरे पर लगाना होता हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के उत्सव मनाते हैं जैसे– ञिरमेन आलो, मारी, मोध, आमो–लाबेक, आमो–लाचुम आदि। संस्कार से संबंधित रीति–रिवाज भी उत्सव की तरह मनाया जाता है जैसे– बच्चे के नाभी गिरने पर नामकरण, शादी–ब्याह आदि।

विश्व के हर आदिम समाज ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज भी रूढ़ियों तथा बुरी प्रथाओं से वंचित नहीं है। इस मामले में गालो समाज भी अपवाद नहीं है। गालो समाज में भी बहुत सारी रूढ़ियाँ एवं बुराइयाँ विद्यमान हैं विशेषकर ग्रामीण तथा सुदूर क्षेत्रों में। गालो में अगर किसी की दुर्घटनावश अकाल मृत्यु हो जाती है तो उसे अशुभ मानते हुए उस घर में लोग कुछ दिनों के लिए आवा–जाही बंद कर देते हैं। ऐसे ही अगर कोई आत्महत्या करता है तो भी उस घर में खाना–पीना भी अच्छा नहीं मानते। और अगर किसी को साँप डँस लेता है तो उसे भी अशुभ मानते हुए पीड़ित को अपने घर में भी रहने नहीं देते। उसके लिए गाँव से थोड़ी दूरी पर घर बनाकर कुछ दिनों के लिए रहने दिया जाता था। वैज्ञानिक ज्ञान तथा चिकित्सा शास्त्र के विकास के कारण इसका उपचार आजकल हो जाता है इसलिए आजकल साँप के डँसने पर घृणा नहीं करते। स्त्रियों के संबंध में भी कुछ प्रथाएँ प्रचलित हैं जैसे गालो समाज में आज भी दूर–दराज इलाकों में स्त्री के मासिक धर्म को घृणा माना जाता है। उनका विश्वास है कि मासिक धर्म वाली स्त्री के संपर्क में आने से 'याबुर' (अशुभ) हो जाता है। घर में अगर किसी स्त्री का मासिक धर्म होता है तो वह 'बागो' (घर का वह हिस्सा जहाँ पुरुष बैठते हैं) में नहीं जाती और पुरुषों के लिए जिस बर्तन में खाना बनता है उस बर्तन से वह नहीं खा सकती। यहाँ तक कि घर में सीढ़ी चढ़ने के लिए उसे 'ञिमे कोबा' (गालो घर में चढ़ने के लिए दो सीढ़ियाँ होती हैं एक पुरुषों के लिए दूसरी स्त्रियों के लिए) से ही चढ़ना होता है। पुराने ज़माने में बाल–विवाह तथा अनमेल विवाह भी काफी प्रचलन में थे लेकिन आधुनिक शिक्षा के कारण लगभग यह पूरी तरह से समाप्त हो गया। गालो में आज भी अगर कोई परिवार का व्यक्ति गुजर जाता है तो जिसने शव को उठाया या दफनाया उसे कुछ महीनों तक या

साल भर खाने–पीने में परहेज होता है जैसे– अदरक, कद्दू, लौकी आदि। इसके अलावा भी बहुत सारी पूजाएँ ऐसी होती है जिसमें पाँच दिन से लेकर एक–दो वर्ष तक विधि–निषेध का पालन करना होता है।

गालो समाज आत्मनिर्भर है। इसमें अमीर–गरीब दोनों वर्ग के लोग रहते हैं लेकिन गरीबी की सीमा भीख माँगने की स्थिति की नहीं होती। पर्वतीय इलाका होने के कारण जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है और क्षेत्रफल अधिक होने के कारण जो मेहनत करते हैं वे परिवार के पालन–पोषण के लिए अनाज पैदा कर ही लेते हैं। गालो समाज का ताना–बाना इस प्रकार बुना हुआ है कि सब एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं चाहे वह सामाजिक रूप से हो या आर्थिक रूप से। आर्थिक रूप से जुड़े होने के कारण मुसीबत के समय एक–दूसरे की मदद करते हैं। गालो का आर्थिक ढाँचे का मूलाधार कृषि कार्य ही है। पुराने ज़माने में अधिकतर लोग धान, मक्का, तामी (बाजरा जैसी एक फसल) आदि की ही खेती करते थे जिसे परिवार वाले ही खाते थे। लेकिन आजकल अनेक तरह के फसल लगाते हैं। आजकल अपने खाने के साथ–साथ व्यवसाय के लिए भी खेती करते हैं जैसे– संतरे, अनानास, चाय, रबर, इलाइची आदि।

गालो में पुराने ज़माने से ही पशु–पालन घरेलू, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा व्यवसाय के लिए किया जाता था और आजकल भी ये तीन उद्देश्य के लिए पशु को पालते हैं। पशुओं में सबसे महत्वपूर्ण और मूल्यवान मिथुन होता है। जिसके पास मिथुन की संख्या अधिक होती थी उसे धनी माना जाता था। मिथुन का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्व अधिक है। जब भी शादी–ब्याह, उत्सव–त्योहार, झगड़ा–विवाद, बड़ी पूजा तथा आर्थिक मुसीबत के समय बहुत काम आते हैं। उसके पश्चात् गाय–बैल, सुअर, कुत्ता, बकरी, मुर्गी इत्यादि आते हैं।

गालो का पुराने ज़माने में व्यावसायिक संबंध तिब्बत और असम से था। व्यवसाय में वस्तुओं द्वारा ही आदान–प्रदान होता था। अधिकतर नमक, आमे (कांस्य का बर्तन), तादोक–दोकमिन (मनका– माला), रोकसा (तलवार) आदि तिब्बत से आते थे और जेरा (रेशम की चादर), चाँदी आदि असम से। अंग्रेजों के आगमन के बाद व्यावसायिक संबंध असम से सुदृढ़ हो गया और कीमती मनका–माला, तलवार, आमे आदि के अतिरिक्त खान–पान की चीजें असम से ही आने लगीं। वर्तमान काल में गालो लोगों को समझ में आ गया कि केवल खेती करने और सरकारी नौकरी से सबको रोजगार तथा बेहतर जीवन नहीं मिल सकता इसलिए व्यवसाय एक अच्छे रोजगार के विकल्प के रूप में लोग अपना रहे हैं। इस तरह व्यवसाय के क्षेत्र में बहुत से गालो लोग प्रवृत्त हो रहे हैं। प्रगतिशील विचारधारा होने के कारण अपने व्यवसाय मात्र अपने जिले तक सीमित नहीं रखकर अपनी परिधि को विस्तार दे रहे हैं। सड़कों के किनारे सब्जी बेचने वालों से लेकर, कपड़ों की दुकान चलाने तथा अच्छे–अच्छे होटल चलाने जैसे अनेक व्यवसाय में गालो देखने को मिल जाते हैं।

आधुनिकता के कारण गालो समाज के मूल रूप या संरचना में काफी परिवर्तन आ रहे हैं। गालो समाज को आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आए ज्यादा समय नहीं हुआ। देश के स्वतंत्र होने के कुछ वर्ष पूर्व का ही गालो का लेखा–जोखा मिलता है। कहने का अर्थ यह है कि इसका इतिहास तकरीबन सौ साल पुराना ही है लेकिन इतने अल्पावधि में गालो ने बहुत तरक्की कर ली और इसके सामाजिक ढाँचे में भी बहुत परिवर्तन आ गया है और यह निरंतर परिवर्तन की ओर आग्रसर हो रहे हैं। आज तराई इलाकों में रहने वाले गालो अधिकतर ईसाई धर्म में परिवर्तित हो गए जिसके कारण एक नई प्रजाति का आविर्भाव हो रहा है। धर्मांतरित गालो अपनी संस्कृति–परंपरा सबकुछ त्याग रहे हैं यहाँ तक कि जो शहरी इलाकों में बस गए वे अपनी बोली तक को त्याग रहे हैं। यह परिवर्तन अच्छे भविष्य का संकेत नहीं है। जो अपनी संस्कृति त्याग कर

पश्चिमी सभ्यता को अपना रहे हैं वह नाम मात्र के गालो रह गए। ऐसे लोगों को गालो कहना कहाँ तक उचित है यह एक प्रश्न है। त्योहार मनाने की विधि और उद्देश्य बदल रहे हैं। त्योहारों में ईसाई अधिकतर हिस्सा नहीं लेते और जो लेते हैं वे पूजा का विरोध करते हैं इसलिए उनको संतुष्ट करने के लिए बिना पूजा किए ही पशुओं की बलि चढ़ाई जाती है। बलि कहना उचित नहीं पशुओं को मारते हैं। यहाँ सनातनी भी अपने धर्म की रक्षा के नाम पर धीरे–धीरे हिंदू धर्म की तरह विकसित हो रहे हैं।

आधुनिक जीवन शैली मनुष्य को स्वार्थी एवं व्यक्तिवादी बना रही है और गालो भी समूह में रहने के अपने गुण को शनैः शनैः खो रहे हैं। आज गालो में ऐसे लोग भी हैं जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए भी अपनी संस्कृति को बचाए रखने का प्रयास कर रहे हैं। गालो संस्कृति में बहुत सारी अच्छाइयाँ हैं जिसको संजोकर रखने का प्रयास चल रहा है और रूढ़ियों एवं बुराइयों को बदलते हुए समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने को तत्पर है। इस तरह गालो समाज अपने आपका निरंतर परिष्कार करते हुए विकास की ओर अग्रसर हो रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दाइ, मामाङ, 'अरुणाचल प्रदेश– द हिदेन लेंड', पेंग्विन नियु दिल्ली।

2. सिराम, जुमसी, 'गालो लोक जीवन एवं संस्कृति', हिमालय प्रकाशन, ईटानगर, अ.प्र.।

3. कारलो, तादो, गालो–अंग्रेजी शब्दकोश, गालो वेल्फेयर सोसाइटी, ईटानगर, अ.प्र.।

4. पांडे, डी. एंड त्रिपाठी. बी., 'हिस्ट्री ऑफ अरुणाचल प्रदेश' बानी मंदिर पब्लिशर्स, पासीघाट, अ.प्र।

साक्षात्कार

1. श्री किरी लोलेन, सहायक प्रोफेसर (अंग्रेजी), दोञी पोलो गवर्मेंट कॉलेज, कामकी, वेस्ट सियाङ, अ.प्र.।

– सहायक प्रोफेसर, गवर्मेंट कॉलेज दोइमुख, जिला पापुम पारे, अरुणाचल प्रदेश

❑❑❑

चोमांगकान : कार्बी जनजाति का सर्वप्रमुख मृत्यु–अनुष्ठान

प्रो. जय कौशल

हम सब जानते हैं कि मृत्यु एक शाश्वत सत्य है। जन्म, विवाह आदि शाश्वत नहीं है और न ही अपरिहार्य। इनका होना या न होना परिस्थितियों पर निर्भर करता है। किंतु किसी भी जीवन धारण करने वाले जीव के लिए मृत्यु एक ऐसी अपरिहार्य घटना है, जिसका उसे चाहे–अनचाहे लगातार साक्षात्कार होता रहता है। इसीलिए विश्व के अधिकतर मानव संप्रदायों में, आदिम हो विकसित, किसी अपने की मृत्यु होने पर परिजनों द्वारा उसके संस्कार की कोई न कोई विधि जरूर की जाती है। मृतक के साथ अपने अति निकट संबंधों के कारण मरणोपरांत भी उसके मंगल की कामना से अनेक ऐसे अनुष्ठानों का आयोजन होता रहा है, जिन्हें मृतात्मा के सुख एवं शांति का दायक तथा लोकांतर में उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं का अपहारक समझता है। पूर्वोत्तर सृजन पत्रिका का लेटेस्ट अंक यदि आपने देखा हो, तो उसमें अरुणाचल प्रदेश की मोनपा जनजाति पर आधारित येसे दोरजी थोंगछी के उपन्यास 'शव काटने वाला आदमी' पर एक लेख छपा है। कहते हैं, इस जनजाति के लोग मृतकों के शव को एक सौ आठ टुकड़ों में काटकर नदी में बहा देते है। शव काटकर नदी में बहाना इनके समाज में पुण्य का काम माना जाता है। तो अलग–अलग समुदाय, संप्रदाय अलग–अलग ढंग से मृत्यु के बाद की रीतियों का पालन करता है। कार्बी जनजाति में भी मृत्यु के बाद मृतक के परिजनों द्वारा एक विशिष्ट अनुष्ठान का आयोजन किया जाता है, जिसे 'चोंमांगकान' कहते हैं।

चोमांगकान दो से लेकर सात दिनों तक चलने वाला असम के प्रमुखतया कार्बी आंगलोंग क्षेत्र में पाई जाने वाली कार्बी जनजाति का सबसे महत्वपूर्ण मृत्यु–उत्सव है, जो मृतक के परिवार की आर्थिक स्थिति के अनुसार एक–दो साल बाद तक भी किया जा सकता है। हालाँकि कार्बियों के यहाँ स्वर्ग या नरक की कोई अवधारणा नहीं है, लेकिन ये आत्मा की अमरता, मृत्यु के बाद भी जीवन यानी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। साथ ही, मृतकों को भी उतने ही सम्मान का हकदार मानते हैं, जितना कि वे जीवित रहते हुए होते। हम जानते हैं कि मृत्यु दो तरीके से होती है– स्वाभाविक और अकाल। एक उम्र के बाद होने वाली स्वाभाविक मृत्यु को 'थि कुंगरी' कहते हैं और किसी असाध्य बीमारी से, डूबने से, जलने से, आत्महत्या से, किसी जानवर के हमले आदि से होने वाली मृत्यु 'थि कापालांगनो' कही जाती है। मृत बच्चों को भी इसी के अंतर्गत माना जाता है।

इनके अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा चोम आर्लोंग यानी उनके पुरखों के स्थान अथवा मृत्यु के राजा के राज्य में चली जाती है और जब उस कुल में कोई बच्चा जन्म लेता है तो उसकी आत्मा बनकर वापस आ जाती है। आत्मा की यात्रा चोमांगकान अथवा थी–कारही का अर्थ है– मृतकों के सम्मान में किए जाने वाले कर्मकांडों का अनुष्ठान। यह अनिवार्य रूप से परिजनों द्वारा अपने मृत रिश्तेदारों के लिए आयोजित समारोह है, लेकिन पूरे गाँव और क्षेत्रों की भागीदारी इसे एक सामाजिक–सांस्कृतिक उत्सव बना देती है।

रोचक बात है कि, पहले कार्बी में मृत्यु–अनुष्ठान के लिए आर्लेंग कार्हीशब्द का उपयोग किया जाता था। आरर्लेंग यानी कार्बी व्यक्ति, और आरर्लेंग यानी मृत्यु–अनुष्ठान। तो आर्लिंग कार्ही या कार्ही नाम के इस मृत्यु समारोह का क्या मतलब है? और चोमांगकान

का व्युत्पत्तिपरक अर्थ क्या है? क्या आर्लिंग कार्ही की जगह चोमांगकान शब्द उस दौरान आया, जिस समय (17वीं सदी संभवतया) कार्बियों को खासियों और जयंतियाओं के क्षेत्र जयंतियापुर में रहने को विवश होना पड़ा था। विदित है कि चोमांगकान में चोमांग का अर्थ खासी होता है और कान का मतलब नृत्य। असल में कार्बी में खासियों को चोमांगकान कहा जाता है, वस्तुतः चोमांगकान का खासियों से कोई लेना–देना नहीं है, लेकिन चोमांगकान का शाब्दिक अर्थ खासी नृत्य ही है। खैर, इस मृत्यु–अनुष्ठान को आरलेंग कार्ही से चोमांगकान क्यों कहने लगे होंगे, इस बारे में एंथ्रॉपोलोजी के शोधार्थी डॉ. लोंगकिरी तिमुंग[1] ने इस बारे में कुछ परिकल्पनाएँ पेश की हैं। जैसे–

1. जैसा कि ऊपर बताया गया, कार्बी लोग मृतकों की भूमि या मृत्यु के राजा की राजधानी को चोम आरोंग कहते हैं। पुराने समय में, मृत्यु समारोह को चोम–अरोंग–कान के नाम के बुलाए जाने की संभावना थी; अर्थात् मृत्यु की भूमि यानी चोम अरोंग में रहने वालों के सम्मान में किया जाने वाला नृत्य। समय बीतते–बीतते, जब कार्बियों को खासियों और जयंतियाओं के क्षेत्र जयंतियापुर में रहने को विवश होना पड़ा था, तब चोम–अरोंग–कान के अरोंग से मध्य अक्षर हट गए होंगे और चोमांगकान अस्तित्व में आया होगा।

2. कार्बियों का मानना है कि थिरेंग वांगरेंग[2] नामक एक व्यक्ति, जिसे इस जीवित दुनिया और मृत्यु के राजा की राजधानी में आने–जाने की शक्ति हासिल थी, ने इस मृत्यु–अनुष्ठान के नियम और पालन करने के तरीके निर्धारित किए थे, उसे यह शक्ति इसलिए मिल सकी थी, क्योंकि उसने मृत्यु की राजधानी के राजा (अपनी भाषा में यमराज) की बेटी चोम रेचो से विवाह किया था। तो यमराज का रिश्तेदार होने के कारण वह दोनों जगह आने–जाने में सक्षम था। उसने उस यम–भूमि में मृत्यु के बाद गए लोगों को कान यानी डाँस करते देखा और उसी को देखकर उसने यहाँ जीवित लोगों के मध्य भी मृत्यृ–अनुष्ठान की परंपरा शुरू करवाई। चोम यानी मृत्यु की भूमि से जुड़े होने के कारण इसका नाम चोम–कान या चोम–ए–कान पड़ा होगा, यही धीरे–धीरे चोमांगकान बन गया होगा। इन तीनों में अर्थ के स्तर पर थोड़ी–बहुत भिन्नता हो सकती है, पर उच्चारण साम्य काफ़ी है।

3. यह तो प्रसिद्ध ही है कि कछारी राजाओं के अत्याचार से तंग आकर कार्बियों ने जयंतियापुर राज्य में शरण ली थी। हो सकता है उस दौरान खासियों और कार्बियों के मध्य कुछ सांस्कृतिक आदान–प्रदान हुआ हो। कार्बियों ने खासियों से नृत्य सीखा होगा, और आरलेंग कार्ही यानी मृत्यु–अनुष्ठान के समय उसका उपयोग करने लगे हों। यह नया सीखा नृत्य शायद उनके पारंपरिक नृत्य से अधिक आकर्षक और सुंदर रहा होगा, जिससे इसका उपयोग बढ़ता गया होगा। इसी क्रम में आरलेंग कार्ही शब्द धीरे–धीरे कम महत्वूपर्ण होते–होते उसका स्थान नए नृत्य के नाम पर चोमांगकान हो गया होगा। ऐसा इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि चोमांगकान पालन के दौरान कार्बी लड़के और लड़कियों द्वारा किए जाने वाले निम्सो–केरुंग नृत्य में नोंगक्रेम नामक खासी नृत्य (जिसमें एक–दूसरे को गले लगाकर नृत्य किया जाता है।) के साथ समानताएँ पाई गई हैं।

4. हो सकता है, खासियों के अधीन रहने के कारण भी कार्बी उनके नृत्य को स्वीकार करने को बाध्य हुए होंगे, क्योंकि आखिर यह राजा और प्रजा के संबंध का मामला भी था। शायद इसलिए कार्बियों को अपने मृत्यु–अनुष्ठान को आरलेंग कार्ही से चोमांगकान कहना पड़ा होगा।

5. एक अन्य संभावना वीर थोंग नोकबे द्वारा मृत्यु–अनुष्ठान का मनाया जाना है। थोंग नोकबे एक महान कार्बी नायक थे, कार्बी समाज में आज भी उनका बड़ा नाम और

सम्मान है। दीफू में कई जगह उनकी मूर्तियाँ लगी हुई देखी जा सकती हैं। तो जब कार्बी जयंतियापुरा राज्य में रह रहे थे; उस दौरान थोंग नोकबे ने खासी और कछारी सेनाओं के मध्य युद्ध में अपनी शूरवीरता का परिचय देते हुए कछारियों को हराया था, जिससे प्रसन्न होकर जयंतियापुर के खासी राजा ने उन्हें सेनापति का पद देते हुए नोकबे (नायक) की उपाधि प्रदान की थी। बाद में, जब थोंग नोकबे के पिता की मृत्यु हुई तो खासी राजा की प्रेरणा से उन्होंने एक बड़ा मृत्यु–अनुष्ठान आयोजित किया था, जिसमें अपने लोगों के अलावा, खासी और जयंतिया सभी को आमंत्रित किया गया था। इस उत्सव के दौरान, कार्बी सैनिकों के साथ–साथ खासी और जयंतिया सैनिकों द्वारा नृत्य किया गया था, बल्कि यह एक तरह की नृत्य–प्रतिस्पर्धा हुई थी, जिसमें खासियों यानी चोमांगों द्वारा किया गया नृत्य, कार्बियों के नृत्य से आगे निकल गया था। इसलिए, यह माना जा सकता है कि कार्बियों ने चोमांगों के नृत्य (कान) को अपने मृत्यु–अनुष्ठान आरलेंग कार्ही के अनुरूप थोड़े–बहुत बदलावों के साथ शामिल करना शुरू कर दिया था। बाद में इसी से आरलेंग कार्ही से चोमांगकान के नामकरण का कारण भी बन गया होगा।

6. कार्बियों के मृत्यु–अनुष्ठान में प्रत्येक गाँव के लोगों को आमंत्रित किया जाता है। इस समारोह में भाग लेने वाली ग्राम पार्टी को कार्बी में चोम–फांग कहते हैं। प्रत्येक चोम–फांग से हरेक उम्र के पुरुष–स्त्रियाँ शामिल हो सकते हैं, लेकिन नृत्य में युवा लड़के और लड़कियाँ ही भाग लेते हैं। यानी पहले से निर्धारित सूची के अनुसार, प्रत्येक चोम–फांग समूह को विभिन्न गाँवों से आए चोम–फांग के साथ समूह नृत्य के लिए बुलाया जाता है। इस क्रम में वस्तुतः, चोमांगकान के पूरे उत्सव को चोम–फांग –कान भी कहा जा सकता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, विभिन्न गाँवों के युवा दलों के समूह नृत्य। तो हो सकता है, पहले मृत्यु–अनुष्ठान चोमांगकान को चोम–फांग कहना शुरू हुआ हो, जो बाद में चोमांगकान बन गया।

सामाजिक–आर्थिक स्थिति के अनुरूप चार तरह के चोमांगकान प्रचलित हैं– कांफलाफला, लांगतुक, हार्ने और नोदक लांगतुक इनमें हार्ने को सबसे बड़ा और प्रभावशाली चोमांगकान माना जाता है। इसे राजाओं और कार्बी में सबसे उच्च स्तर के माने जाने वाले इंगति कुल के परिवारों द्वारा सात दिन तक लगातार मनाया जाता है। जबकि लांगतुक अच्छी आर्थिक स्थिति वालों द्वारा चार दिन तक, कांफलाफला सामान्य आय वाले कार्बियों द्वारा दो दिन तक और नोदक लांगतुक एक से दो दिन तक कार्बी बाली से कान फट जाने वाले मृतकों के लिए मनाए जाने वाले चोमांगकान हैं। कांफलाफला आमतौर पर मृत व्यक्ति के आँगन में ही आयोजित किया जाता है, जबकि लांगतुक और हार्ने चोमांगकान आस–पास के खुले मैदान में आयोजित किए जाते हैं। प्रस्तुत आलेख में लांगतुक मृत्यु अनुष्ठान को केंद्र में रखा गया है।

यह अनुष्ठान खेतेरी (पुजारी), निहु (मृतक का मामा) दुहुइदी (युवा ढोलकिया), ओबोकपी (बच्चों को रखने वाली, यह चोमांगकान के दौरान मृतक के पुतले को रखती है) ओवे बारिम (अनुष्ठान के नियमों और प्रक्रिया को जानने वाला), रानतिनी (चोमांगकान के दौरान भोजन तैयार करने वाली), ओचेपी (मृतक को चढ़ावा/भोग लगाने/भेंट देने वाली युवा स्त्री) और चारहेपी या लुंसेपी (रुदाली गायिका) द्वारा मिलकर किया जाता है। पूरे चोमांगकान के समय कार्बी महिलाएँ 'नोथेन्पी' नामक एक ढाई इंच बड़ा चाँदी का बालीनुमा आभूषण पहनती हैं।

चोमांगकान की तैयारी के क्रम में चोइसो (छोटी–सी शर्ट, यदि मृतक पुरुष है तो), पेन्निसो (छोटा–सा पेटीकोट, यदि मृतक स्त्री है तो), हिजाप (बाँस का हाथ–पंखा) बांजर

(लंबा सजा हुआ बाँस), वो–काक (बतखें) वो (सिक्के), पेह (कुछ मीटर काले, लाल, सफ़ेद और पीले कपड़े) सोबाई (मूंगे की मालाएँ), बोंगक्रोक (लौकी की तुंबियाँ) सोंचे–बोचे (बाँस का पुतला), बिपन–बिजन यानी पका हुआ चावल, नमक, होरलोंग यानी स्थानीय शराब, पान, सुपारी, उसाता यानी असमिया जापी जैसी वस्तु (यदि मृतक पुरुष हो तो), हाक या हाक खुइलुंसो यानी कमर पर लटकाने वाली बाँस की टोकरी (यदि मृतक महिला हो तो) आदि दैनिक प्रयोग की वस्तुएँ, ताकि मृतक को उस दुनिया में किसी तरह की खाने–पीने आदि की परेशानी न झेलनी पड़े), पेसो–रिसो (कपड़े) आदि पहले ही तैयार कर रख लिए जाते हैं। यदि मृतक पुरुष है तो, ढाल (चोंगपी) और तलवार (नॉकजिर) जैसी चीजें भी रख ली जाती हैं, ताकि मृतक उस दुनिया की दुरात्माओं से लड़ने को तैयार रहे। अब किसी तालाब में लांगतुक बनाया जाता है। अगर आस–पास तालाब न हो तो किसी मैदान में एक लांगतुक यानी गहरा गड्ढा खोदा जाता है और उसमें पानी भर दिया जाता है। इसके पास ही पत्थरों से मृतक की प्रतिमूर्ति बना दी जाती है। इसमें प्रयुक्त लंबा पत्थर, जिसे लोंग–एह कहा जाता है, पुरुषों का प्रतिनिधित्व करता है और छोटा, लोंगपाक महिलाओं का प्रतिनिधित्व करता है। नोदक लांगतुक में लांगतुक त्रिभुजाकार बनाते हैं, जबकि बाकी सभी चोमांगकानों में उसे चतुर्भुजाकार बनाया जाता है। उसके चारों ओर तथा बीच में बाँस लगा दिए जाते हैं। तथा ऊपर एक सफ़ेद चादर ढक दी जाती है। बांजर करीब सात फ़ीट का एक सजाया हुआ बाँस होता है। इसे अनुष्ठान शुरू होने के एक सप्ताह पहले ही तैयार कर लिया जाता है। इस बाँस के ऊपरी सिरे पर सूखी पत्तियाँ खोंस दी जाती हैं और बाँस के तीन तरफ़ तीन खपच्चियाँ लगा दी जाती हैं, जिन पर बाँस से ही बने छोटे–छोटे झंडे और टोकरियाँ आदि लटका दिए जाते हैं। बाँस के चारों ओर चार–चार फ़ीट की छह सेरोसो (खपच्चियाँ) लगा दी जाती हैं। इस तरह एक–एक मृतक के लिए तैयार हुआ बांजर है। यदि परिजनों द्वारा एकाधिक मृतकों के लिए चोमांगकान आयोजित किया जा रहा हो, तो ऐसे तैयार बांजरों की संख्या उनके अनुरूप बढ़ जाती है।

आत्मा के पुरखों की धरती या 'परलोक' जाने के तीन रास्ते माने जाते हैं– मुकिंदोन आंगलोंग, लो पिंदोंग आंगलोंग और वोआक आंगलोंग। जो व्यक्ति स्वाभाविक मौत मरता है वह मुकिंदोन आंगलोंग के रास्ते परलोक जाता है। अकाल मृत्यु को प्राप्त होने वाले लो पिंदोंग आंगलोंग से पुरखों की धरती पहुँचते हैं और जिनकी मृत्यु बाघ के हमले से होती है, वे तीसरे रास्ते वोआक आंगलोंग के माध्यम से पहुँचते हैं। कार्बियों में यदि कोई बाघ के हमले से मारा जाता है तो उसे बेहद पापी व्यक्ति माना जाता है, यहाँ तक कि उसका अंतिम संस्कार तक सामान्य श्मशान से अलग किया जाता है और यह माना जाता है कि उसे अगले जन्म में मनुष्य योनि प्राप्त नहीं होगी।

रुह केहुम : पहला दिन

अनुष्ठान का पहला दिन रुह केहुम या आसेर केहुम आर्नी कहलाता है। इसमें परिजन और ग्रामीण खेतेरी के निर्देशन में तिपित/थिरि (श्मशान भूमि) जाते हैं तथा मृतक की राख लेकर उसके घर आते हैं। इस दौरान मृतक की आत्मा को उत्सव हेतु जगाने के लिए लुंसेपी (रुदाली) हाथ में अंजाम (मृतक के लिए विशेष तौर पर बनाया हुआ भोजन) लेकर विलाप करती जाती है और दुहुइदे (युवा ढोलकिया) और उसके कुछ साथी ढोल बजाते रहते हैं। तिपित पहुँचकर एक सीपी यानी कौड़ी उस स्थान पर गड्ढा खोदकर गाड़ दी जाती है, जहाँ अंतिम संस्कार किया गया था। इसे मृतक की आत्मा का प्रतीक माना जाता है।

अब ढोल को एक विशेष स्वर में बजाया जाने लगता है। जिसके शुरू होते ही एक अंडे को तीन हिस्सों में तोड़कर तीन दिशाओं

में फेंका जाता है। इसके तुरंत बाद एक सात दिन पुराने छोटे चूजे की बलि दी जाती है और मृतक का एक परिजन बड़ा–सा दाव लेकर उसे ऊपर–नीचे डुलाते हुए सीपी को खोदकर निकालने लगता है। उसे तिरिकाम कहते हैं। तिरिकाम के बगल में काला कपड़ा लिए एक बुजुर्ग औरत खड़ी होती है, जैसे ही ढोल की थाप का इशारा होता है, तिरिकाम सीपी को निकालकर स्त्री को दे देता है, जो उसे काले कपड़े में बाँधकर श्मशान भूमि पर रखे अंजाम के ऊपर रख देती है। सीपी के बाँधते ही ढोल रुक जाता है। अब उचेपी और परिजनों द्वारा मृतक को अंजाम यानी भोजन (चावल, होरलांग यानी स्थानीय शराब, पान, सुपारी आदि चढ़ाकर) कराया जाता है। अंजाम की प्रक्रिया पूरी होते ही पारंपरिक पोशाकें पहने हुए कार्बी युवा उसके चारों ओर तलवार और ढाल लेकर नृत्य करते हुए तीन बार परिक्रमा करते हैं। ढोल पुनः बजने लगता है। इस नृत्य से ही चोमांगकान–उत्सव की वास्तविक शुरुआत होती है। गौरतलब है कि अंजाम के तुरंत बाद यदि श्मशान भूमि में पहला नृत्य नहीं हुआ, तो पूरे चोमांगकान के दौरान कोई नृत्य नहीं किया जाएगा। इस लिहाज से यह नृत्य महत्वपूर्ण है। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान लुंसेपी (रुदाली) का विलाप जारी रहता है। वह कुछ इस तरह रोते हुए गाती है– "हे अमुक की आत्मा! हम तुम्हें भोजन, पानी देने आए हैं। कृपया इसे ग्रहण करो! हे अमुक की आत्मा! हम तुम्हें बहुत मानते हैं, इसलिए तुम्हारे लिए नृत्य कर रहे हैं। हे अमुक की आत्मा! आओ और हम जीवितों की दुनिया में आकर रहो!"

नृत्य खत्म होने के साथ ही पूरा दल सीपी यानी मृतक की आत्मा के साथ घर या चोमांगकान– उत्सव की जगह लौटकर बांजर के पास आकर रुक जाता है। यह स्थान हांगथोर कहलाता है। यहाँ आते ही वह सीपी रूपी आत्मा पहले से ही मृतक के नाम पर बनाए हुए बाँस के पुतले के पेट में घुसा दी जाती है। अब यह माना जाता है कि मृतक पुनः जीवित हो गया है। इसके तुरंत बाद यह समझा जाता है कि वह व्यक्ति फ़िर से बीमार पड़ गया है। इस क्रम में बुजुर्ग पुरुषों और महिलाओं का एक समूह एक–दूसरे का हाथ पकड़कर बीमारी के कारणों पर चिंतन करते हुए देवताओं को चढ़ावे चढ़ाता है, किंतु कोई फल नहीं मिलता, वह व्यक्ति फ़िर मर जाता है। कार्बियों में इस तरह एक व्यक्ति दो बार मरता है– एक बार असलियत में और दूसरी बार स्वाँग में। स्वाँग में मरे हुए व्यक्ति को असलियत में अभी मरा मानकर मृत्यु से संबंधित सभी रिवाज फ़िर से संपन्न किए जाते हैं। उचेपी/लुंसेपी (रुदाली) का रुदन इस दौरान जारी रहता है। एक रोचक बात यह है कि यदि मृतक शादीशुदा नहीं था या थी तो पुतले के पेट में सीपी डालने के तुरंत बाद उसकी झूठी शादी भी की जाती है। इसे आदमाचार या पिसो–पाँगरी कहते हैं।

इसके बाद एक बुजुर्ग महिला द्वारा पुतले को गर्म पानी से नहलाया जाता है और नए कपड़े पहनाकर उसे मृतक के घर के भीतरी कमरे में ले जाकर बाँस की चटाई पर सफ़ेद कपड़ा बिछाकर लिटा दिया जाता है। इसके बाद उसे हाथ के पंखे से हवा की जाती है ताकि मृतात्मा दूसरी दुनिया की अपनी यात्रा के दौरान अच्छा महसूस करे।

इसके बाद उचेपी द्वारा पुनः मृतक को भोजन कराया जाता है और यहाँ अपनी रुदाली में वह मृतक के परिजनों, रिश्तेदारों और ग्रामीणों की ओर से विलाप भरे स्वर में उसकी अच्छाईयों, उसकी ईमानदारी, उसके मेहनती स्वभाव आदि को गा–गाकर प्रकट करती है। अब यह मान लिया जाता है कि मृतात्मा को उनके पुरखों के स्थान अथवा मृत्यु के राजा के राज्य यम–आरोंग में अपनी सही जगह मिल गई होगी।

चोमांगकान के दौरान एक अजीब–सा रिवाज और किया जाता है, इसके अंतर्गत कापा–एर गाए जाते हैं। ये बेहद अश्लील गीत होते हैं और युवा लड़कों द्वारा नृत्य

करते हुए चोमांगकान के शुरुआती तीन दिनों में आधी रात तक गाए जाते हैं। यहाँ तक कि जब उचेपी विलाप कर रही होती है, तब भी युवक इन्हें एक ओर गाते रहते हैं। एक तरफ़ कार्बी समाज में सामान्य जीवन तक में गालियों या अश्लील शब्दों का प्रयोग वर्जित है और दूसरी ओर ऐसे दुःखपूर्ण तथा गंभीर अवसर पर अश्लील कापा–एर गीतों की प्रस्तुति हैरत में डालती है। इस संदर्भ में लुनसे तिमुंग एक कथा बताते हैं कि भगवान ने जब कार्बियों को धरती पर मनुष्य के रूप में पैदा किया तो कार्बी स्त्री–पुरुष यौन–व्यवहार से अनभिज्ञ थे। तो साइदिगी नामक देवता को यह कार्यभार दिया गया कि वे कार्बियों को अपना वंश आगे बढ़ाने की क्रिया सिखाएँगे ताकि सृष्टि चलती रहे। साइदिगी ने पाँच पान तांबूल एवं पाँच सुपारी लेकर उन्हें अभिमंत्रित किया और कार्बी स्त्री–पुरुषों को खिला दिया। कुछ ही देर में उनकी यौनेच्छा इतनी प्रबल हो गई कि वे दिन–रात इसी में लगे रहने लगे। ये देख साइदिगी चिंता में पड़ गए। तब उन्होंने कहा कि तुम जो क्रिया कर रहे हो इसे सबके सामने और इतना अधिक न करके, शब्दों में व्यक्त कर लिया करो। इसीलिए चोमांगकान के दौरान ऐसे गीतों का गायन शुरू हुआ। कुछ विद्वान इसे विरेचन की प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं। कापा–एर गाने के पीछे दुःख में डूबे मृतक के परिजनों को उबारने की कोशिश और जाने वाले को भूलकर उन्हें पुनः सृजन–प्रक्रिया की ओर उन्मुख होने के प्रति जागरूक भी करना हो सकता है। आधी रात को उचेपी द्वारा विलाप कर गाते हुए मृतक को अंजाम (भोजन) कराया जाता है और इस प्रकार चोमांगकान का पहला दिन संपन्न होता है।

कांसो पादो : दूसरा दिन

अनुष्ठान के दूसरे दिन कोई नई गतिविधि नहीं होती। इस दिन थिरि या तिपित में सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कर मेथुर हिम किम अथवा थिरि हिम किम (चिता) बनाई जाती है, जिस पर चौथे दिन की भोर में मृतक के पुतले का अंतिम संस्कार किया जाना है। इसमें चिता सजाने के लिए यथास्थान बाँस का भी प्रयोग किया जाता है।

कांसो पादो का अर्थ है– छोटे नृत्य। इस दिन युवक छोटे–छोटे नृत्य करते हैं, जिन्हें वे दूसरे दिन के बाद नहीं कर सकते। इस दिन शाम को रिसोमर[4] (युवा–समूह) के लिए मुर्गी की बलि दी जाती है। युवाओं के लिए इस बलि का अर्थ है कि वे आएँ और एक के बाद एक नृत्य में भाग लें। मुर्गी की बलि देने की पूरी प्रक्रिया चोमांगकान केकानपी अवोपी कहलाती है।

मृतक के दूर रहने वाले परिजन अथवा रिश्तेदार दूसरे दिन तक हर हाल में चोमांगकान स्थल पहुँच जाते हैं, क्योंकि बिना पूरे परिवार के आए चोमांगकान को अधूरा माना जाता है।

यहाँ जांबिली आथान का भी उल्लेख कर देना उचित होगा। जांबिली आथान करीब ढाई मीटर की कौड़ी/सीपी आदि से सजी एक लकड़ी होती है। जिसे आथान कहते हैं। इसके ऊपरी सिरे पर लकड़ी का बना हॉर्नबिल (वोजारू) पक्षी लगाया जाता है। हॉर्नबिल पक्षी को कार्बी समाज में राजा का प्रतीक माना जाता है। पहले कार्बी युवकों द्वारा हॉर्नबिल की लंबी पूँछ सजावट और सौंदर्य के लिए अपने बालों में खोंसी जाती थी। हॉर्नबिल के अगल–बगल में दो छोटे पक्षी बनाए जाते हैं, जिन्हें राजा के सुरक्षाकर्मी का प्रतीक माना जाता है। उससे करीब एक मीटर नीचे चार छोटी लकड़ियाँ पैंतालीस डिग्री के कोण पर लगाई जाती हैं। इन्हें जांबिली कहा जाता है। चारों जांबिलियों पर चार वोल्रेलिस पक्षी बनाए जाते हैं, जिन्हें राजा के मंत्रीगण माना जाता है। कार्बी समाज में जांबिली आथान को बेहद सम्मान प्राप्त है, इसे लगाने का मतलब है उस कार्यक्रम या स्थान पर राजा की उपस्थिति होना, इसलिए इसका

प्रयोग चोमांगकान जैसे बेहद समादृत समारोहों में ही किया जाता है।

होरचिमई : तीसरा दिन

तीसरे दिन सुबह–सुबह रिसोमर के सदस्य और मृतक परिवार के कुछ अन्य पुरुष लोग पाँच बाँस काटकर लाते हैं और उन्हें लांगतुक में लाकर लगा देते हैं। इसके बाद उस पर एक सफ़ेद चादर ढक दी जाती है। बाँस काटने से पहले मृतक के नाम पर एक मुर्गी, बतख और सुअर की बलि दी जाती है। जिसे वहीं पकाकर लोगों में प्रसाद के रूप में बाँट दिया जाता है। बाँस लगाते समय कुछ पैसे और अन्य चीजें भी लांगतुक में प्रवाहित की जाती हैं। लांगतुक वस्तुतः इसलिए बनाया जाता है ताकि उसमें मौजूद पानी, मछली, पैसे आदि का प्रयोग मृतात्मा द्वारा अपनी दूसरी दुनिया में किया जा सके।

दोपहर होते–होते लांगतुक के पास पत्थरों से बनाई गई मृतक की प्रतिमूर्ति को कपड़े पहनाए जाते हैं, उसे पूरी तरह सजाया जाता है और उसके द्वारा प्रयोग की जाने वाली सारी चीजें, जैसे ढाल, तलवार, उसाता, हाक, पान, सुपारी, सूत, पानी आदि सब–कुछ रख दिया जाता है। अब मृतक को भोजन यानी अंजाम कराया जाता है, इसके बाद उचेपी/लुंसेपी द्वारा काछारे आबांग गाया जाता है। इसके अंतर्गत मंत्रोच्चार की तरह विलाप–गीत गाए जाते हैं। ये मानते हुए कि मृतक की आत्मा अब इस धरती को छोड़कर उस अगम्य पहाड़ी पर स्थित पुरखों के स्थान या मुकिंदोन जा रही है और रास्ते की विभिन्न मुश्किलों से गुजरते हुए वहाँ पहुँचकर अपने उचित स्थान को प्राप्त करेगी।

जैसे ही लांगतुक में बाँस लगाने और बलि–प्रसाद की प्रक्रिया संपन्न होती है, मृतक के परिजनों द्वारा आस–पास के गाँवों के सभी लोगों को चोमांगकान में आने का निमंत्रण दिया जाता है। इसे अरि रोंगकेतान कहते हैं। अरी रोंगकेतान पाने के बाद गाँवों से आए लोग चोमांगकान स्थल पर आकर चोंगचिंगनांग नृत्य करना शुरू कर देते हैं। चोंगचिंगनांग दो प्रकार का होता है– चोमसोकेदाम और चोमपीकेदाम। चोमसोकेदाम पुरुषों द्वारा पारंपरिक पोशाक में ढाल (चोंग) एवं तलवार (नोक) लेकर किया जाता है। पहला चोमसोकेदाम मेजबान गाँव के पुरुष करते हैं, इसके बाद एक–एक कर बाकी गाँवों के पुरुषों द्वारा किया जाता है। इसका उद्देश्य आस–पास मौजूद दुरात्माओं को भगाना है। चोमपीकेदाम नृत्य सिर्फ़ दो पुरुषों द्वारा पारंपरिक पोशाक में ढाल (चोंग) एवं तलवार (नोक) लेकर किया जाता है।

जब चोंगचिंगनांग चल रहा होता है, उसी समय कुछ दूरी पर होरचिमाई नामक रीति का पालन किया जा रहा होता है। इसके अंतर्गत सभी मेहमान अपने साथ लाई होरलांग (स्थानीय शराब) एवं पैसे आदि मृतक के नाम पर उसके परिजनों और गाँवबूढ़ा (मेजबान गाँव का मुखिया) को भेंट करते हैं।

चोंगचिंगनांग के बाद निम्सो–कुरुंग नृत्य होता है। निम्सो यानी 'अविवाहित युवा लड़कियाँ' और केरुंग यानी 'उन्हें नृत्य के लिए आंमत्रित करना'। यह मेजबान और मेहमान अविवाहित युवा लड़के–लड़कियों द्वारा घेरे में एक–दूसरे का हाथ पकड़कर ढोल की थाप पर रात–रात भर मस्ती में किया जाता है। बस एक ही परिवार या कुल के लड़के–लड़कियाँ एक–दूसरे का हाथ नहीं पकड़ते। इस दौरान अनेक लड़के–लड़कियाँ अपना जीवन–साथी भी चुन लेते हैं। इस नृत्य के दौरान लड़कियाँ अपना सिर ढक लेती हैं और शर्म से बचने के लिए पूरे समय सिर झुकाए रहती हैं, क्योंकि निम्सो–कुरुंग करते समय लड़कों द्वारा प्रेम गीतों के साथ–साथ बेहद अश्लील कापा–एर गीत भी गाए जाते हैं।

रोंगकेथान/आरोंगकेथान : चौथा दिन

इस दिन मृत–देह को तिपित (श्मशान) ले जाया जाता है। इसी को रोंगकेथान

/आरोंगकेथान कहते हैं। चौथे दिन देर रात तक जब सारे नृत्य, संस्कार व रीति–रिवाज पूरे हो जाते हैं तब मृतक के प्रतीक बाँस के पुतले को एक अर्थी में डालकर मेथुर हेम किन यानी चिता तक अंतिम संस्कार के लिए पहुँचाया जाता है। ज्यों ही लोग अर्थी लेकर श्मशान की ओर जाना शुरू होते हैं, मेजबान द्वारा मासिरा कोहिर[5] नामक एक रिवाज किया जाता है। इसमें मृतक को जलाने की प्रक्रिया और कार्बियों की उत्पत्ति के इतिहास को गाया जाता है। मासिरा कोहिर केवल चोमांगकान–उत्सव के समय ही किया जाता है, इसके अलावा इसे वर्जित माना गया है।

घर से अर्थी लेकर जाते समय सब लोग लांगतुक के पास आकर रुकते हैं। यहाँ मृतक के नाम पर कबूतर, हंस और दो बकरियों की बलि दी जाती है। इसके बाद सब फ़िर श्मशान के लिए चल देते हैं। वहाँ पहुँचकर पुनः एक बकरी की बलि दी जाती है। इसके बाद बाँस के पुतले के रूप में मृतक को चिता पर लिटा दिया जाता है। अब श्मशान के एक कोने में मृतक के परिवार का एक सदस्य किसी चूजे की बलि देता है और उसे बाँस के अंदर पकाकर मृतक के लिए अंतिम बार भोजन तैयार करता है। इसके बाद परिवार के दो सदस्यों द्वारा सिर और पैर दोनों तरफ़ से मुखाग्नि दी जाती है। चिता के पूरी तरह जलने के बाद सब लोग वापस लौट आते हैं। धीरे–धीरे सब मेहमान अपने घरों को चले जाते हैं। तो ये है– कार्बी जनजाति का मृत्यु–अनुष्ठान– चोमांगकान।

प्रसिद्ध असमिया गीतकार श्री भूपेन हजारिका ने इस पर सोमांगकान नाम से एक गीत भी लिखा है– "सोमांगकान उत्सवत नास। सोमांगकान होई डेका गभोरुवे नासी धरित्रि कोपाई।" इससे भी चोमांगकान की महत्ता का पता चलता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तेरोन धर्मसिंग, 'कार्बी यूथ राइटर्स गिल्ड, कार्बी स्टडीज, 2008.

2. तेरोन रबींद्र, ट्रेडीशनल वुडक्राफ़्ट, जम्बिली अथोन ऑफ़ कार्बीज (ऑनलाइन)

3. बोर्दोलोई बीएन, चोमांगकान–दि डेथ सेरेमनी परफ़ॉर्म्ड बाय दि कार्बीज, (ट्राइबल रिसर्च इंस्टीट्यूट, गुवाहाटी), 1982.

4. बेपी, सेरदिहुम एंड बिस्वास सिवाशीष, (2012). लैंगवेज, कल्चर एंड ट्रांसलेशन ऑफ़ दि कार्बी : ए ब्रीफ स्टडी, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ सोशल साइंस एंड ह्यूमैनिटी

5. बे, एम.एस (2009). दि कार्बी बिलीफ़ : कार्बी लाम्मेट आमेई, दीफू

6. चार्ल्स, एल. (1997). दि कार्बीज, स्पैक्ट्रम पब्लिकेशंस, गुवाहटी

7. तेरोन रबींद्र, बोरठाकुर एस.के. (2008). ट्रेडीशनल नॉलेज रिलेटिंग टू यूज ऑफ़ फ़्लोरा एंड फ़ॉना एज इंडिकेटर्स इन प्रेडिक्टिंग एनुअल सीजन्स अमोंग कार्बी ट्राइब ऑफ़ असम, इंडियन जर्नल ऑफ़ ट्रेडीशनल नॉलेज, 518–524.

8. तिमुंग, एस. आई (एन.डी.) दि कार्बी कस्टमरी लॉ, दीफू, क्लारेट प्रिंटर्स एंड स्टेशनर्स

9. ज़ामान, आर. (2003). चोमांगकान : डेथ रिचुअल ऑफ़ दि कार्बी, इंडियन एंथ्रॉपोलोजिस्ट, 41–53.

10. तिमुंग, डॉ. लोंगकिरि (2015). हायपोथिसिस रिलेटिंग टू दि टर्मिनोलॉजी 'चोमांगकान' दि डेथ सेरेमनी ऑफ़ दि कार्बी, (ऑनलाइन)

11. श्री जॉयसिंग टॉकबी, वरिष्ठ साहित्यकार एवं समाजकर्मी, दीफू से दिनांक 10/08/2021 को हुई लंबी बातचीत।

12. श्री रोंगबोंग तेरोंग, पद्मश्री पुरस्कार विजेता लेखक, दीफू से दिनांक 20/08/2021 को हुई लंबी बातचीत।

13. चोमांगकान अनुष्ठान से वर्षों जुड़े रहे श्री लुनसे तिमुंग, उम्र करीब 85 वर्ष, पूर्व सदस्य, कार्बी आंगलोंग ऑटोनोमस काउंसिल,

दीफू से दिनांक 22/08/2021 को हुई लंबी बातचीत।

14. श्री जॉयसिंग टॉकबी, वरिष्ठ साहित्यकार एवं समाजकर्मी, दीफू से दिनांक 10/11/2021 को हुई लंबी बातचीत।

15. श्री रोंगबोंग तेरोंग, पद्मश्री पुरस्कार विजेता लेखक, दीफू से दिनांक 05/12/2021 को हुई लंबी बातचीत।

16. चोमांगकान अनुष्ठान से वर्षों जुड़े रहे श्री लुनसे तिमुंग, उम्र करीब पचासी वर्ष, पूर्व सदस्य, कार्बी आंगलोंग ऑटोनोमस काउंसिल, दीफू से दिनांक 18/12/2021 को हुई लंबी बातचीत।

– के द्वारा श्रीमती निवेदिता हसनु, मकान सं.–56, दिमासा क्लब के पास, अमोलापट्टी, दीफू, असम–782460

❑❑❑

त्रिपुरी लोकगीतों में समाज एवं संस्कृतिः एक दृष्टि

डॉ. बीना देबबर्मा

त्रिपुरा में कॉकबरक यहाँ की जनजातियों के बीच बोली जाती है। इस भाषा को बोलने वालों में देबबर्मा (पुरान त्रिपुरी), त्रिपुरा, जमातिया, रियांग, नोवातिया, मुरासिंग, ऊचई, कलई, रूपिणी हैं। जिनकी मातृभाषा कॉकबरक है। इन जनजातियों में मुख्य रूप से पुरान त्रिपुरी या देबबर्मा जनजातियों के दैनिक जीवन में एवं समाज में लोकगीतों की क्या भूमिका है एवं संस्कृति की बदलते परिवेश में लोकगीतों के प्रति लोगों का क्या दृष्टिकोण है यह वास्तव में महत्वपूर्ण विषय है। लोकगीत प्रायः लोकरंजक होते हैं। लोक मानस जब–जब प्रसन्न होकर उल्लासित एवं तरंगित होता हैं, तब–तब उसके हृदय से निःस्त्री लयबद्ध शब्द मुखरित होते हैं। इन्हीं लयबद्ध शब्द का यथार्थ रूप लोकगीतों में परिणित होता है। मनोरंजन जहाँ व्यक्ति के लिए आनंद का माध्यम बन जाता है तब लोकगीत का रूप और अधिक निखर उठता है। मनुष्य उसका स्वतः आस्वादन न करके, उसके वितरण से भी आनंद रस को पाना चाहता है। इन्हीं कारणों से लोकगीतों का जन्म होता है। त्रिपुरी समुदाय के जीवन उपलब्धियों में लोकगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ के लोगों के जीवन को अजनजातीय समाज की सभ्यता व संस्कृति ने भी काफी प्रभावित किया है, किंतु लोकगीत अब भी किसी सभ्यता, संस्कृति से प्रभावित हुए बिना अपने मूल रूप को संभाले हुए हैं।

यहाँ लोक के बिना गीत का उद्भव और विकास नहीं हो सकता तो दूसरी ओर गीत के बिना मानव अपने हृदय के भावों को व्यक्त नहीं कर सकता है। इसलिए एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। लोकगीतों की धरती का नाम है– समाज। संसार में विभिन्न तरह के लोग, विभिन्न रीति–रिवाजों, परंपराओं, वेशभूषाओं, लोकनृत्यों, लोकगीतों आदि के साथ अपने संस्कृति के धरोहर को लेकर जीवन जी रहे हैं। हर एक की जीवन शैली अलग–अलग है। लोक साहित्य के मर्मज्ञ एक स्वर में कहते हैं कि लोक वांङमय की कलिका समाज की सामूहिक औसत भावनाओं में खिलती है। यह सब भावनाएँ ही समाज की मूल धारणाएँ हैं। मनुष्य के रहन–सहन, रीति–रिवाजों, मांगलिक अनुष्ठानों, पर्व त्योहारों से रस संग्रह होता है। इसी प्रकार संस्कृति मनुष्य के जीवन में रंग भरती है तथा जीने की प्रेरक बनती है। समाज में संस्कृति के आधार पर ही विशिष्ट पहचान बनती है। संस्कृति के द्वारा मनुष्यों के रीति–रिवाज, आदर्श, नीति, विश्वास आदि जीवन व्यतीत करने की स्थितियाँ तथा मानव द्वारा उपलब्ध समस्त कौशल एवं योग्यताओं को सम्मिलित किया जाता है लोक गीत सामूहिक अभिव्यंजना है। इसलिए इसका सृजन भी सामूहिक है। लोकगीतों में हमें मानव समाज से जुड़ी उनकी वह सभी भावनाएँ जो प्रेम, भय, आशा, आकांक्षा, घृणा, हर्ष, उल्लास, शोक इत्यादि भाव अपने सहज व सरल रूपों में युगों–युगों से व्यक्त होते आए हैं।

लोकगीत प्रायः लोक रंजक होते हैं। जिसे स्त्री और पुरुष दोनों ही मिलकर गाते हैं। त्रिपुरा के त्रिपुरी जनजातियों के जीवन में लोकगीत का स्थान उसी प्रकार से है जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में रीढ़ की हड्डी का स्थान है। इस तरह से त्रिपुरा के कॉकबरक भाषा बोलने वाले जनजातियों में पुरान त्रिपुरी जिनमें देबबर्मा लोगों को माना गया है। अन्य

जनजातियों के जीवन में भी लोकगीतों को लेकर प्राचीन काल से ही विशेष प्रकार की आग्रह देखी जा सकती है। इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की हर रीति–नीति में लोकगीत मुख्य रूप से जोड़ा हुआ देखने को मिलता है। आज भले ही लोग देहाती परिवेशों को छोड़ कर शहर की ओर पलायन कर रहे हों, किंतु अपनी संस्कृति और रीति–रिवाजों से आज भी बहुत ही प्रेम करते हैं। चाहे शहर में हों या गाँव में लोग आज भी अपने सुख व दुख में इन लोकगीतों को अवश्य गाते हैं। आज शहर में बसने व रहने वाले लोग अपनी संस्कृति व समाज के प्रति अधिक जागरूक हैं। जन्म व विवाह में अपनी संस्कृति का ख्याल रखते हुए हर नियमों का पालन धूमधाम से करते हैं। अतः सामाजिक जीवनशैली के जितने रूप हैं उतने ही लोकगीत बन जाते हैं। हर गीत का भावात्मक रूप अलग–अलग है। त्रिपुरा का त्रिपुरी समाज अपनी संस्कृति को बखूबी पहचानता है एवं संस्कृति की महक को कदम–कदम पर महसूस भी करता है।

यहाँ के लोकगीतों में एक व्यक्ति का नहीं बल्कि समुदाय का स्वर समाया हुआ होता है। त्रिपुरा के किसी भी जनजातीय समाज से यदि हमें परिचित होना है या फिर उस समाज को जानना है तो लोकगीतों से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। लोक गीतों में प्रयुक्त कई शब्दों के पीछे अनेक अर्थ छिपे हुए रहते हैं। यह कहा जाता है कि त्रिपुरी समाज में लोकगीतों के माध्यम से ही बहू, दामाद और चामरि ओमपा (चामरि ओमपा उसे कहा जाता है जो विवाह से पूर्व एक वर्ष तक लड़की के घर आकर रहता है और युवक को अपने व्यवहार से सब को प्रभावित करना पड़ता था) को समझाया जाता था। दामाद का व्यवहार अच्छा या बुरा वह भी लोकगीत के माध्यम से ही सास–ससुर दूसरों को बताते थे। अतः सामाजिक जीवन के जितने पहलू हो सकते हैं, उतने ही पहलू लोकगीत बन जाते हैं। साथ ही यह सभी गीत एक–दूसरे से भिन्न और सुंदर होते हैं।

त्रिपुरी जनजातीय लोग अपने सभी क्रिया –कलापों को गाकर या नाच कर व्यक्त किया करते हैं। उनके अनुष्ठान और विधि– विधान गीतों की सृष्टि करने वाले होते हैं। उनके गीतों में दैनिक जीवन के अनुभवों का काव्यात्मक वर्णन रहता है। त्रिपुरी जनजातियों का लोकसंगीत जीवन की निकट परिस्थितियों का अनुचर है। जो कुछ उनके विश्वास हैं, उनकी धारणाएँ हैं, उसके प्रति उनकी उत्सुकता है और गीत गाने का अवसर इन लोगों के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण सत्य है। इसका एक उदाहरण हम इस रूप में देख सकते हैं–

ओ जादु सेमानो तोङतुई ताकुलाई
तोङखाई, सेलेसा हिनजाग गानु
ताङमुङ पागराचुङ ताङलाई खुलाई,
कुखुङसे कुलुग गानु।

अर्थात् त्रिपुरी जनजातियों में परिवार को समाज का महत्वपूर्ण आधार माना गया है। परिवार के बिना मनुष्य का जीवन दिशाहीन हो जाता है। इस गीत में पत्नी पति से कहती है कि, हे प्रिय! यदि पिछले वर्ष की तरह इस बार भी ऐसे ही बैठे रहेंगे तो सब हमें आलसी कहकर ताने मारेंगे। इस तरह से हर वर्ष कार्य को अधूरा छोड़ देंगे तो हमारा घर गृहस्थी अभावों से घिरा रहेगा। इस तरह पत्नी के मन में लोकलाज के जो भाव हैं वह पति को गीतों के माध्यम से समझाने में ज्यादा सरल मानती है। त्रिपुरी समाज में पत्नी की नज़रों में पति का स्थान उच्चतम स्थान है। हर कार्य में पत्नी कदम से कदम मिलाकर पति का साथ देती है।

वैसे त्रिपुरी समाज में अधिकांश ग्रामवासी पहले झूम खेती करके ही जीविका कमाते थे, कारण पहाड़ी क्षेत्रों में समतल खेतों का अभाव था। इन झूम खेतों से जुड़े लोकगीत साठ–

सत्तर के दशक में प्रतिदिन लोग गाते थे। यहाँ हम उस माँ के ममत्व को देख और महसूस कर सकते हैं। जो झूम खेतों में कदम से कदम मिलाकर पति के साथ काम करती है, पर संतान के प्रति अपने कर्तव्य को भी नहीं भूलती है। यहाँ माँ अपने पुत्र को सुलाने के लिए जो गीत गाती हैं, उसे कॉकबरक भाषा में 'वायुङ खिलमानि' कहते हैं। माँ पुत्र को पालने में झुलाकर सुला देती है और अपने लाल को समझाने का प्रयास करती है और कहती हैं कि–

साजोरा जोरा दिपरनि जोरा
बाबू थुनानि जोरा
नुमानि यागचु नोतोईजुक कुरूई
नोनोबो नाईनाई कुरूई
नुफानि यागचु नुखरा कुरूई
नोनोबो नाईनाई कुरूई।

अर्थात् इस लोकगीत में यह बताने का प्रयास किया गया है कि यह जो समय है, न तो सुबह का समय है और न ही दोपहर का समय है, किंतु मेरा लाल का सोने का समय हो गया है। मौसम अत्यंत सुहावना है। मेरे राजकुमार तुम्हारे भी सोने का समय है। माँ पुत्र से कहती है कि न तो तुम्हारी माँ की कोई छोटी बहन है और न ही तुम्हारा कोई काका है, जो तुम्हें देखने वाला है। इसी गीत का दूसरा भाग है–

नाखराय खाईबो माचना कुरूई
आति नाखराय ताखायदि ग
लै......लै......ल......
राङचाकनि वायुङ रूगफाईनि बुदुक
मुनाईनो मुथुरनानि।

अर्थात् माँ पुत्र को सुलाने का प्रयास करती है पर माँ पुत्र को सुलाने में सफल नहीं होती है। तब माँ बार–बार अपने लाड़ले को समझाती है कि, नखरे करने से भी खाने को कुछ नहीं मिलेगा, मेरे राजकुमार नखरे मत करो। तुम्हारा जो पालना है वह सोने का है और उसकी रस्सी चाँदी की है। मेरे लाल को सुलाने के लिए। पारिवारिक जीवन का गृहस्थी सुख बच्चों से ही पूर्ति पाता है। बच्चों की परवरिश में ममत्व एवं वात्सल्य रूप सभी समाजों में एक सा मिलता है। त्रिपुरी समाज में लड़का और लड़की में इतना भेदभाव हमें देखने को नहीं मिलता है। लड़की के प्रति माता–पिता के मन में रागात्मक संबंध है। माता–पिता के सुख दुःख को बेटी ही ज्यादा समझती है। समाज का यह नियम है कि वह समय आने पर बेटी को ससुराल भेज देती है। अच्छा हो या बुरा बेटी ससुराल को ही अपना परिवार मानकर आजीवन निभाने का प्रण लेती है। यहाँ त्रिपुरी लोकगीत का एक उद्धरण है–

बुमा बाई साजुक कोक सुरखाईनो
खाबिसिङग बिसिङग साजुक वानसुङगो
फानो चाजाक थाया
हामजुकनो नाफायना फाईखा हिनखाइनो
बुफानो आलाई काबो।

भावार्थ यही है कि त्रिपुरी समाज में बेटी का विवाह तय हो चुका है। ऐसी परिस्थितियों में माँ बेटी दोनों सोच–सोच कर अत्यंत दुःखी हो जाती हैं कि बेटी ससुराल जाकर कैसे रहेगी। बेटी पिता पर मन ही मन क्रोध करती है कि समय से पहले उसे क्यों ससुराल भेज रहे हैं। जब ससुराल वाले उसे लेने आते हैं तो पिता को सोचकर और ज्यादा बिलखकर रोती है। 1945 से पहले त्रिपुरी समुदाय के लोगों में चामरि ओमपा (घर जमाई प्रथा) प्रथा प्रचलित थी किंतु 1945 के बाद यह प्रथा समाप्त तो पूर्ण रूप से नहीं हुई किंतु यह प्रथा व्यावहारिक रूप में बहुत कम प्रचलन में देखी गई थी और बेटियाँ ससुराल जाने लगीं।

त्रिपुरी समाज के लोकगीतों में पिता–पुत्र, पिता–पुत्री, माँ–पुत्री, सास–बहू, भाई–बहन के सुंदर व मधुर संबंध को मौलिकता के साथ दैनिक जीवन में जिया जाता है। उदाहरण के तौर पर हमें यहाँ पिता–पुत्री के संबंधों के मधुर चित्रण देखने को मिलता है–

बुईनि ले बुफानो फा कुतुई नुकदि, बुईनि ले बुमानो माकुतुई नुकदि।
नुमानो बुईकुतुई नुकीली, बुफानो बुईकुतुई नुकदि।
निनिले ताखुकनो बुईकुतुई नुकदि, ककचले खुनचिलि लगुईदि।

पुत्री के प्रति पिता का प्रेम हर शब्दों में व्यक्त हो रहा है। विवाह के पश्चात् विदाई की घड़ी आती है तो पिता बेटी से कहता है कि ससुराल जाकर पति के पिता को ही पिता मानकर सम्मान करना, दूसरों की माँ को माँ मानकर उनकी सेवा करना, दूसरों के भाई–बहन को अपना मानकर प्रेम देना। इस तरह तुम जीवन में सफलता पाओगे, सुखी रहोगे। इस प्रकार त्रिपुरी जनजातियों के समाज में सदैव पुत्री को पिता के करीब माना गया है। बेटी जितनी माँ के करीब होती है, उतना ही पिता की भी लाडली है।

त्रिपुरी समाज में जब बेटी का विवाह तय हो जाता है, उसी दिन से तैयारी शुरू कर दी जाती है। धान सुखाना, धान साफ करना, घरों को लेपना, देशी शराब को बनाने के लिए 'मामि माई' (सुगंधित चावल, जो जनजातियों में हर शुभ कार्य, पूजा, उत्सव आदि में विभिन्न पकवानों के रूप में प्रयोग किया जाता है) से देशी चुवाक (शराब), बुतुक(छोटे–छोटे मटकों में मामि माई को 15–20 तक चुवान (आयुर्वेदिक औषधि) मिलाकर रख दिया जाता है।) आदि बनाना शुरू कर दिया जाता है। रिश्तेदारों को घर–घर जाकर न्योता बेटी के पिता द्वारा ही दिया जाता है। इस प्रकार विवाह परंपराओं में भी यहाँ की परंपराएँ आज भी जीवित हैं। इन रीति–रिवाजों में आज लोकगीत जीवित है।

त्रिपुरा के जनजातीय समाज में झूम की खेती प्राचीन काल से ही बहुत प्रसिद्ध है। कारण जनजातियों का जीवन कृषि पर आधारित है। साथ ही रोजगार का मुख्य आधार झूम खेती ही है। यह गीत भी इसी झूम खेती पर आधारित है जिसमें प्रेमी–प्रेमिका अपने–अपने मचान में रहकर अपनी– अपनी खेतों की रखवाली कर रहे हैं, साथ ही एक–दूसरे का हालचाल पूछ रहे हैं, यह गीत इस प्रकार है–

ओ दादा नुङखाईबा हिनो गाईरिगवो साईचुग
आङले तोखा फाईबो होनि–होनि माहिनो
बादुकुङ फुनुकनानि
बारिया काईबो वाथोप सुईनानि
यागबो माथाकया खुगबो माथागया
आनो नुङफायदि हिनो।

इस गीत के माध्यम से प्रेमी व प्रेमिका दोनों आपस में बातें करते हुए एक–दूसरे का हालचाल पूछ रहे हैं। एक–दूसरे को इस बात से अवगत कराते हैं कि उनका खेत अब किस स्थिति में है। प्रेमिका अर्थात् युवती युवक से कहती है कि, "हे प्रिय! मैं तो मचान में अकेली हूँ और कौवों के आने से होनि–होनि कहकर भगाना पड़ता हैं। खेतों में फसल डालने पर बेरा देने के लिए बाँस को नुकीली आकार देकर बेरा बनाना पड़ता है। हाथों और मुँह को एक क्षण के लिए भी आराम नहीं मिलता है और तू मुझे अपने मचान में बुला रहा है।" इस प्रकार से युवक–युवती ने आपस में अपनी–अपनी व्यस्तता जाहिर की है।

इस सृष्टि का निर्माण स्त्री और पुरुष दोनों के सहयोग से हुआ है। इसलिए आदि काल से ही हम देख सकते हैं कि स्त्री और पुरुष के संबंध को पति–पत्नी के नाम से संबोधित किया गया है। दांपत्य जीवन के सुख–दुःख के हर क्षण को लेकर प्राचीन काल से ही लोकगीतों की रचना होती रही है। जिसमें पति–पत्नी के बीच के हृदयगत भावनाओं को यथार्थ के साथ व्यक्त किया गया है। साथ ही पावस ऋतु में बारहमासा के गीत प्रायः गाए जाते हैं। इन गीतों में पति के वियोग में उसकी विरहिणी नायिका के द्वारा वर्ष के प्रति मास में अनुभूतियों का वर्णन होता

है। त्रिपुरा के जनजातियों के दांपत्य जीवन से संबंधित प्रेम गीत में संयोग और वियोग दोनों तरह के गीत हमें सुनने को मिलते हैं। यह सभी बारहमासा से संबंधित है। इसका एक उदाहरण हम इस रूप में देख सकते हैं–

जेष्ठ थाङ्गुई आषाढ़ फाईखा
हापुङ गोनाङ्गुई माई दुमुई–दुमुई
नोखा गुनाङ्गुई उखिवो चुमुई
खापाङ्ले खाकुरूई थारो।

यह लोकगीत दांपत्य जीवन से संबंधित विरह गीत है। इस गीत के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि जेष्ठ महीना समाप्त हो गया है, अब आषाढ़ का महीना आ चुका है। ऐसे में एक पत्नी को पति की याद सताने लगती है। साथ ही पति संग बिताई गई मीठी स्मृतियों में खो जाती है। मन ही मन बतियाने लगती है कि, "जेष्ठ का महीना तो चला गया है और अब तो आषाढ़ का महीना भी आ गया है। चारों ओर देखो तो केवल पहाड़ो में धान ही धान है और आसमान में बादलों की हलचल है। ऐसे में मेरा यह बावला मन और ज्यादा उदास हो जाता है। मेरा मन मेरे वश में नहीं है, मानो वह इस मतवाले बादलों के संग दूर आकाश में उड़ जाना चाहता हो।" इसी तरह से दूसरा गीत है–

कुचुङ तोलिग चिङ चिरिग पुङखाईबो
बोलङनि तोलिगबा राङचागदा ओङखा
तोलिगनो सिनियाबा
कुचुङ तोलिग चिगफुरू बुरूम–बुरूम
मोकोलनि मुकतुई पुगवो।

यह लोकगीत लंबा है, गीत का कुछ अंश ही मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है। पत्नी अपने वैवाहिक जीवन में सुखद व दुखद दोनों ही क्षणों को लेकर पति से बिछुड़ने तक की जितनी भी गाथाएँ हैं, उसको याद करती है। गीत का भावार्थ है, "रात अत्यधिक वीरान है। चारों ओर घनघोर अँधेरा छाया हुआ है। कई कीट टिमटिमाने और गीत गाने लगे हैं। क्या जंगल का चील पक्षी सोना बन गया है? हे प्रिय! जब भी रात में जुगनुओं को आनन्दमयी होकर गीत गाती हुई देखती हूँ, मेरे इन नेत्रों से अनायास ही आँसू बरसने लगते हैं।

त्रिपुरी समाज के सांस्कृतिक पर्वों में कई ईश्वर भक्ति से संबंधित गीत हम देख सकते हैं। यहाँ मैं त्रिपुरी (देबबर्मा वंशज) समुदाय के बीच गोरिया देवता की पूजा से संबंधित गीतों के बारे में बात करना चाहूँगी। यह पूजा अत्यंत हर्ष व उल्लास के साथ धूमधाम से मनाया जाता है। इस पूजा को लेकर कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। गोरिया देवता की पूजा जमातिया समुदाय में सबसे ज्यादा विश्वास व श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। इस पूजा को करने के लिए कई रीति–रिवाजों का पालन करना आवश्यक है, अन्यथा यह पूजा अधूरी मानी जाएगी। अभी गोरिया पूजा शुरू हुई ही नहीं कि जनजातीय लोगों में इस पूजा को लेकर, साथ ही बाबा गोरिया को लेकर अत्यंत उत्साह, उमंग व खुशी के साथ पूजा की तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं, कारण इन लोकगीतों में ही लोक परंपराएँ, लोक आस्थाएँ युगों–युगों से जीवित हैं। इस पूजा से संबंधित गीत है–

ओचाईनि हिक कुसाई लुबाई तोङचो
थागुई चायादा तोङ
आईसीरी सीरी नोगो काफायबा
चामुङ–बुङमुङदा तोङ
नोङफाङ वानदाल एङसानि चुमुई
नखा तलानी चुमुई।

इस गीत का भावार्थ है कि बाबा गोरिया की पूजा शुरू होने वाली है इसलिए गोरिया पूजा स्थापित करने वाला घर का मालिक सुबह–सुबह पुरोहित को आमंत्रित करने के लिए जाता है। पुरोहित घर पर नहीं है किंतु पुरोहित की पत्नी को निमंत्रण देकर चला आता है। पुरोहित की पत्नी कहती है कि पूजा आरंभ होने को है। यदि घर में किसी चीज़ की कमी है तो समय रहते तैयार कर लो। घर

का मालिक कहता है कि देवता की पूजा के लिए बाँस की आवश्यकता है, बाँस के इन पत्तों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आकाश में घने बादल छा गए हों। इसी तरह से दूसरा गीत है, जिसमें गोरिया बाबा गोरिया को संबोधित किया गया है। जैसे–

ओ गोरिया ओ, चाना हुवुईबो फाया
वुडन्वा हुवुईबो फाया, नोनो से नायना फायो।
बो..लेर....बो ...ले र बोल.....।

इस गीत को नवयुवक मिलकर गाते हैं। बाबा गोरिया के लिए कहा गया है कि "बाबा गोरिया को तो सिर्फ अपने भक्तों की चिंता है इसलिए केवल भक्तों को दर्शन देने के लिए आया है। न तो उन्हें खाने का शौक है, न पीने का क्योंकि वह केवल भक्त लोगों के कुशल मंगल जानने के लिए आया है।"

इस तरह से हम त्रिपुरी समुदाय में सामाजिक व सांस्कृतिक पक्ष के लोकगीतों में यहाँ के लोक जीवन को अपनी परंपराओं के साथ जीते हुए देख सकते हैं। इन लोकगीतों में अपनापन है। इन गीतों के माध्यम से लोग अपनी हृदयगत भावनाओं को व्यक्त करते हैं। उनके पास अपने गीतों के प्रचार–प्रसार के लिए भले ही कोई माध्यम नहीं है। मनुष्य को मनुष्य होने का एहसास उनकी संस्कृति ही उन्हें दिलाती है। हर पर्व, संस्कार आदि से जुड़े हुए लोकगीत यहाँ के लोक जीवन में आज भी देखने और सुनने को मिलते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कॉकबरक भाषा उ साहित्य– कुमुदकुंदु चौधरी
2. प्राचीन त्रिपुरी लोक संगीत संकलन– नरेंद्र देबबर्मा
3. ट्राइबल पूजा एंड फेस्टिवल्स इन त्रिपुरा प्रिया ब्रता
4. कॉकबरक भाषा शिक्षार आसर– कुमुदकुंदु चौधरी

– के द्वारा जोगिंदर देबबर्मा, समीप बिजय कुमार एच/एस गर्ल्स स्कूल, चारकुथिर लैंड, अगरतला, त्रिपुरा–799001

❑❑❑

नेपाली भाषा के आदिकवि भानुभक्त आचार्य

डॉ. अभिजीत सिंह

भानुभक्त आचार्य एक नेपाली कवि, अनुवादक और लेखक थे। वह महान महाकाव्य रामायण का संस्कृत से नेपाली में अनुवाद करने वाले पहले लेखक थे। अपने समय के दौरान देश में अन्य समकालीन कवि होने के बावजूद, उन्हें नेपाली भाषा के आदिकवि की उपाधि से सम्मानित किया जाता है। उनकी कविताओं को बाद में प्रसिद्ध कवि मोतीराम भट्ट ने प्रकाशित किया।

भानुभक्त आचार्य (1814 – 1868), नेपाल के कवि थे जिन्होंने नेपाली में रामायण की रचना की। नेपाली साहित्य के क्षेत्र में प्रथम महाकाव्य रामायण के रचनाकार भानुभक्त का उदय सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। पूर्व से पश्चिम तक नेपाल का कोई ऐसा गाँव अथवा कस्बा नहीं है जहाँ उनकी रामायण की पहुँच नहीं हो। भानुभक्त कृत रामायण वस्तुतः नेपाल का रामचरितमानस है। भानुभक्त का जन्म पश्चिमी नेपाल में चुँदी–व्याँसी क्षेत्र के रम्घा ग्राम में 29 आषाढ़ संवत् 1871 तदनुसार 1814 ई. में हुआ था। उनके पिता का नाम धनंजय और माता का नाम धर्मावती देवी था। भानुभक्त के दादा का नाम श्रीकृष्ण आचार्य है। उनकी शिक्षा उनके दादा श्रीकृष्ण आचार्य ने अपने होम जेनरेशन स्कूल में शुरू की थी। बाद में, जब उनके दादा काशीवास में थे, वे बनारस गए और संस्कृत व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया। नेपाल के पोखरा में ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता अघोरका त्रिपाठी का नाम प्रसिद्ध था। संभवतः भानुभक्त ने उनके गुरुकुल में ज्योतिष का अध्ययन किया और पौराणिक साहित्य के अध्ययन के लिए बाग्लुंग के बद्रीनाथ पंत के साथ रहे। लेकिन बनारस में पढ़ते समय, जब एक अन्य व्यक्ति ने भानुभक्त से परिचय माँगा, तो उन्होंने उत्तर दिया–

पहाड़को अति वेश देश तनहुँ श्रीकृष्ण ब्राह्मण थिया
खूप उच्चाकुल आर्यवंशी हुनगै सत्कर्ममा मन दिया
विद्यामा पनि जो धुरंधर भई शिक्षा मलाई दिया
उन्कै नाती म भानुभक्त भनि हुँ यो जानी चिन्ही लिया

(यानी : तनाहु श्रीकृष्ण ब्राह्मण पहाड़ों में सबसे सुंदर देश था

बहुत ही उच्च कोटि के आर्यवंशी होने के कारण उन्होंने नेक कामों में अपना दिल लगा दिया

पढ़ाई में भी उन्होंने मुझे बहुत कुछ सिखाया

उनके पोते भानुभक्त इसके लिए जाने जाते हैं।)

नेपाल में ब्राह्मणों के उपनाम कुछ योग्यता के आधार पर हैं, कुछ दजेनी के आधार पर और उनमें से अधिकांश स्थान विशेष के आधार पर पाए जाते हैं। आचार्य मंत्रों का पाठ करने या वेदों का पाठ करने, वैदिक यज्ञों के अध्यक्ष आदि, या संस्कृत शिक्षा में सर्वोच्च डिग्री के स्वामी हैं। नेपाल में दो प्रकार के आचार्य हैं– कौडिन्या गोत्रीय आचार्य और गर्ग गोत्रीय आचार्य। इसलिए जब वे अपने दादा श्रीकृष्ण का परिचय कराते हैं तो कहते हैं 'ऊँची जाति के आर्यवंशी'। चुंडी और राम्घा के आचार्य वंश के परिवार आज भी विभिन्न विषयों के विद्वान और प्राध्यापक हैं। जिस समय भानुभक्त हुए थे उस समय नेपाल में किसी भी प्रकार का कोई स्कूल या कॉलेज

नहीं था। इसलिए शिक्षा की दृष्टि से देश अंधकार में था।

भानुभक्त के जीवन के पहले और दूसरे भाग में देश की राजनीतिक गतिविधि एक महत्वपूर्ण मोड़ पर थी। दरबारिया षडयंत्र के कारण हुई हत्या, हिंसा और रक्तपात के मद्देनज़र, नेपाल के एकीकरण के अभियान में महारानी राजेंद्र लक्ष्मी ने तिस्ता से सतलुज तक एक विशाल नेपाल का निर्माण करने वाले राजकुमार बहादुर शाह, अपने ही देवर को गंभीर रूप से प्रताड़ित किया। बाद में गुप्त रूप से उनकी हत्या कर दी गई थी। काजी दामोदर पांडे को भीमसेन थापा ने रण बहादुर शाह के आदेश पर नियुक्त किया था। किंतु भद्रकालिन नामक स्थान के पास मसनघाट ले जाया गया और बेरहमी से उनकी हत्या कर दी गई। भीमसेन थापा के आदेश के अनुसार, दरबारियों के साथ–साथ पलपाली राजा पृथ्वीपाल सेन और उनके भाई रण बहादुर सेन को वहाँ लाया गया और उनके अठारह अंगरक्षक मारे गए। घटना में बुजुर्ग वनिता समेत कुल तिरानवे लोगों की मौत हो गई है। यह एक भक्त के जीवन के पहले भाग की घटना है।

भानुभक्त के जीवन के उत्तरार्ध में श्रावण मास की एक शाम को भीमसेन थापा ने सर्विलांस रूम में कमर में चाकू मारकर आत्महत्या कर ली। कुछ समय पश्चात् जंग बहादुर ने कोट महोत्सव भंडारखाल उत्सव और आलोपर्व के नाम पर अपने सैकड़ों शत्रुओं को मार डाला। भीमसेन थापा की हत्या के समय भानुभक्त पच्चीस वर्ष के थे। लेकिन भानुभक्त ने देश में ऐसी साजिशों और हत्याओं के बारे में नहीं लिखा है। हालाँकि यह नहीं कहा जा सकता है कि भानुभक्त देश की गतिविधियों से अनभिज्ञ थे।

भानुभक्त के पिता की खरदार की सरकारी नौकरी थी। भानुभक्त अपने दादा श्रीकृष्ण आचार्य की देखभाल में बड़े हुए। जब वे बाईस वर्ष के थे, तब उनके जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक भक्त के हृदय में काव्य–प्रेम उत्पन्न हो गया। इस भावना के परिणामस्वरूप, उन्होंने तुरंत कुछ पंक्तियाँ लिखीं–

उसने घास को अपना दिल देकर पैसा कमाया
नाम के बाद कुआँ खोदा गया था
घांसी एक गरीब परिवार से है लेकिन किस तरह की बुद्धि?
मेरा भक्त अमीर है लेकिन आज वह ऐसा है
मेरा कुआँ कहाँ है?
पैसा और चीजें घर के अंदर हैं
टैस घांसी ने आज आरती कैसे की?
धिक्कार है मुझे अपना घर न रखने के लिए

अब भानुभक्त ने कविता लिखकर लोगों की सेवा करने का फैसला किया। उन्होंने नेपाली भाषा में रामायण लिखने का फैसला किया। उन्होंने 1841 के आसपास बालकांड लिखना समाप्त किया। 1849 में भानुभक्त पहली बार नेपाल की राजधानी काठमांडू आए। उन्हें अपने एक पड़ोसी के साथ भूमि विवाद को निपटाने के लिए काठमांडू आना पड़ा। विवाद के निपटारे के बाद उन्होंने राज्याश्रय ग्रहण किया। परिणामस्वरूप उन्हें 1850 में नौकरी मिली।

उनके पिता धनंजय आचार्य अपने बेटे की देखभाल पर ध्यान नहीं दे सके थे, क्योंकि वह पाल्पा में एक खरदार थे। लेकिन बाद में जब उनके दादा काशी कल्पवास गए तो उन्होंने दो साल तक संस्कृत का अच्छी तरह से अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य और व्याकरण के साथ–साथ ज्योतिष का भी अध्ययन किया। अपने दादा की मृत्यु के बाद, उन्हें घर लौटना पड़ा और साथ ही, उन्होंने घनसी से प्रेरित होकर इतिहास में अमरता के विचार के साथ रामायण लिखना शुरू कर दिया। नौकरी मिलने के कुछ समय के बाद ही उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। एक मामले में भानुभक्त को पाँच महीने की कारावास की सज़ा भी दी गई, लेकिन दी गई

सजा भानुभक्त के लिए एक बड़ा वरदान बन गई और इसी दौरान उन्हें रामायण के अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधाकांड और सुंदरकांड को तैयार करने का अवसर मिला। जिस प्रकार समस्त संसार में जहाँ भी हिंदीभाषी जनता रहती हो वहाँ तुलसी कृत 'रामचरितमानस' का प्रचार–प्रसार भी स्वाभाविक लगता है, उसी प्रकार नेपाली भाषी जनता में भी भानुभक्त रामायण के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव है। नेपाली जनता भानुभक्त रामायण की पूजा भी करती है। इसी संदर्भ में सूर्य विक्रम ज्ञावली का यह कथन अवलोकनीय है– "उनकी रामायण तथा अन्य कविताओं के अध्ययन से रसीली, हास परिहास करने वाले तथा हल्का और उच्च विचार करने वाले भानुभक्त के चित्र हम देखते हैं। उनकी देशभक्ति ने हमारे हृदय में व्यापक प्रभाव डाला है। उनकी परोपकारी बुद्धि, सबका कल्याण हो, सभी समर्थ हो, सबका भला हो जैसा विचार करने वाले तथा उन्हें शांत प्रकृति के दयालु तथा सभी को प्रेम करने वाले मनुष्य के रूप में हम देख पाते हैं। भगवद्भक्ति में विश्वास रखने वाले मातृभाषा प्रेमी तथा देशभक्त भानुभक्त ने अपनी सेवा द्वारा हमारे जातीय विकास के लिए जो महान कार्य किया है, जिसके लिए नेपाली जाति के निर्माता वीरों के मध्य उनको प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है।"[1] भानुभक्त नेपाली साहित्य के इतिहास में सबसे चर्चित प्रतिभाओं में से एक हैं। जितना उनके बारे में लिखा गया है, उतना अन्य लेखकों के बारे में नहीं लिखा गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्री पृथ्वीनारायण शाह ने न केवल खंडित नेपाल का भौगोलिक एकीकरण किया, बल्कि भानुभक्त ने, विशेष रूप से रामायण के माध्यम से, भाषाई, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक रूप से खंडित, घायल नेपाली हृदय को एकीकृत किया। यदि यह कहा जाए कि भानुभक्त द्वारा प्रदान की गई नेपाली भाषा के कारण, दुनिया भर में नेपालियों के बीच भाषाई एकता स्थापित हुई है, तो अतिशयोक्ति न होगी। 1910 में रामायण, प्रश्नोत्तरी और भक्तमाला के लेखन के बाद 1919 में वधूशिक्षा, 1925 में राम गीता और 1889 से 1925 तक विभिन्न छोटी–छोटी कृतियाँ भानुभक्त द्वारा अपने समाज व संस्कृति के उत्थान हेतु लिखी गई हैं। आदिकवि भानुभक्त ने नेपाली भाषा साहित्य की उत्पत्ति, उत्थान और विकास में विशेष योगदान दिया है। उनकी सभी कविताओं में संगीत के अविभाज्य स्वाद का समान रूप से अनुभव किया जा सकता है। नेपाली कविता के पूरे प्रारंभिक काल का प्रतिनिधित्व करते हुए कवि आचार्य की चौवन वर्ष की आयु में ज्वर से मृत्यु हो गई। 26 सितंबर, 1925 को भले ही उन्होंने अपने इकलौते पुत्र रामनाथ आचार्य और उनकी पत्नी रेवती देवी आचार्य को छोड़ दिया, लेकिन वे अब भी नेपाली भाषा और साहित्य के भक्तों के बीच चमक रहे हैं।

भानुभक्त आचार्य ने नेपाली भाषा और साहित्य में बहुत बड़ा योगदान दिया है। फलस्वरूप उन्हें आदिकवि का सम्मान प्राप्त हुआ है। राष्ट्रभाषा नेपाली के प्रमुख उपदेशक बनकर और साहित्य के माध्यम से नेपाली लोगों के जीवन की आस्था, विश्वास और व्यावहारिक पहलुओं को समाहित करके उन्होंने देश और समाज में नेपाली भाषा के प्रति प्रेम को बढ़ावा दिया है। ऐसे समय में जब संस्कृत भाषा और पुराणों का बोलबाला था। भानुभक्त को पुरुषोत्तम श्रीराम की महिमा के आधार पर भाषाई और आध्यात्मिक दुनिया में मूल पहचान स्थापित करने के लिए एक बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। भानुभक्त का उद्देश्य साहित्य के माध्यम से समाज में धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता, नैतिकता, आदर्श, प्रेम और सत्य का पाठ पढ़ाना है। एक और महान योगदान रामायण जैसे महाकाव्य की रचना करना है, जिसका उद्देश्य भौतिक प्रगति और विकास के नाम पर भाईचारा स्थापित करना, पतिव्रता, कर्तव्यपरायणता, आज्ञाकारिता के नाम पर समाज और परिवार में प्रवेश करने वाली विभिन्न विकृतियों को

बदलना है। भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन हमारी पहचान हैं। नेपाली भाषा और साहित्य में भानुभक्त का योगदान नेपाली भाषा को सामान्य और महत्वहीन मानने वाले उस समय के पंडितों के खिलाफ जनता का समर्थन लेकर उसी उम्र के अनुसार प्रगति करना है। साथ ही, भाषा, साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, परंपरा, चरित्र, पितृसत्तात्मक प्रेम जैसे समग्र मुद्दों में सद्भाव और समावेशिता लाकर नेपाली राष्ट्र में उनके योगदान के लिए उन्हें नेपाल के राष्ट्रीय नायक के रूप में सम्मानित किया गया है। भानुभक्त द्वारा प्रदान की गई नेपाली भाषा के कारण, यह पूरे विश्व में नेपाली भाषियों द्वारा बोली जाती है, जिससे उनमें एकता स्थापित हुई है। उसी भक्तिमय रामायण की आत्मा में बसी नेपाली भाषा ही थी जिसने उन्हें अमर बना दिया डॉ. दीनानाथ शरण की माने तो– "लोगों के बीच प्रचलित सामान्य बोलचाल की उस भाषा को साहित्यिक भाषा बना देने का श्रेय भानुभक्त को ही प्राप्त है। इस दृष्टि से वे हिंदी कवि तुलसीदास से तुलनीय हैं। तुलसीदास ने जिस तरह अवधि को साहित्यिक महिमा से मंडित कर दिया था। भानुभक्त ने नेपाली भाषा को साहित्यिक स्तर पर स्थापित किया।"[2]

भानुभक्त को नेपाली भाषा का पहला आदिकवि माना जाता है। यह न केवल उनका विशेषण है बल्कि उनकी समकालीन नेपाली कविता का प्रतीकात्मक नाम भी है। भानुभक्त ने दिखाया है कि कविता अपने अस्तित्व को तब तक साबित नहीं कर सकती जब तक वह लोगों के दिल को नहीं छूती और अपने स्पंदन के साथ मिश्रित नहीं होती। वे कविता का पूरा चेहरा प्रस्तुत नहीं कर सके क्योंकि भानुभक्त के पहले के कवियों ने टूटी–फूटी अभिव्यक्तियों में कविताओं की रचना की और एक सीमित दायरे पर कब्जा कर लिया। उस समय केवल भानुभक्त ने ही कविता की वास्तविक पहचान बनाई थी। नेपाली भाषा में राम कथा भानुभक्त से पहले इतना व्यवस्थित और सरल शैली में नहीं लिखा गया था। यही कारण है कि नेपाली जनता ने उसे हाथों–हाथ लिया अपने माथे से लगाया। उसे अपना जातीय महाकाव्य माना इसी बात को डॉ. मथुरा दत्त पांडे कहते हैं कि– "भानुभक्त ने यह बहुत बड़ी बात की कि जनता को उसकी भाषा में वह वस्तु दे दी, जिसके साथ उसका बहुत पुराना सांस्कृतिक संबंध था। भूली हुई जनता को भानुभक्त द्वारा प्रदर्शित मार्ग नवीन ना होता हुआ भी नवीन लगा।"[3] इसलिए वे नेपाली भाषा और साहित्य के विपुल कवि हैं। भानुभक्त वह कवि हैं जो कविता के वास्तविक अर्थ को समझते हैं। इसलिए भानुभक्त आदिकवि हैं।

हमें यह समझना होगा कि मूल्यांकन के मापदंडों पर विचार किए बिना किसी लेखक को आँकना उचित नहीं होगा। यदि कोई स्थापित सिद्धांतों के बिना कार्यों की आलोचना करता है, तो यह उचित आलोचना नहीं है, बल्कि केवल मन का प्रवाह है। सिद्धांत के बिना मन का प्रवाह वैज्ञानिक नहीं है। नेपाली कविता के राम भक्तिधारा के तहत कविता की रचना करने वाले कवि आचार्य को बाद के लेखकों के लिए एक मानक के रूप में देखा जाता है। आधुनिक नेपाली साहित्य में भानुभक्त का प्रयोग विभिन्न विधाओं में एक विषय के रूप में भी किया जाता है। आलोचना की शैली में उनका पहली बार मानक के रूप में उपयोग किया गया है और इस शैली में भानुभक्त के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। काव्य विधा के प्रथम महान कवि देवकोटा ने वर्ष 1995 ई.पू. में भानुभक्त को निर्वाह कवि बनाया। इसमें देवकोटा भानुभक्त को प्रथम ध्वनि कहते हैं और उनकी पहचान नेपाली साहित्य के एक सुंदर शुक्र नक्षत्र के रूप में करते हैं। देवकोटा ने काव्य विधा के साथ–साथ उन्हें निबंध विधा में भी अपनाया है। वि.सं. 2002 में, भानुभक्त को 'नेपाली साहित्य के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ पुरुष' शीर्षक से एक निबंध लिखकर नेपाली साहित्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में उल्लेख किया गया है। नाट्य सम्राट बालकृष्ण सैम ने भानुभक्त

को नेपाली नाटक शैली में निर्वाह के रूप में अपनाया है। वि.सं. 2000 में, भानुभक्त की जीवनी पर प्रकाश डालने के लिए भक्त भानुभक्त नामक एक नाटक लिखा गया था। बालकृष्ण सैम द्वारा एक भक्त के रूप में मंच पर प्रदर्शन करने के बाद, 7 सितंबर, 2002 को गौरीशंकर नाट्य समुदाय द्वारा इसका मंचन किया गया था। इस नाटक में उन्होंने भानुभक्त को युग के आदर्श पुरुष के रूप में चित्रित करने का कार्य किया है।

विनोदी निबंधकार भैरव आर्यल ने वि.सं. 2022 में 'अमरावती कांतिपुरी नगरी' शीर्षक से एक निबंध भी लिखा है। नेपाली लेखकों और नेपाली राष्ट्रीय नायकों का सम्मान करते हुए यादव खरेल ने भानुभक्त नामक एक फिल्म बनाई। भानुभक्त का उपयोग कई नेपाली लेखकों के निर्वाह के रूप में किया गया है। भानुभक्त से संबंधित सैकड़ों कविताएँ हर साल भानु जयंती के अवसर पर देश के अंदर और बाहर लिखी और प्रकाशित की जाती हैं। समालोचना की शैली में और शोध की परंपरा में भी भानुभक्तीय स्रोत गुणात्मक रूप से आगे प्रतीत होता है।

नेपाली कविता के क्षेत्र में आदिकवि भानुभक्त आचार्य की रचनाएँ संख्यात्मक रूप से कम लेकिन गुणात्मक रूप से उत्कृष्ट हैं। उनकी काव्य प्रवृत्तियों को तीन दर्जन से अधिक खंड काव्यों, छंदों और एक महाकाव्य के आधार पर संक्षेपित किया गया है। भानुभक्त आचार्य की रचनाओं का सामान्य अध्ययन करते हुए हम पाते हैं कि उनकी रचनाओं में विषयों की पर्याप्त विविधता है। यद्यपि उन्होंने मुख्य रूप से राम भक्ति धारा पर ध्यान केंद्रित करते हुए कविता की रचना की, उन्होंने अपनी कविता में विभिन्न विषयों को स्थान देकर विषयगत विविधता की प्रवृत्ति को अपनाया है। नेपाली मिट्टी, जलवायु, प्रकृति का चित्रण और देशभक्ति, नैतिक आचरण, सामाजिक विकृतियों और विसंगतियों पर व्यंग्य, भविष्यवाद, आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों में उनकी विशेष रुचि है।

अपने देश को धरती पर स्वर्ग बताकर राष्ट्र की सुंदरता को व्यक्त करना भानुभक्त के अपने नेपाली परिवेश के प्रति लगाव को दर्शाता है। नेपाल को प्राकृतिक सौंदर्य की खान के रूप में व्यक्त करते हुए स्वराष्ट्र की गौरवमयी गाथा की अभिव्यक्ति में उच्च देशभक्ति की भावना को व्यक्त करने वाली अपनी कविता में कवि ने अर्थ व्यक्त किया है कि यह विश्व के तमाम सुंदर नगरों से कम नहीं है। कवि भानुभक्त आचार्य ने अपनी कविताओं में नेपाल की प्रकृति का खूबसूरती से चित्रण किया है। उनके विवरण, कांतिपुरी नगरी और रामायण महाकाव्यों में प्रकृति का समृद्ध वर्णन है। भानुभक्त ने नेपाल की नदियों, जलवायु, वन संपदा, पर्वत श्रृंखलाओं आदि का चित्रण किया है। नेपाल की प्रकृति के चित्र उनके रामायण के विविध अंशों में बिखरे हुए हैं।

भानुभक्त आचार्य मूल रूप से राम भक्ति धारा की केंद्रीय प्रतिभा थे, यही कारण है कि इनमें नीति चेतना की दृढ़ता देखी जा सकती है। यद्यपि नीति चेतना मूल रूप से वधूशिक्षा और प्रश्नोत्तरीमाला नामक रचनाओं में भी व्यक्त की गई थी, फिर भी आंशिक रूप से उनकी सभी रचनाओं में नैतिक मूल्यों को व्यक्त किया गया है। पूर्वी संस्कृति और सभ्यता के प्रति विशेष आग्रह के धारक कवि आचार्य ने किसी न किसी रूप में ऋषियों की तरह कविता में अपने शिक्षाप्रद ज्ञान को व्यक्त किया है। काव्य की नैतिक चेतना उस चरित्र, स्वभाव, आचरण, व्यवहार और उदारता, सादगी और तरलता को दर्शाती है जिसे मनुष्य को अपने जीवन में अपनाना चाहिए।

कवि भानुभक्त आचार्य सामाजिक मुद्दों का उपयोग करते हुए कविता लिखने वाले पहले नेपाली कवि हैं। उनसे पहले के कवियों ने केवल शासक की स्तुति और ईश्वर की भक्ति को ही कविता का विषय बनाया था। भानुभक्त आचार्य के सामाजिक मुद्दों पर कविता लेखन का उद्देश्य उस समय के

सामाजिक अन्याय, अनियमितताओं, निष्क्रियता और संघर्ष को सुधारना था।

भानुभक्त के काव्य कर्म में संस्कृत साहित्य के विभिन्न रसों का उपयोग हुआ है। भक्ति रस से सिक्त कविताओं की रचना करने वाले कवि आचार्य की काव्य कृतियों में श्रृंगार, वीरता, करुणा, हास्य, शांत आदि शास्त्रीय रसों का भी समावेश है। यद्यपि उनकी कविताई विभिन्न प्रकार के रसों का उपयोग करती है, किंतु उनमें मूल रूप से शांत, भक्ति और विनोद की प्रधानता है। 'नेपाली साहित्य की भूमिका' के लेखक यज्ञ राज सत्याल का कहना है कि– "संपूर्ण रस से युक्त इस रामायण की कीर्ति गाथा गाने में लोग जितनी उमंग, हर्ष और उत्साह का अनुभव करते हैं, उतना और किसी में नहीं। इसी बात को समझ कर भानुभक्त ने नेपाली में रामायण की रचना की।"[4] कवि भानुभक्त आचार्य की कई विशेषताओं में से एक त्वरित रचनात्मकता भी है। उनके जीवन के कुछ पलों में कविता की बाढ़ सी लगती है। तात्कालिक घटनाओं में झटपट काव्य रचने की उनकी क्षमता कुछ कविताओं में दिखाई देती है। कवि आचार्य ने पाँच माह जेल में रहते हुए रामायण जैसे उच्च कोटि के महाकाव्य की रचना कर त्वरित सृजनात्मकता का परिचय दिया है।

कवि भानुभक्त आचार्य एक राष्ट्रीय कवि हैं जो शुद्ध नेपाली भाषा का उपयोग करते हैं। उनसे पहले के कवि शुद्ध नेपाली भाषा का प्रयोग नहीं कर पाए हैं। नेपाली कविता में संस्कृत, हिंदी, कुमाऊँनी और ब्रज मिश्रित नेपाली भाषा प्रमुख है। कवि भानुभक्त एक कवि हैं जो किसी भी प्रकार के क्षेत्रीय हीनता बोध से मुक्त नेपाली भाषा का उपयोग करते हैं। उनकी भाषा का प्रयोग सरल, वाक्पटु और बोधगम्य होने के साथ–साथ अत्यंत आकर्षक और प्रभावशाली है। जब नेपाली भाषा में रामायण नहीं थी, तो पूरे नेपाल में पुराण पढ़े जाते थे। उस समय सभी को संस्कृत की पुस्तकें पढ़ने की अनुमति नहीं थी। जब भानुभक्त की रामायण आई तो सभी के घर में रामायण रखी गई। वास्तव में उसके बाद ही सभी जातियों के स्त्री–पुरुषों को अध्ययन का समान अवसर मिला और विवाह से लेकर पुराणों तक भानुभक्त की रामायण गाई गई। इसलिए, भानुभक्त की रामायण ने हर उस क्षेत्र में दिन दूनी रात चौगुनी प्रसिद्धि प्राप्त करना शुरू कर दिया जहाँ नेपाली रहते हैं।

भानुभक्त आचार्य को पूरी दुनिया में नेपाली जाति की अस्मिता के रूप में अपनाया जाता है और भानुगाथा नेपाल से ज्यादा भारत में गाई जाती है। भारत के पश्चिम बंगाल राज्य का समूचा उत्तरी भाग जिसमें चार जनपद आते हैं (दार्जीलिंग, जलपाईगुड़ी, अलीपुर द्वार और कूचबेहार) और सिक्किम राज्य भी भानु जयंती को एक त्योहार के रूप में मनाते हैं। भानु जयंती के दिन लगभग सभी लोग दौरासुरुवाल और गुनुचोलो (पारंपरिक परिधान) पहनते हैं। उस दिन यह स्थान नृसिंह, तमको दमाहा और ज्यम्ता से गुलजार रहता है। दरअसल, वहाँ उनकी जमकर तारीफ की जाती है। नेपाली गोरखाओं के लिए भानु जयंती को बड़ा पर्व माना जाता है। दरअसल, नेपाल में भानु जयंती मनाने की परंपरा दार्जीलिंग में भानु जयंती मनाने के बाद ही शुरू हुई थी। भानुभक्त की रचनाएँ नेपाली भाषा में सबसे आगे हैं। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के कारण रामायण लिखी। 'अध्यात्म रामायण' का अनुवाद करने के बाद भी भानुभक्त ने इस कृति को उसके मूल रूप में प्रस्तुत किया। भानुभक्त से पहले नेपाली कवि, नेपाली भाषा और साहित्य को इतने सहज, सरल और मौलिक रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। इसलिए भक्तिमय 'रामायण' को नेपाली भाषा और साहित्य का प्रथम महाकाव्य कहा गया। ऐतिहासिक तथ्य है कि पृथ्वीनारायण शाह ने नेपाल राष्ट्र को भौगोलिक दृष्टिकोण से एक किया। तो हमें यह भी स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि भानुभक्त ने सांस्कृतिक रूप से नेपाली भाषा को एक श्रृंखला में एकीकृत

किया। भक्तिमय नेपाली भाषा के कारण पूरे विश्व में नेपाली भाषियों के बीच भाषाई एकता स्थापित हुई है।

भानुभक्त ने नेपाली भाषा और साहित्य के मंदिर में रामायण, प्रश्नोत्तर, लघु कविताओं, भक्तमाला, वधुशिक्षा और राम गीता सहित सात अध्यायों की रचना की। साथ ही, नेपाली भाषा के साहित्य को उनकी कुछ छोटी –छोटी कविताओं से नवाजा गया है। उनके कई अन्य कार्यों के बावजूद, भानुभक्त रामायण द्वारा अमर थे। और उसी रामायण ने नेपाली भाषा को भी लोकप्रिय बना दिया। वास्तव में रामायण की आत्मा में बसी नेपाली भाषा और साहित्य भी अमर हो गया। सृष्टि की अमरता ने भी सृष्टिकर्ता को अमर बना दिया। भानुभक्त आचार्य की अमरता नेपाली भाषा और साहित्य की अमरता से जुड़ी हुई थी।

भानुभक्त आचार्य ने अपने परोपकारी धर्मदत्त सुब्बा के अनुरोध पर रामायण उत्तर कांड के 'रामगीता' का नेपाली भाषा में अनुवाद किया, भले ही वह अपने जीवन के लिए लड़ रहे थे। हालाँकि, उन्होंने अपने बेटे रामनाथ को 'रामगीता' के साथ छोड़ दिया। अंत में, उस कृति के निर्माण के बाद, यानी 1868 को, भानुभक्त ने अपनी आँखें बंद कर लीं।

बहरहाल, हमें उस युग को एक माध्यम के रूप में उपयोग करते हुए भानुभक्त की रचनाओं को पढ़ना चाहिए। उस समय यह काली गंडकी के मुख के समान था। बाद में यह देवघाट बन गया और नारायणी नदी में बदल गया। जब विद्वानों द्वारा नेपाली भाषा की उपेक्षा की गई, तो शास्त्रीय पंडित भानुभक्त ने संस्कृत ग्रंथों का नेपाली भाषा में अनुवाद करके नेपाली लोगों को भाषा और साहित्य के साथ–साथ आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने का प्रयास किया। संत सदैव कल्याण के मार्ग पर चलते हैं और लोगों का भला करते हैं– इस बात को उन्होंने अपने जीवन में व्यावहारिकता से सिद्ध किया था। रामायण एक ऐसा ही परोपकारी कार्य है। यह हमारा मार्गदर्शक भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भानुभक्त को रामायण, भानुभक्त आचार्य, साझा प्रकाशन, काठमांडू, चौथा संस्करण, वि.सं.–2058, भूमिका, पृष्ठ–2

2. नेपाली साहित्य का इतिहास, दीनानाथ शरण, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1974, पृष्ठ–261

3. नेपाली और हिंदी : भक्ति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. मथुरा दत्त पांडे, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, 1970, पृष्ठ–157

4. नेपाली साहित्य की भूमिका, यज्ञ राज सत्याल, प्रकाशन विभाग, काठमांडू, 1917, पृष्ठ–26

– फ्लैट नं.–5बी, ई ए–31, सोनारतरी अपार्टमेंट, घोषपारा, देशबंधु नगर, कोलकाता, पश्चिम बंगाल–700059

❑❑❑

पूर्वोत्तर भारत का भाषिक परिदृश्य और हिंदी का भविष्य

वीरेंद्र परमार

भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र बांग्लादेश, भूटान, चीन, म्यांमार और तिब्बत पाँच देशों की अंतरराष्ट्रीय सीमा पर अवस्थित है। असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, त्रिपुरा और सिक्किम–इन आठ राज्यों से बना समूह पूर्वोत्तर कहलाता है। यह क्षेत्र भौगोलिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। पूर्वोत्तर का कुल क्षेत्रफल 2,55.168 वर्ग किमी है। पूर्वोत्तर के कुल क्षेत्रफल का 52 प्रतिशत भूभाग वनाच्छादित है। इस क्षेत्र में 400 समुदायों के लोग रहते हैं और लगभग 220 भाषाएँ बोलते हैं। पूर्वोत्तर की अधिकांश भाषाओं के पास अपनी कोई लिपि नहीं है, लेकिन लोककंठों में विद्यमान लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी है। संस्कृति, भाषा, परंपरा, रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, पर्व–त्योहार, वेशभूषा आदि की दृष्टि से यह क्षेत्र इतना वैविध्यपूर्ण है कि इस क्षेत्र को भारत की सांस्कृतिक प्रयोगशाला कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। पूर्वोत्तर में आदिवासियों की सर्वाधिक आबादी है। अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम, नागालैंड और मेघालय की लगभग संपूर्ण जनसंख्या आदिवासी है। सैकड़ों आदिवासी समूह और उनकी अनेक उपजातियाँ, असंख्य भाषाएँ, भिन्न–भिन्न प्रकार के रहन–सहन, खान–पान और परिधान, अपने–अपने ईश्वरीय प्रतीक, धर्म और अध्यात्म की अलग–अलग संकल्पनाएँ इत्यादि के कारण यह क्षेत्र अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। यह क्षेत्र घने वन और वन्य प्राणियों से समृद्ध है। जीव–जंतुओं की असंख्य दुर्लभ प्रजातियों, वनस्पतियों एवं पुष्पों की अनेक प्रजातियों, औषधिय पेड़–पौधों के आधिक्य के कारण पूर्वोत्तर क्षेत्र को वनस्पतिविज्ञानियों, पुष्पविज्ञानियों व जंतुविज्ञानियों का स्वर्ग कहा जाता है। पर्वतमालाएँ, सदाबहार वन एवं सदानीरा नदियाँ इस क्षेत्र के नैसर्गिक सौंदर्य में अभिवृद्धि करती हैं। भाषा की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत अत्यंत समृद्ध है। इस क्षेत्र में 220 से अधिक भाषाएँ–बोलियाँ अस्तित्व में हैं, लेकिन अधिकांश भाषाएँ लिपिविहीन हैं। असमिया और अंग्रेजी असम की राजभाषाएँ हैं। असम की बराक घाटी में स्थित जिलों की राजभाषा बांग्ला है जबकि कार्बी आंगलोंग के स्वायत्त जिलों तथा नार्थ कछार के जिलों की राजभाषा अंग्रेजी है। कोकराझार और अन्य बोडो बहुल जिलों में बोडो भाषा को सहभाषा के रूप में मान्यता दी गई है। शिक्षा के क्षेत्र में त्रिभाषा सूत्र लागू है जिसके अंतर्गत असमिया के अतिरिक्त बांग्ला, हिंदी, बोडो तथा अंग्रेजी को भी सहयोगी भाषा के रूप में मान्यता दी गई है। कक्षा एक से दसवीं तक की शिक्षा सामान्यतः असमिया माध्यम से दी जाती है। हिंदी कक्षा छह से दस तक पढ़ाई जाती है। असम राजभाषा नियम 1970 के अनुसार जनता से प्राप्त अभ्यावेदनों, याचिकाओं और पत्रों के उत्तर ब्रह्मपुत्र घाटी में असमिया में, कछार जिलों में बांग्ला में और स्वायत्त क्षेत्र या जिलों में अंग्रेजी में दिया जाएगा। मेघालय में खासी, जयंतिया और गारो तीन प्रमुख आदिवासी समुदाय के अतिरिक्त तिवा, राभा, हाजोंग, लाखेर, कार्बी, बाइते, कुकी आदि जनजातियों के लोग निवास करते हैं। मेघालय राज्य भाषा अधिनियम 2004 के अनुसार अंग्रेजी यहाँ की राजभाषा है। इसके अतिरिक्त ईस्ट खासी हिल्स, वेस्ट खासी हिल्स, जयंतिया हिल्स और रि–भोई जिलों में खासी भाषा सहायक राजभाषा है।

इसके अतिरिक्त ईस्ट गारो हिल्स, वेस्ट गारो हिल्स और साऊथ गारो हिल्स जिले में गारो भाषा सहायक राजभाषा है। मेघालय में सभी स्तरों पर अंग्रेजी न्यायालयों की भाषा है। मेघालय में खासी भाषा बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ लगभग 48 प्रतिशत लोग खासी और 32 प्रतिशत लोग गारो भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त बांग्ला, नेपाली, हिंदी, मराठी और असमिया भाषा भी बोली जाती है। मिजोरम की प्रमुख भाषाएँ हैं–मिज़ो, जाहू, लखेर, हमार, पाइते, लाई, राल्ते इत्यादि। मिजोरम की राजभाषा मिज़ो है। मिज़ो भाषा चीनी–तिब्बती परिवार की भाषा है। यह मिज़ोरम और म्यांमार के चीन हिल्स राज्य में बोली जाती है। इसे दुहलियन भाषा के नाम से भी जानते हैं। मिज़ो भाषा मुख्य रूप से लुसेई बोली पर आधारित है, लेकिन इस भाषा में मिजोरम के अन्य आदिवासी समूहों की बोलियों के शब्द भी घुलमिल गए हैं। मिज़ो भाषा मिज़ोरम और उसके आसपास के क्षेत्रों जैसे, असम, त्रिपुरा और मणिपुर के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। इस भाषा में पावी, पाइते, मार आदि भाषाओं के शब्द ही नहीं बल्कि काव्य–परंपरा भी उपलब्ध है। मिज़ो मिज़ोरम की आधिकारिक भाषा है। मिज़ो के अतिरिक्त यहाँ बांग्ला, हिंदी और अंग्रेजी भी बोली जाती है। नागालैंड की एक समृद्ध भाषिक परंपरा है। नागालैंड की प्रत्येक जनजाति की अलग–अलग भाषा है और इन भाषाओं के भीतर भी अनेक बोलियाँ हैं जो एक–दूसरे के लिए अबूझ हैं। उदाहरण के लिए अंगामी जनजाति की अंगामी भाषा है और अंगामी भाषा की भी अनेक बोलियाँ हैं। इन बोलियों में भी अंतर है। किसी गाँव में एक बोली के भीतर भी भिन्नता है। भौगोलिक परिवर्तन के साथ यह भिन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भाषाओं–बोलियों का यह अंतर अन्य समुदायों और जनजातियों के बीच के संचार को बहुत कठिन बना देता है। नागालैंड की कोई भी स्थानीय भाषा संपूर्ण प्रदेश में नहीं बोली जाती है। अतः अंग्रेजी को नागालैंड की राजभाषा बनाया गया है जबकि नागामीज बोलचाल की भाषा बन गई है। नागालैंड में लगभग सोलह भाषाएँ बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं की भी अनेक बोलियाँ हैं। जितनी जनजातियाँ उससे अधिक भाषाएँ। इस भाषाई परिदृश्य में परस्पर विचार–विनिमय कठिन हो जाता है। एक गाँव की भाषा पड़ोसी गाँव के लिए अबूझ है। इसलिए नागालैंड के निवासियों ने एक संपर्क भाषा विकसित कर ली है जिसका नाम नागामीज है। यह असमिया, नागा, बांग्ला, हिंदी और नेपाली का मिश्रण है। जार्ज ग्रियर्सन ने नागामीज को असमी का टूटा–फूटा रूप माना है, लेकिन भाषा वैज्ञानिक एम. वी.श्रीधर ने इसे 'पिजन' (Pidgin) भाषा कहा है। 'पिजन' का अर्थ है विभिन्न भाषाओं के शब्दों के मेल से बनी ऐसी भाषा जो किसी समूह के लोगों के बीच संपर्क भाषा का काम करती हो। 'पिजन' की परिभाषा है "दो या दो से अधिक भाषाओं के मिश्रण से विकसित ऐसी भाषा जिसका उपयोग ऐसे लोगों द्वारा किया जाता है जो एक–दूसरे की भाषा नहीं बोल–समझ सकते हों।" अतः नागामीज को पिजन भाषा कहना अधिक सार्थक और व्यावहारिक है। नागालैंड में नागामीज का उपयोग शिक्षित–अशिक्षित सभी लोगों द्वारा किया जाता है। प्रारंभ में यह मुख्य रूप से बाज़ार और व्यापार– संचार की माध्यम भाषा के रूप में विकसित हुई। राज्य की आधिकारिक भाषा अंग्रेजी होने के बावजूद नागामीज संपर्क भाषा का कार्य करती है। यह कमोबेश संपूर्ण नागालैंड में बोली जाती है। समाचार और रेडियो स्टेशन, शिक्षा, राजनीति और सरकारी क्षेत्रों सहित आधिकारिक मीडिया में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसे नागालैंड के सबसे बड़े शहर दिमापुर में बोडो–कछारी समुदाय की मातृभाषा के रूप में भी जाना जाता है। यद्यपि नागा लोगों की उत्पत्ति का निर्धारण करना मुश्किल है, लेकिन आमतौर पर इतिहासकारों का मानना है कि नागालैंड में नागा जनजातियों का आगमन अनेक

कालखंडों और अनेक समूहों में हुआ। चीन और अन्य जगहों से विभिन्न नागा जनजातियों ने बर्मा होते हुए नागा पहाड़ियों में प्रवेश किया और नागालैंड और पूर्वोत्तर के अन्य प्रदेशों में अपना निवास बनाया। नागालैंड बीस से अधिक स्वदेशी नागा समूहों के साथ ही कई अन्य अप्रवासी समूहों का निवास है। ये सभी समूह अलग–अलग भाषाएँ बोलते थे। असम के मैदानी क्षेत्रों में नागालैंड के विभिन्न भाषाई समूह के सदस्यों और असम के मैदानी इलाकों में वस्तु विनिमय–व्यापार केंद्रों में संपर्क के कारण नागामीज मुख्य रूप से एक संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। अहोम शासक नागाओं पर हमला करने और उस क्षेत्र को अपने अधीन करने के लिए अक्सर अभियान चलाया करते थे जिससे अलग–अलग समय में नागा और असमियों के बीच तनाव और शत्रुता पैदा होती थी। 14 वीं शताब्दी के अंत तक अहोम शासकों पर ब्राह्मणवादी हिंदू प्रभाव बढ़ता गया और धीरे–धीरे असमिया भाषा का उपयोग बढ़ने लगा। इसके बाद ताई भाषा का उपयोग पूरी तरह से बंद हो गया और इंडो–यूरोपीय असमिया भाषा राज्य के भीतर बोली जानेवाली मुख्य भाषा बन गई, लेकिन उस समय में भी नागामीज नागा हिल्स की संपर्क भाषा थी जो अधिकांश लोगों द्वारा बोली जाती थी। 1930 के दशक के बाद एक भाषा के रूप में नागामीज का प्रचार–प्रसार आगे बढ़ा। अंग्रेजी को नागालैंड की एकीकृत आधिकारिक राज्य भाषा के रूप में चुना गया था, लेकिन पाँच प्रतिशत से कम आबादी धाराप्रवाह अंग्रेजी बोल पाती थी। शिक्षक अक्सर कक्षा की चर्चाओं में और विषय वस्तु को ठीक से समझाने के लिए नागामीज का उपयोग करते थे। ज्यादातर नागा बच्चे अंग्रेजी की अपेक्षा नागामीज से परिचित थे और धाराप्रवाह नागामीज बोलते थे। आगे चलकर बहुसंख्यक आबादी द्वारा व्यापक रूप से नागामीज का इस्तेमाल होने लगा। वर्ष 1970 के दशक की शुरुआत में एम.वी.श्रीधर ने नागामीज शैक्षिक सामग्री के निर्माण के इरादे से मानकीकरण प्रक्रिया शुरू करने की माँग की। उन्होंने नागा नेताओं और संबंधित अधिकारियों के साथ परामर्श किया जिसका उद्देश्य देवनागरी, असमिया, रोमन और बांग्ला लिपियों में से किसी एक लिपि को नागामीज के लिए अंगीकार करना था। इस बात पर सहमति बनी कि नागामीज के लिए रोमन लिपि को अपना लिया जाए। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान नागालैंड की अधिकांश जनसंख्या ईसाई धर्म को अपना चुकी थी और आमतौर पर रोमन लिपि से परिचित थी। इसलिए सभी लोग रोमन लिपि को अंगीकार करने पर सहमत हो गए। जातीय संघर्ष के बावजूद नागा और गैर–नागा लोगों के बीच संचार की आवश्यकता ने नागामीज के विकास और उपयोग के लिए प्रेरित किया। नागामीज धीरे–धीरे पूरे क्षेत्र और राज्य के विभिन्न भागों में फैल गई और वर्तमान में दैनिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में इसका उपयोग किया जाता है। अब यह व्यापक संचार की भाषा बन गई है। कालांतर में नागामीज का शब्द भंडार भी समृद्ध हो गया है और वक्ता किसी भी विषय के बारे में इस भाषा में अपनी बात प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। अनौपचारिक बातचीत के अलावा नागामीज भाषा का प्रयोग धार्मिक समारोहों, शिक्षा संस्थानों, अस्पतालों में भी किया जाता है। नागामीज ग्रामीण क्षेत्रों में संचार की पसंदीदा भाषा बन गई है। नागामीज में दो कारक और दो काल हैं। इसमें कोई लिंग नहीं होता है, हालाँकि हिंदी प्रभाव के कारण विशेष रूप से हिंदी शब्दों और अभिव्यक्तियों में व्याकरणिक लिंग दिखाई देता है। इसमें छब्बीस व्यंजन और छह स्वर हैं। इसमें अनुनासिक स्वर नहीं हैं। सिक्किम सरकार ने प्रदेश की ग्यारह भाषाओं को राजभाषा घोषित किया है– नेपाली, लेपचा, भूटिया, तमाँग, लिंबू, नेवारी, खम्बु राई, गुरुंग, मांगर, शेरपा और सुनवार। इन भाषाओं के अतिरिक्त भी सिक्किम में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें थमी, भुजेल, कुलुंगे, खलिंगे

आदि प्रमुख हैं। नेपाली सिक्किम की प्रमुख भाषा है। इसे पहाड़ी और गोरखाली भी कहा जाता है। इसकी लिपि देवनागरी है। भूटिया, लेपचा और अन्य समुदाय भी नेपाली बोलते–समझते हैं। सिक्किम की लगभग 80 प्रतिशत जनता नेपाली बोलती समझती है। वर्ष 1924 में दार्जिलिंग में नेपाली साहित्य सम्मलेन की स्थापना की गई थी जिसके बाद नेपाली भाषा का बहुआयामी विस्तार हुआ। अनेक नेपाली पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ जिनमें 'सिक्किम हेराल्ड' (1959), 'कंचनजंघा' (1957), 'तीनतारा' (1958) और 'सिक्किम' (1966) प्रमुख हैं। इन पत्र–पत्रिकाओं ने नेपाली भाषा और साहित्य के विकास में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। सिक्किम का भूटिया समुदाय भूटिया भाषा बोलता है। भूटिया भाषा को सिक्कमी, तिब्बती और ड्रेनजोंग्पा भी कहा जाता है। यह सिक्किम की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। यह पूर्ण रूप से तिब्बती मूल की भाषा है। लेपचा समुदाय लेपचा भाषा बोलता है। यह तिब्बती–बर्मी मूल की भाषा है। लेपचा भाषा की अपनी लेपचा लिपि है। लेपचा भाषा का प्रथम व्याकरण वर्ष 1876 में जेनरल जी.बी. मेनवारिंग द्वारा लिखा गया था। चागदोर नामग्याल ने 18 वीं शताब्दी के आरंभ में लेपचा लिपि की रूपरेखा तैयार की थी। लिंबू एक तिब्बती–बर्मी भाषा है जिसकी लिपि 'सिरिजुंगा' है। लिंबू भाषा और साहित्य बहुत समृद्ध है। श्री जे.आर. सुब्बा ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड डेवलपमेंट ऑफ़ लिंबू लैंग्वेज' (2002) में पाठ्यपुस्तकों को छोड़कर वर्ष 1951 से 2001 तक प्रकाशित सैंतालीस पुस्तकों एवं चौंतीस पत्रिकाओं की सूची बनाई है। लिंबू भाषा में अनेक शब्दकोश भी प्रकाशित हो चुके हैं तथा वर्ष 1983 में आकाशवाणी, गंगटोक से लिंबू भाषा में प्रसारण भी आरंभ हो गया। लिंबू लोकसाहित्य, निबंध, कविता, उपन्यास आदि प्रकाशित हो चुके हैं। तमाँग एक तिब्बती–बर्मी भाषा है जिसकी अपनी लिपि है। तमाँग 'संभोता' लिपि में लिखी जाती है जिसे 'तमयक लिपि' भी कहते हैं। श्री बुद्धिमान मोकतन द्वारा लिखित 'तमाँग वंशावली' को तमाँग भाषा की प्रथम पुस्तक माना जाता है। वर्ष 1957 से 1997 तक तमाँग भाषा, संस्कृति, परंपरा और लोकजीवन पर लगभग निन्यानने पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। सिक्किम में अभी छह तमाँग भाषा विद्यालय संचालित किए जा रहे हैं। वर्ष 1995 में सिक्किम सरकार ने 'खम्बु राई' भाषा को राजभाषा का दर्जा दिया। 'खम्बु राई' भाषा की अपनी लिपि है। यह भाषा अभी अपनी शैशवावस्था में है, लेकिन दो विद्यालयों में इस भाषा में शिक्षा आरंभ कर दी गई है। नेवारी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो 'रंजना' लिपि में लिखी जाती है। 'रंजना' लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है। मांगर भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो मांगर लिपि में लिखी जाती है। मांगर लिपि को 'अखरिका' लिपि के नाम से भी जानते हैं। यह सिक्किम की प्राचीनतम लिपि है। सिक्किम सरकार द्वारा घोषित मान्यता प्राप्त ग्यारह भाषाओं में मांगर भी शामिल है। अखिल सिक्किम मांगर एसोसिएशन सिक्किम में मांगर भाषा के उन्नयन के लिए प्रयत्नशील है। सुनवार भाषा भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो सुनवार लिपि में लिखी जाती है। शेरपा भाषा भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो 'संभोता' लिपि में लिखी जाती है। इस भाषा के विकास के लिए सरकारी और निजी स्तर पर प्रयास किए जा रहे हैं। गुरुंग समुदाय अपनी भाषा को 'तमु' कहता है जो तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है। यह 'खेमा' लिपि में लिखी जाती है। अखिल सिक्किम गुरुंग (तमु) बौद्ध संघ इस भाषा के विकास के लिए प्रयास कर रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में यहाँ त्रिभाषा सूत्र लागू है। बांग्ला और कॉकबोरोक त्रिपुरा की राजभाषा है। यहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें बांग्ला, कॉकबोरोक, चकमा, लुशाई, मुंडारी, गारो, कुकी प्रमुख हैं। हिंदी भी त्रिपुरा के शहरों में व्यापक रूप से बोली जाती है। चकमा समुदाय द्वारा चकमा भाषा बोली

जाती है। चकमा भाषा में इंडो–आर्यन, तिब्बती –चीनी और मुख्य रूप से अराकान भाषा के शब्दों का मिश्रण है। उनकी भाषा को टूटी–फूटी बांग्ला और असमिया भाषा भी कहा जाता है। चकमा भाषा के पास अपनी बर्मी लिपि है, लेकिन उनका उपयोग नहीं होता है। ये लोग बांग्ला लिपि का उपयोग करते हैं। गारो समुदाय के लोग गारो भाषा बोलते हैं। गारो भाषा की असम में बोली जानेवाली बोडो कछारी, राभा, मिकिर आदि भाषाओं से बहुत समानता है। भाषिक दृष्टि से गारो भाषा तिब्बती–बर्मी परिवार की भाषा है। ग्रियर्सन ने इसे बोडो वर्ग की भाषा बताया है। हलाम समुदाय के लोग अपनी हलाम भाषा बोलते हैं। जातीय रूप से हलाम समुदाय कुकी–चीन जनजाति मूल के हैं। उनकी भाषा भी कमोबेश तिब्बती–बर्मी परिवार की तरह ही है। हलाम को 'मिला कुकी' के रूप में भी जानते हैं, लेकिन भाषा, संस्कृति और जीवन शैली की दृष्टि से हलाम समुदाय कुकी जनजाति से बिल्कुल भिन्न है। जमातिया समुदाय के लोग कॉकबोरोक भाषा बोलते हैं। मुंडा प्रोटो–ऑस्ट्रलॉइड जनजाति है। उनकी भाषा मुंडारी है जो ऑस्ट्रो–एशियाई परिवार से संबंधित है। ओरंग जनजाति के लोग टूटी–फूटी हिंदी में बात करते हैं। इनकी भाषा ऑस्ट्रेलियन भाषा समूह की भाषा है, लेकिन त्रिपुरा में वे अपनी भाषा में बात नहीं करते हैं, वे हिंदी मिश्रित बांग्ला भाषा बोलने में सहज महसूस करते हैं। त्रिपुरी समुदाय के लोग कॉकबोरोक भाषा बोलते हैं और लिखने के लिए बांग्ला लिपि का उपयोग करते हैं। त्रिपुरी समुदाय का एक वर्ग बंगालियों के संपर्क में आया जिसके कारण उसकी भाषा और संस्कृति पर बंगालियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। कॉकबोरोक भाषा बोरोक समुदाय की मातृभाषा है। बोरोक को त्रिपुरी भी कहा जाता है। बोरोक समुदाय की नौ उपजनजातियों के लोगों द्वारा कॉकबोरोक भाषा बोली जाती है। ये उपजनजातियाँ हैं– देबबर्मा, रियांग, जमातिया, त्रिपुरी, नोआतिया, कलई, मुरासिंग, रूपिनी और उचई। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार कॉकबोरोक भाषा बोलनेवालों की संख्या 8,80,537 (कुल जनसंख्या का 23.97%) है। इस भाषा के पास गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा और समृद्ध लोकसाहित्य है। वर्ष 1897 में दौलत अहमद द्वारा प्रथम कॉकबोरोक व्याकरण लिखा गया जिसका नाम 'कोकबोरोमा' था। इसके बाद 1900 ई. में राधा मोहन ठाकुर की कॉकबोरोक व्याकरण पुस्तक 'कोकबोरोकमा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। राधा मोहन ठाकुर की व्याकरण पुस्तक को त्रिपुरा सरकार ने प्रथम कॉकबोरोक प्रकाशन के रूप में मान्यता दी है। कॉकबोरोक त्रिपुरा में बोली जानेवाली वृहत चीनी–तिब्बती परिवार के बोडो–गारो उपवर्ग की भाषा है। पड़ोसी देश बांग्लादेश में भी यह बोली जाती है। असम की बोडो, दिमासा और कछारी भाषाओं से कॉकबोरोक की बहुत निकटता है। 'कोक' का अर्थ भाषा और 'बोरोक' का अर्थ 'मनुष्य' है। इस प्रकार 'कॉकबोरोक' का अर्थ मनुष्य की भाषा है। पहले 'कॉकबोरोक' को 'तिप्रा' कहा जाता था। बीसवीं शताब्दी में इसका नाम परिवर्तन हुआ। पहली शताब्दी से कॉकबोरोक के साक्ष्य मिलते हैं तब से तिप्रा राजाओं के ऐतिहासिक अभिलेख लिखे जाने लगे। कॉकबोरोक की लिपि को 'कोलोमा' कहा जाता था। राजरत्नाकर नामक पुस्तक मूल रूप से कॉकबोरोक भाषा और कोलोमा लिपि में लिखी गई थी। बाद में दो ब्राह्मण, सुक्रेश्वर और वनेश्वर ने इसका संस्कृत में अनुवाद किया और फिर 19 वीं शताब्दी में इसका बांग्ला भाषा में अनुवाद किया गया। वर्ष 1979 में त्रिपुरा सरकार द्वारा कॉकबोरोक को त्रिपुरा राज्य की आधिकारिक भाषा घोषित किया गया। इसके बाद 1980 के दशक से त्रिपुरा के स्कूलों में प्राथमिक स्तर से उच्च माध्यमिक स्तर तक इसकी पढ़ाई होने लगी। त्रिपुरा विश्वविद्यालय में वर्ष 1994 से कॉकबोरोक में सर्टिफिकेट कोर्स और 2001 में पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा कोर्स शुरू किया गया। त्रिपुरा विश्वविद्यालय द्वारा वर्ष 2015 से

कॉकबोरोक में एम.ए. का पाठ्यक्रम शुरू किया गया। कॉकबोरोक भाषा–भाषियों द्वारा इस भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की माँग निरंतर की जा रही है। कॉकबोरोक एक भाषा नहीं है, बल्कि त्रिपुरा में बोली जानेवाली कई भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। मणिपुर में मीतै/मैतै के अतिरिक्त उनतीस आदिवासी समुदाय रहते हैं। यहाँ के निवासियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– (1) मीतै/मैतै अथवा मणिपुरी और (2) आदिवासी। आदिवासी समुदायों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है. (i) नागा समूह के आदिवासी और (ii) कुकी–चीन समूह के आदिवासी। मणिपुर में मणिपुरी अथवा मैतै आम बोलचाल की भाषा है। यहाँ के लगभग 54 प्रतिशत लोग मैतै भाषा बोलते हैं। मैतै अथवा मीतैलोन इस राज्य की राजभाषा एवं संपर्क भाषा है। मीतैलोन को मणिपुरी भाषा के नाम से जानते हैं। मीतैलोन मणिपुर की मीतै/मैतै जाति की मातृभाषा है। मणिपुरी भाषा को अधिकांश भाषावैज्ञानिकों ने चीनी. तिब्बती भाषाई परिवार के अंतर्गत तिब्बती बर्मन भाषाई वर्ग की कुकी–चीन भाषा के रूप में वर्गीकृत किया है। मणिपुरी भाषा की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऐसी मान्यता है कि मणिपुरी भाषा उतनी ही प्राचीन है जितनी मैतै जाति। घाटी में रहनेवाले लोगों को मीतै अथवा मैतै कहा जाता है और उनकी भाषा को मैतेलोन/मीतैलोन कहा जाता है। आदिवासियों की भाषा उन आदिवासियों के नाम से जानी जाती है, जैसे– तंगखुल, कुकी, पाइते इत्यादि। फिर भी मणिपुरी घाटी के लोगों के साथ– साथ पहाड़ी लोगों की भी संपर्क भाषा है। टी.सी.हडसन का मानना है कि मणिपुरी आसपास के पहाड़ी आदिवासियों के वंशज हैं और उनकी भाषा मणिपुरियों और आदिवासियों के बीच जुड़नेवाली कड़ी है। डॉ. ग्रियर्सन की मान्यता है कि मणिपुरी कुकी–चीन भाषाओं की दो शाखाओं में से एक है जो तिब्बती– बर्मी परिवार का एक भाषासमूह है। मैतै भाषा की लंबी और गौरवपूर्ण साहित्यिक परंपरा है। पहली शताब्दी से ही इसके साहित्य मिलते हैं। मैतै भाषा में विभिन्न विधाओं की लगभग एक हजार पांडुलिपियों की खोज हुई है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य को 'मैतै मयक' लिपि में लिखा गया है जबकि आधुनिक साहित्य बांग्ला लिपि में लिखा गया है। 'मैतै मायक' लिपि की उत्पत्ति अस्पष्ट है। मैतै समुदाय के अतिरिक्त आदिवासी समाज के लोग भी मैतै अथवा मणिपुरी भाषा बोलते हैं। सभी आदिवासी समुदायों की अपनी अलग–अलग भाषाएँ और बोलियाँ हैं जिनका प्रयोग वे आपस में बातचीत के लिए करते हैं। पाइते जनजाति के पास अपनी पाइते भाषा है। ये लोग पाइते भाषा बोलते हैं जिसके दस रूप हैं। अधिकांश पाइते 'तेईजंग' और 'दपजर' भाषा रूपों का प्रयोग करते हैं। पाइते तिब्बती–बर्मी परिवार की कुकी–चीन शाखा से संबंधित भाषा है। शिक्षित पाइते हिंदी और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग भी करते हैं। पाइते भाषा को लिखने के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया जाता है। राल्ते समुदाय के पास अपनी राल्ते भाषा है, लेकिन उसकी कोई लिपि नहीं है। वे अपने परिवार और सगे–संबंधियों से राल्ते भाषा में बातचीत करते हैं। ये लोग अन्य समुदाय के लोगों से मणिपुरी भाषा में बात करते हैं। थडाऊ समुदाय के पास अपनी थडाऊ भाषा है, लेकिन इसकी कोई लिपि नहीं है। लिपि के रूप में वे रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं। शिक्षित लोग अंग्रेजी और हिंदी भी बोलते हैं। कुकी समुदाय तिब्बती–बर्मी परिवार की ऑस्ट्रो –एशियाई भाषा बोलता है। कुकी समुदाय के सभी गोत्रों की भाषा समान है, लेकिन इसमें स्थानगत उच्चारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। मणिपुरी भाषा से कुकी भाषा की समानता है। आईमोल समुदाय अपनी आईमोल भाषा बोलता है और लिखने के लिए रोमन लिपि का उपयोग करता है। टिड्डीमचीन समुदाय के लोग टिड्डीमचीन भाषा बोलते हैं। टिड्डीमचीन भाषा बर्मा (म्यांमार) के उत्तरी

चीन हिल्स की आम बोलचाल की भाषा है। तराव जनजाति की अपनी बोली है जिसे 'तरावतरोंग' कहते हैं। वे लोग मणिपुरी भाषा भी बोलते हैं और दूसरे समुदायों से मणिपुरी भाषा में बातचीत करते हैं। अनल समुदाय तिब्बती–बर्मी परिवार की भाषा अनल भाषा बोलता है और लिखने के लिए रोमन लिपि का उपयोग करता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तंगखुल नागा जनजाति की माओ और मरम जनजाति से समानता है। पड़ोसी जनजातियों जैसे अंगामी, चाकेसांग और रेंगमा जनजाति से भी तंगखुल समुदाय की निकटता है। सामाजिक, सांस्कृतिक और जीवन शैली की दृष्टि से इन सभी जनजातियों में बहुत समानता है, लेकिन इन सभी की अपनी अलग–अलग भाषाएँ हैं। थंगल नागा समुदाय का मणिपुर की अन्य नागा जनजातियों के साथ घनिष्ठ संबंध हैं। सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से थंगल नागा जनजाति की मरम, कबुई, जेलियाँगरोंग आदि समुदायों से निकटता है। अधिकांश थंगल मरम भाषा समझ लेते हैं, लेकिन मरम लोग थंगल भाषा नहीं समझ पाते हैं। सांस्कृतिक और भाषिक दृष्टि से चीन हिल्स के निवासियों से मोनसंग समुदाय की बहुत समानता है। ये मोनसंग भाषा बोलते हैं जो तिब्बती–बर्मी भाषा परिवार की एक भाषा है। अनल भाषा से मोनसंग भाषा की बहुत समानता है। ग्रियर्सन ने मध्य चीन की भाषा से मोनसंग भाषा का संबंध स्थापित किया है जिसमें लुशाई भाषा भी सम्मिलित है। मोनसंग भाषा को लिखने के लिए हाल के दिनों तक बांग्ला लिपि का प्रयोग किया जाता था, लेकिन अब पढ़े–लिखे नवयुवक मोनसंग भाषा के लिए रोमन लिपि का उपयोग करते हैं। इस समुदाय के लोग दूसरी जनजाति के लोगों से वार्तालाप के लिए मणिपुरी भाषा का उपयोग करते हैं। मोयोन, मोनसांग, लमगंग और अनल जनजातियों की भाषाएँ पुराने कुकी समूह में शामिल हैं, लेकिन वेलोग अब स्वयं को नागा कहते हैं। सभी नागा समुदायों की अलग–अलग भाषा है। मरम जनजाति की अपनी मरम भाषा है। यह चीनी–तिब्बती भाषा समूह की भाषा है। यह नागा–कुकी उपसमूह के तिब्बती–बर्मी भाषा परिवार की भाषा है। औपचारिक रूप से मणिपुर की दो राजभाषाएँ हैं– मणिपुरी (मीतै) और अंग्रेजी। मणिपुर के अतिरिक्त असम और त्रिपुरा के कुछ सीमित अंचलों में भी मणिपुरी बोली जाती है। इसे यूनेस्को द्वारा एक असुरक्षित भाषा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। मणिपुरी भाषा भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में शामिल है। यह मणिपुर में स्नातक स्तर तक की शिक्षा का माध्यम है। मणिपुरी को भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर तक एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। अरुणाचल प्रदेश में लगभग पच्चीस प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। आदी, न्यिशी, आपातानी, हिल मीरी, तागिन, सुलुंग, मोम्पा, खाम्ती, शेरदुक्पेन, सिंहफ़ो, मेम्बा, खम्बा, नोक्ते, वांचो, तांगसा, मिश्मी, बुगुन (खोवा), आका, मिजी इत्यादि प्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ हैं। इन सभी जनजातियों की अलग–अलग भाषाएँ हैं, लेकिन अधिकांश के पास अपनी कोई लिपि नहीं है। केवल खाम्ती भाषा की अपनी खाम्ती लिपि है, लेकिन इस लिपि का प्रयोग बहुत कम होता है। अरुणाचल की भाषाओं में इतनी भिन्नता है कि एक समुदाय की भाषा दूसरे समुदाय के लिए असंप्रेषणीय है। डॉ. ग्रियर्सन ने अरुणाचल की भाषाओं को तिब्बती–बर्मी परिवार का उत्तरी असमी वर्ग माना है। यहाँ की राजभाषा अंग्रेजी है।

कक्षा एक से विश्वविद्यालय स्तर तक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, लेकिन हिंदी प्राथमिक स्तर से पढ़ाई जाती है। कोई भी जनजातीय भाषा इतनी विकसित नहीं है कि उसे राज्य की राजभाषा बनाया जा सके। इसलिए अंग्रेजी को ही शासकीय कामकाज और राज्य विधानसभा के कामकाज के लिए प्रयोग किया जाता है। विधानसभा की बहस में हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। औपचारिक रूप से अरुणाचल की

राजभाषा तो अंग्रेजी है, लेकिन वास्तविक रूप में सभी लोग संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग करते है। विद्यालयों–महाविद्यालयों में व्यावहारिक रूप में माध्यम भाषा हिंदी है। पूर्वोत्तर भारत के भाषाई वैविध्य के बीच हिंदी संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो गई है। नागालैंड की आओ भाषा बोलनेवाला व्यक्ति उसी प्रदेश की अंगामी, चाकेसांग अथवा लोथा भाषा नहीं समझ सकता है। इसी प्रकार असम का असमिया भाषाभाषी उसी राज्य में प्रचलित बोडो, राभा, कार्बी अथवा मिसिंग भाषा नहीं समझ–बोल सकता है। इसलिए हिंदी पूर्वोत्तर भारत की आवश्यकता बन चुकी है। अपनी सरलता, आंतरिक ऊर्जा और जनजुड़ाव के बल पर हिंदी पूर्वोत्तर क्षेत्र में निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर है। क्षेत्र के दूरस्थ अंचल तक हिंदी का पुण्य आलोक विकीर्ण हो चुका है। क्षेत्र की विभिन्न भाषाओं–बोलियों के रूप, शब्द, शैली, वचन–भंगिमा को ग्रहण व आत्मसात् करते हुए हिंदी का रथ आगे बढ़ रहा है। हिंदी की विकास–गंगा पूर्वोत्तर के सभी घाटों से गुजरती है एवं सभी घाटों के कंकड़–पत्थर, रेतकण, मिट्टी आदि को समेटते तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्हें आकार देते हुए आगे बढ़ती है। यहाँ की हिंदी में असमिया का माधुर्य है, बांग्ला का छौंक है, नेपाली की कोमलता है, मिज़ो का सौरभ है, बोडो, खासी, गारो का पुष्प–पराग है, आदी, आपातानी, मोंपा भाषा की सरलता है। इस क्षेत्र में हिंदी व्यापार, मनोरंजन, सूचना और जनसंचार की भाषा बन चुकी है। पूर्वोत्तर के नौ केंद्रीय विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त राज्य के विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन–अध्यापन व अनुसंधान की व्यवस्था है। यहाँ के हजारों मूल निवासी छात्र हिंदी का अध्ययन–अनुसंधान कर रहे हैं, यहाँ के सैकड़ों मूल निवासी हिंदी के प्राध्यापक हैं। अतः पूर्वोत्तर भारत में हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है।

— 103, नवकार्तिक सोसायटी, प्लॉट नं.–13, सेक्टर–65, फरीदाबाद–121004

❑❑❑

पूर्वोत्तर भाषा साहित्य

डॉ. उर्मिला शर्मा

भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र पाँच देशों– बांग्लादेश, चीन, भूटान, म्यांमार और तिब्बत की अंतरराष्ट्रीय सीमा पर अवस्थित है। भारत के सात बहन राज्य– असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड और त्रिपुरा पूर्वोत्तर क्षेत्र में स्थित हैं। भारतीय संविधान द्वारा पूर्वोत्तर भारत में स्वीकृत चार मुख्य भाषाओं का प्रयोग होता है। मणिपुर में मणिपुरी, असम में असमिया, बोडो तथा त्रिपुरा और असम की बराक घाटी में बांग्ला भाषा का प्रयोग होता है। लंबे समय तक पूर्वोत्तर की अनेक जनजातीय भाषाएँ– खासी व गारो को बांग्ला लिपि में लिखा जाता था।

पूर्वोत्तर भारत भाषाओं का संगम क्षेत्र है। भाषा सर्वेक्षण 1971 के अनुसार पूर्वोत्तर भारत में बोली जानेवाली 130 भाषाएँ भोटी–चीनी परिवार की हैं। "देश के कुल भौगौलिक क्षेत्र का 7.9 प्रतिशत भाग पूर्वोत्तर क्षेत्र के आठ राज्यों में समाविष्ट है। कुल क्षेत्रफल का 52 प्रतिशत भूभाग वनाच्छादित है। इस क्षेत्र में 400 समुदायों के लोग रहते हैं। इस क्षेत्र में लगभग 220 भाषाएँ बोली जाती हैं। संस्कृति, भाषा, परंपरा, रहन–सहन, पर्व–त्योहार आदि की दृष्टि से यह क्षेत्र इतना वैविध्यपूर्ण है कि इस क्षेत्र को भारत की सांस्कृतिक प्रयोगशाला कहना अतिश्योक्ति न होगा।"[1]

किसी भी जाति की सभ्यता, संस्कृति, रहन–सहन, आचार–व्यवहार की जानकारी उसकी भाषा व साहित्य से मिलती है। पूर्वोत्तर भारत के नेपाली कवि बालकृष्ण सम का कहना है– "भाषा ही सभ्यता है, जाति का उदय और उन्नति है। जाति का अस्तित्व और वैभव वर्षों तक जीवित (भाषा से) रहता है।" पूर्वोत्तर भारत के अनेकानेक जनजातियों की अनेक भाषाएँ हैं जिनमें सभी इतनी समृद्ध नहीं है कि उनमें साहित्य रचना हो सके। जिन भाषाओं में रचनाएँ हुई हैं उनमें नेपाली, असमिया, बोडो, गारो, मणिपुरी आदि प्रमुख रूप से आती हैं।

असमिया साहित्य : पूर्वोत्तर की भाषाओं में असमिया साहित्यिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक समृद्ध भाषा मानी जाती है। इसमें लोकसाहित्य तथा परिनिष्ठित साहित्य दोनों में ही भरपूर रचनाएँ हुई हैं। पूर्वोत्तर राज्यों में असमिया भाषा संपर्क भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। असमिया की साहित्यिक परंपरा सदा से समृद्ध रही है। शंकर देव, श्री माधव देव आदि महान रचनाकारों द्वारा रचित नाटकों (अंकिया नाट, झुमरा नाट), बरगीतों आदि से असमिया भक्ति साहित्य संपन्न रहा है।

"श्रीमंत शंकरदेव ने (1449–1568) पूरे भारत का दो बार भ्रमण किया और संस्कृत वाङ्मय को अपने धर्म और साहित्य का आधार बनाया और भाषा के माध्यम से भावात्मक एकता लाने हेतु असमिया, ब्रज और मैथिली के सम्मिश्रण से 'ब्रजवाली' नामक एक कृत्रिम भाषा का रूप खड़ा किया। इस प्रकार उन्होंने असमिया लोकमानस में हिंदी भाषा के प्रति रागात्मकता का श्रीगणेश किया।"[2]

1994 में श्रीकांत सूर्यविप्र ने 'रामचरितमानस' के 'लंकाकांड' का असमिया में पद्यानुवाद किया। उसी समय कुतुबन कृत 'मृगावती' और मंझन कृत 'मधुमालती' सूफी काव्य का भी असमिया में अनुवाद किया। कुलगुरु विष्णुप्रसाद रामा ने प्रांजल व परिनिष्ठित असमिया में मधुर गीतों की रचना की। असम में असमिया के अलावा हिंदी भाषा में भी रचनाएँ रची जा रही हैं। वर्तमान में

चक्रेश्वर भट्टाचार्य, कमलनारायण देव, रजनीकांत चक्रवर्ती, महेश्वर महंत, लोकनाथ झराली, बापचंद महंत, सोमेश्वर दास, छगनलाल जैन, तरुण आज़ाद डेका, मोती मदरासी, नाथ खादोद, नवारुण वर्मा, चित्रमहंत, मोहन कोईराला इत्यादि प्रमुख साहित्यकार हैं।

नेपाली साहित्य : नेपाली केवल नेपाल में रहनेवाले नागरिक ही नहीं वरन् भारत के विभिन्न प्रांतों, उत्तरी भारत, पूर्वांचल के प्रदेशों, सिक्किम, दार्जिलिंग, उत्तराखंड आदि भागों में नेपाली भाषी रहते हैं। नेपाल में जहाँ यह 'जाति' का सूचक है, वहीं भारत में 'भाषा' का। उत्तर–पूर्वी राज्यों में नेपाली भाषा का पठन–पाठन होता है।

"1820 में सर्वप्रथम फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रोफेसर एलेक्स आयथान ने सबसे पहले नेपाली के 'ए ग्रामर ऑफ नेपाली लैंग्वेज' को देवनागरी लिपि में प्रकाशित कराया। सबसे पहले बनारस में प्रकाशित 'गोरखा भारत जीवन' (1886) नामक पत्रिका में शुद्ध नेपाली भाषा का प्रयोग हुआ। गोरखा प्रिंटिंग प्रेस खोलकर कवि मोतीराम भट्ट ने नेपाली भाषा में काव्यों का प्रकाशन किया।"[3]

नेपाली साहित्य में गद्य–पद्य विधाओं का आरंभ पूर्व में ही हो चुका था। किंतु भानुभक्त द्वारा 'रामायण' का नेपाली संस्करण लिखने के पश्चात् नेपाली साहित्य का प्रचार–प्रसार हुआ। पादरी गंगाप्रसाद प्रधान के प्रयास से नेपाली भाषा में पत्र–पत्रिका का प्रकाशन 1901 में दार्जिलिंग से 'गोर्खे खबर कागत' का प्रकाशन हुआ। नेपाली साहित्य को समृद्ध करने वाले साहित्यकारों में रामकृष्ण शर्मा, रूपनारायण सिंह, हृदयचंद्र सिंह प्रधान, इंद्र बहादुर राई, प्रकाश कोविंद, मनबहादुर मुखिया आदि उल्लेखनीय हैं। नेपाली पत्र –पत्रिकाओं में चंद्र, गोर्खाली, जन्मभूमि, युगवाणी, गोरखा संसार, तरुण गोरखा, सुंदरी, निर्माण, कंचनजंघा आदि प्रमुख हैं।

गारो साहित्य : मेघालय की प्रमुख भाषा गारो है। गारो भाषा व संस्कृति की एक समृद्ध विरासत है। यह वाचिक परंपरा के रूप में ही हस्तांतरित होती आ रही है। लोकगीत व कथाओं का इसका विशाल भंडार हैं। 'कत्ता आगन' गारो जनजाति की महाकाव्यात्मक लोकगाथा है।

1930 में अजोवांग डी. मराक ने 'गारो हिस्ट्री' प्रकाशित की, जिसमें गारो भाषा की लोककथाएँ व संस्मरण आदि हैं। वर्तमान में खरैंड, एम.सी.मेसन और ई.जी. फिलिप्स ने 'द फ्रेंड ऑफ द गा रोज' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया।

1940 से गारो भाषा साहित्य के विकास का द्वितीय चरण आरंभ होता है जहाँ से कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, जीवनी आदि का प्रकाशन शुरू होने लगा। गारो भाषा का काव्य क्षेत्र सर्वाधिक उन्नत है। आरंभिक कवियों में एम.के. डब्ल्यू मोमिन का नाम महत्वपूर्ण है। अन्य कवियों में तुनिराम मराक, जॉन मोती डी शीरा, हॉवर्ड डेनिसन मराक आधुनिक युग के प्रतिभाशाली गारो कवि हैं जिन्होने गारो जनता की भावनाओं को गहन मानवीय संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया है।

बोडो साहित्य : साहित्य में विभिन्न विधाओं में बोडो साहित्य में रचनाएँ हुई हैं। जिनमें प्रचुर संख्या में कहानी, नाटक, काव्य, यात्रा वृत्तांत, जीवनी तथा आलोचना साहित्य लिखे गए हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सिडनी एण्डल ने 'Offline grammer of Bodo language' में बोडो भाषा की व्याकरणिक रूपरेखा और लोकसाहित्य का प्रकाशन किया। यह पुस्तक रोमन लिपि में है लेकिन 1915 में बोडो भाषा में 'बोरोनी पिसा ओ आचेन' नामक पुस्तक मिलती है। सिडनी एण्डल ने ही दूसरी पुस्तक 'कछारी' नाम से लिखी। इसमें बोडो समाज में ब्रह्म समाज के प्रभाव से आनेवाले सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों का वर्णन किया गया है।

बोडो भाषा के प्रमुख साहित्यकारों में– नरपति बसुमतारी, प्रसन्न कुमार खख्याली, गंगाचरण पाटगिरि, कमलकांत तहसीलदार, सेनाराम चौधरी, हरिश्चंद्र कछारी आदि महत्वपूर्ण हैं। 1920 में प्रकाशित 'बिबार' पत्रिका का बोडो साहित्य के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान है। इसके अलावा बोडो की जेंथोरखा (1925), बीथोरायी (1932), ओलड़बार (1938), हाथोर्खि हाला (1942), नायक (1941), बोडो लिरथुम बिलाई (1950) पत्रिकाएँ प्रमुख हैं।

लीला ब्रह्म द्वारा 1935 में रचित 'गशनी दाहा' (ह्रदय की पीड़ा) प्रथम मौलिक कहानी है तथा चितरंजन मुसाहरी द्वारा लिखित 'जुजायिनी' (भूसे की आग) प्रथम उपन्यास के रूप में जाना जाता है।

मणिपुरी साहित्य : मणिपुरी भाषा साहित्य भी समृद्ध है। मैतीलोन मणिपुर राज्य में बोली जानेवाली भाषा है। "1973 से वर्तमान समय तक उनतालीस मणिपुरी साहित्यकारों को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। मणिपुरी साहित्य में वैष्णव भक्ति तथा मणिपुर की कला, संस्कृति झलकती है। कहानी, उपन्यास, काव्य, प्रवास–वर्णन,नाटक आदि सभी विधाओं में मणिपुर साहित्य ने अपनी पहचान बनाई है।"[4] मखोनमनी, मोड्साबा, जोड़ छी सनसम, क्षेत्री वीर तथा किशोर सिंह मणिपुरी साहित्य के रचनाकारों में प्रमुख हैं।

1925 में फाल्गुनी सिंह द्वारा मणिपुरी की द्वैभाषिक सामयिकी 'जागरन' का प्रकाशन हुआ। मेखली (1933), मणिपुरी (1938), क्षत्रिय ज्योति (1944) आदि अन्य द्वैभाषिक पत्रिकाएँ हैं। मणिपुरी लोकसाहित्य में प्राप्त पहेलियों का क्षेत्र विस्तृत है। इसका साहित्य परंपरा अत्यंत समृद्ध है।

खासी साहित्य : खासी और जैतीया पहाड़ी के समीप रहनेवाले लगभग नौ लाख लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा 'खासी' मेघालय में बोली जाती है। इस भाषा में भारतीय आर्य–भाषाओं विशेषकर बांग्ला और हिंदी के कई शब्द प्रचलित हैं। गारो साहित्य की तरह इसका भी मौखिक रूप ही चलता आ रहा है। प्राचीन खासी साहित्य को 'फवार' कहते हैं जिसके दो रूप– 'पुरिसकम' और 'परोम' हैं। फवार के अंतर्गत लोककथाएँ, लोकगीत तथा धार्मिक कथा सम्मिलित है। इसका लिखित स्वरूप अंग्रेजों के आगमन से शुरू हुआ। थॉमस जॉन्स ने 1841 में 'बॉन हिकाई का कितेन कासिया' नामक पुस्तिका प्रकाशित की। 1881 से 1990 के मध्य तीन महत्वपूर्ण खासी साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ जिनमें जीवन रॉय, होरमुरायी डेडडोह तथा राबन सिंह महत्वपूर्ण हैं। इसके अलावा राधोन सिंह, शिवचरण रॉय, हरिचरन रॉय, सोसो थाम,एफ.एम.प्यू, पादरे जी कोस्टा, एस. जे.डंकन आदि प्रमुख हैं।

हिंदी साहित्य : आजकल हिंदी बाजार एवं नौकरी की भाषा बन गई है। अतः पूर्वोत्तर भारत में भी हिंदी का विकास व साहित्य लेखन बढ़ा है। मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा व अरुणाचल आदि राज्यों के युवाओं में हिंदी के प्रति रुझान बढ़ने लगा है तथा यहाँ हिंदी बोलने व समझने वालों की संख्या बढ़ रही है। हिंदी के प्रचार–प्रसार हेतु केंद्रीय हिंदी संस्थान के तीन केंद्र– गुवाहाटी, दीमापुर व शिलांग में स्थित हैं।

हिंदी साहित्य लेखन में मणिपुर के हजारी मयूम गोकुलानंद शर्मा, प्रो. इबोहल सिंह, अचारी राधागोविंद थोडम, प्रो. देवराज, डॉ विनोद कुमार मिश्र, मेघालय के प्रो. माधवेंद्र पांडेय, भरत प्रसाद त्रिपाठी, अरुणाचल के श्री जुमसी सीराम, डॉ.जोरम यालम नाबाम, डॉ माता प्रसाद गुप्त, जमुना बीनी, बलिराम प्रसाद आदि प्रसिद्ध रचनाकार हैं। इन रचनाकारों के अथक प्रयास से इन राज्यों में हिंदी साहित्य की लोकप्रियता व वर्चस्व बढ़ा है।

"पूर्वोत्तर भारत के निवासियों के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वहाँ सूचना

संसाधित उपकरणों का प्रयोग तेजी से बढ़ा है। विभिन्न जनजातीय संगठन अपनी–अपनी भाषाओं और बोलियों को इस नए दौर से जोड़कर भाषाई पहचान के प्रति जागरूक हैं। ....पूर्वोत्तर भारत की प्रमुख जनजातीय भाषाओं पर व्याकरण और कोश ग्रंथ निर्मित करने की जरूरत है। साथ ही वाचिक साहित्य के संकलन, संपादन, रूपांतरण और लिप्यंतरण तथा प्रकाशन की भी जरूरत है।"[5]

पूर्वोत्तर राज्यों में भाषा के स्तर पर हिंदी निरंतर बढ़ रही है। असम के मिशिंग जनजाति के कवि ज्योतिष मिचिंद पाई की कविता के अंश प्रस्तुत हैं–

मैं एक युवा/ भारत के पूर्वी–उत्तर प्रांत के/ मेरा नाम जो भी हो/ मत पूछिए आप/ .. .मुझसे मत पूछिए कि मैं/ असम, अरुणाचल, मणिपुर/ और मिजोरम का/ रहनेवाला हूँ/ या मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा/ और सिक्किम का/ बस यही जानिए/ मैं उत्तर–पूर्व का/ जहाँ सूरज उगता है/ डूबता नहीं/ मैं युवा उत्तर–पूर्व का/ उषा प्रियंवदा और जयमती के देश का/ मुझे प्रेम करना आता है/ और प्रेम निभाना भी आता है/ मैं कुरुक्षेत्र में कौरव सेनापति/ वीर भगवत के प्रांत का हूँ/ अपनी दोस्ती निभाने के लिए/ प्राण गंवा सकता हूँ/ और प्राण ले भी सकता हूँ।

भाषा के दृष्टिकोण से पूर्वोत्तर भारतीय राज्य सर्वाधिक विविधताओं वाला क्षेत्र है जहाँ अधिकतर जनजातियाँ निवास करती हैं। इनकी अपनी अलग–अलग बोलियाँ हैं जिनमें से अधिकतर लुप्तप्राय हैं और कुछ लुप्त हो गई हैं। भारत की एकता व अखंडता सुनिश्चित करने हेतु इन बोलियों को लिखित स्वरूप देने और राष्ट्रभाषा हिंदी नागरी से जोड़ने की आवश्यकता है। पूर्वोत्तर भारत के प्रमुख भाषाओं का अनुवाद व जनसंचार माध्यम को भारतवर्ष से जोड़ा गया है परंतु शेष भाषाएँ और बोलियाँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं। भाषिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत अनुसंधान की प्रयोगशाला हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. www.pravakta.com, वीरेंद्र परमार, पूर्वोत्तर भारत के लोकसाहित्य की विशेषताएँ

2. यूनियन सृजन, विवेक साव, पूर्वोत्तर भारत का साहित्य, जुलाई–सितंबर, 2019, पृ.–5

3. यूनियन सृजन,विवेक साव, पूर्वोत्तर भारत का साहित्य, जुलाई–सितंबर, 2019, पृ.– 6

4. वही, पृ.– 7

5. www.bhartiyadharohar.com, प्रो हेमराज मीणा दिवाकर, भाषाएँ और एकात्मकता

– हाउस नं.– 175, भवानी प्लाजा के सामने, वंशीलाल चौक, बड़ा बाजार,
हजारीबाग, झारखंड–825301

❑❑❑

बिहू नृत्य आज बनी असम की पहचान

नूतन पांडेय

ढोल की थाप पर मस्ती में नाचते–गाते असमी युवक–युवतियों की टोली आज देश–विदेश में असम का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती है। असम का जिक्र आते ही लोगों के जेहन में सबसे पहले जो दृश्य सामने आता है, वह है– धोती, गंजी, मूंगे के जैकेट के साथ कमर में असमी गामोछा (गमछा) बाँधे मनचले युवकों के ढोल की थापों और गीतों पर थिरकती......... मूंगे पर लाल काम वाली मेखला–चादर के साथ असमी गहनों से लदी वसंती श्रृंगार में खिलखिलाती युवतियों की टोली।

असम का लोक–नृत्य 'बिहू', जो कि कभी असम की लोक परंपरा का अंग था आज असम की पहचान कही जा सकती है। गाँव के खेत–खलिहान से उठ कर बड़े आहिस्ते से यह लोक नृत्य कस्बों, शहरों और महानगरों से होते हुए विदेशों तक अपनी अच्छी पहचान बनाने में कामयाब हुआ।

'बिहू' असम का जातीय पर्व है और इसी पर्व से जुड़ा है 'बिहू लोक नृत्य'। यह पूर्णतः गाँव और ग्रामीण समाज से जुड़ा पर्व है। भारत गाँवों का देश माना जाता रहा है और यहाँ की संस्कृति आमतौर पर खेत–खलिहानों के आस–पास ही घूमती देखी जा सकती है।

असम का मुख्य पर्व 'बिहू' जिसका कि धर्म, जाति या क्षेत्र से कोई लेना–देना नहीं है। यह जात–पात से ऊपर संपूर्ण असमी समाज का महापर्व कहा जा सकता है। इसी पर्व से जुड़ा है यह नृत्य, जो जमाने से असमी लोगों द्वारा वसंत यानी वोहाग के समय आने वाले नववर्ष का स्वागत करते हुए उल्लासपूर्वक मनाया जाता है। इस नृत्य कला की शुरुआत कब और कैसे हुई इस बात का वर्णन बुरंजी अर्थात् इतिहास में कहीं अंकित नहीं है, परंतु 'अहोम–बुरंजी' में इस बात का जिक्र किया गया है कि 1694 ई. में 'अहोम राजा रूद्र सिंघ' अपने 'रंगघर' के प्रांगन में बिहू नर्तकों की टोली को बिहू के अवसर पर आमंत्रित किया करते थे।

यूँ तो संपूर्ण भारत में बसंत की आगवानी हर्षोल्लास से की जाती है। अलग–अलग राज्यों में इसे मनाने का अपना–अपना ढंग है। परंतु प्रकृति के गोद में बसे पूर्वोत्तर प्रदेश में इसे मनाने का अंदाज बिल्कुल अलग है। असम में इसे 'बोहाग' के नाम से जाना जाता है। बोहाग यानी बसंत खुशियों का पर्व। बसंत ऋतु के आगमन के साथ ही प्रकृति पुनः अपने सौंदर्य में लौटने लगती है। असम की वादियाँ अलग–अलग हरे रंगों से मुखर हो उठती हैं। ऋतुराज बसंत अपने आगमन के साथ लाता है प्रकृति में एक नयापन। आमों में बौर लगने के साथ ही अमराई के कोयल की कूक गूँज उठती है। वातावरण नाहर और केतकी की खुशबू से सुगंधित हो उठता है। ऐसे में प्रकृति की गोद में पल रहे नवयुवक–युवतियों का मन कब शांत रह सकता है और यही चंचलता फूट पड़ती है बिहू गीत के स्वर में। ढोल, ताल, पेपा, गगना, बाँही (बाँसुरी), टोका सुतली (बाँस से बनी वाद्य यंत्र) का स्वर फिजा में फैल जाता है और इसके ताल पर थिरक उठती है युवक–युवतियों की टोली।

वर्षभर के इंतजार के बाद यह क्षण इतना उत्साहपूर्ण होता है कि बाँध बाँधने पर भी इस नृत्य व गीतों के सैलाब को नहीं रोका जा सकता है। यूँ तो विभिन्न जनजातियों में इस

नृत्य को करने का ढंग और पोशाक बदल जाती है पर खुशियाँ एक समान ही होती हैं। राभा, मिसिंग, कार्बी, बोडो जातियों के परिधान और नृत्य की शैली अलग–अलग होती है, जबकि असम के गैर जनजातीय समाज विशेष कर ऊपरी असम की नृत्य शैली और परिधान अलग होते हैं और यही शैली आमतौर पर बिहू–नृत्य के रूप में प्रचलित है।

वास्तविकता यह है कि बिहू एक लोक उत्सव और असम का मुख्य पर्व है जो कि साल में तीन चरणों में मनाया जाता है। अंग्रेजी का 14 अप्रैल असमी कैलेंडर के नववर्ष (वैशाख) की शुरुआत होती है और यही वह वक्त है जब खेतों में बीज डाला जाता है। असम की मुख्य फसल धान रहा है और आमतौर पर यह वर्ष में एक ही बार उपजाया जाता रहा है अर्थात् एक फसल पर ही यहाँ की आबादी निर्भर रहती थी। हालाँकि आजकल कुछ हिस्सों में अन्य फसलें भी देखी जा सकती हैं। फसलों की बुआई 'बोहाग बिहू' जिसे 'रोंगाली बिहू' भी कहते है, में होती है। कहते हैं......

बोहाग नोहोय माथो एटी ऋतु, नहय बोहाग एटी माह।
असमिया जातिर इ आयुष रेखा गण जिवनोर इ साह।।

(अर्थात् बसंत केवल एक ऋतु ही नहीं, न ही यह एक मास है, बल्कि यह असमिया जाति की आयु रेखा और जन गण का साहस है।)

जबकि कार्तिक महीने में आता है 'काति बिहू' जिसे 'कंगाली बिहू' भी कहते हैं। इस समय फसल खेतों में होती है और खेतिहरों के घर का अनाज खत्म होने की कगार पर होता है। इस बिहू में पूर्वजों को याद किया जाता है एवं इसे पूजा–पाठ के साथ मनाया जाता है। तीसरा बिहू है 'माघ बिहू' या 'भोगाली बिहू'। यह मकर संक्रांति वाले दिन मनाया जाता है। इस समय खेतों में फसल तैयार होकर घर आ जाता है। फसल के साथ ही आती है समृद्धि फलतः लोग खा–पीकर अपनी खुशी को व्यक्त करते हैं; विशेष कर धान, तिल और गुड़ के बने पकवान बनाए जाते हैं।

जहाँ तक 'बिहू नृत्य' का प्रश्न है यह 'रोंगाली बिहू' में ही पहले सुना और देखा जाता था पर समय के साथ लोगों ने इसे पूरे वर्ष का बना दिया है। प्रकृति और मनुष्य के बीच परस्पर संबंध स्थापित करने वाला यह पर्व पूर्णतः मिट्टी से जुड़ा है।

रोंगाली बिहू के प्रथम दिन यानी 14 अप्रैल को मनाया जाता है 'गोरू बिहू'। उस दिन लोग अपनी गायों और अन्य मवेशियों को नदी और तालाब पर ले जाकर हल्दी और उबटन लगा कर स्नान कराते हैं। उनकी रस्सियाँ बदली जाती हैं उन्हें 'दिघ्याती' (एक तरह का पेड़) के नरम तने से बाँध कर बैंगन और लौकी खिलाते हैं साथ–साथ असमी में कहते जाते हैं–

लाव खा, बेगुना खा, बोछोर–बोछोर बढ़ी जा, माँर होरु, बापेर होरु, तोई होबी बोर–बोर गोरु ("लौकी खाओ, बैंगन खाओ; साल–साल बढ़ते जाओ। माँके छोटे, बाप के छोटे, तुम बनोगे बड़ी–बड़ी गाय।।")

तात्पर्य यह कि गाय और मवेशियों की पूजा कर पर्व की शुरुआत करते है। शाम को सभी गायों को गौशाला में या बथान पर बाँध दिया जाता है। मान्यता है कि 'गोरू बिहू' जिसे 'उरूका' भी कहते हैं के दिन गायों को खुला नहीं रखना चाहिए।

फिर दूसरे दिन आता है 'मानुह बिहू', जो कि आमतौर पर 14 अप्रैल को पड़ता है, जिस दिन को असमिया समाज नववर्ष के रूप में मनाता है। इस दिन सभी लोग एक दूसरे से मिलते हैं, नए कपड़े पहनते हैं और पूरा समाज एक सूत्र में बँध जाता है। नववर्ष का आह्वान होता है और साथ ही शुरू होता है 'बिहू नृत्य और गीत' का सिलसिला।

रोंगाली बिहू यूँ तो पूरे महीने मनाया जाता है, पर सात दिन विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इस पर्व के मुख्य क्रिया–कलाप हैं नृत्य, संगीत और मेहमानवाजी। इस दौरान गाँव के युवा समूहों में अपने पारंपरिक लिबास में सज–धज कर बाहर आते हैं और नवयुवतियाँ भी पूरे पारंपरिक साजो– शृंगार के साथ उनका साथ देने निकल पड़ती हैं। प्रेम और प्रणय के गीत वातावरण में गूँज उठते हैं और उन्हीं गीतों के लय पर इन नवयुवक–युवतियों का दल नाचते हुए घर–घर घूमा करते हैं। इस तरह का समूह नृत्य 'मुकोली' कहलाता है।

बिहू नृत्य का दूसरा स्वरूप है 'हुसोरी'। इसमें बिहू नर्तकों का समूह एक बड़ा गोल घेरा बनाता है। ढोल बजाते हुए ये लोग अपने आने की सूचना घर के गृहस्थ को देते हैं। फिर समूह में नृत्य करते हैं और अंत में गृह स्वामी को सुख–समृद्धि का आशीर्वाद देते हैं, बदले में गृहस्वामी उन्हें कुछ पैसे, तांबूल और पान भेंट करते हैं।

असम में बिहू नृत्य व गीत जन मनोरंजन का एक अत्यंत खूबसूरत माध्यम रहा है। इसका प्रारंभ कब और कहाँ से हुआ यह कहना कठिन है, परंतु इस नृत्य व गीत को सभ्य समाज अपने से दूर रखता था यह सर्वविदित है। यह भी एक सत्य है कि आहिस्ता–आहिस्ता इसने समाज में अपना स्थान बना लिया और आज यह असमी संस्कृति की पहचान बन गई है। कभी इसे उत्तेजनापूर्ण यौवन से लिप्त युवक–युवतियों का खुला यौन आमंत्रण माना जाता था। प्रसिद्ध असमी साहित्यकार दिलीप कुमार दत्त द्वारा इस विषय पर विस्तार से लिखे जाने पर उन्हें भी अनेक आलोचनाओं का सामना करना पड़ा था, परंतु सच्चाई यही है कि बिहू मुकोली, नृत्य व गीत आमतौर पर संपन्न परिवार की गृहस्थ महिलाओं के लिए देखना वर्जित था। जब ये टोली घर–घर घूमती तब पुरुष वर्ग ही इस टोली का सामना करते थे। संपन्न परिवार की महिलाएँ आँगन में ही सज–धज कर आपस में समूह नाच करके बिहू का आनंद उठाती थीं। इस तरह के बिहू को 'झेंग बिहू' कहते हैं।

विभिन्न जातियों एवं जनजातियों के मिले–जुले समूह का संगम है असमी समाज जो कि एक दूसरे की प्रथाओं से प्रभावित रहा है, यही कारण है कि इस समाज पर जनजातीय संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आज समाज बदल रहा है फलतः यह नृत्य और संगीत का रूप भी बदल गया है। पहले यहाँ यह प्रथा आम थी कि बिहू के वक्त नवयुवक और युवतियाँ एक दूसरे के करीब आते। रातभर नृत्य और गीत चलता और इसमें ही उनका प्रेम परवान चढ़ता। लड़की–लड़के के संग हो लेती। बसंत में जब प्रकृति अपने पूर्ण यौवन पर होती तब ये प्रेमी युगल भी मिलन को आतुर हो उठते। उनकी उत्तेजना गीत बन कर बाहर आने लगती और उस गीत व उनके ताल पर बालाओं का अंग–अंग थिरक उठता और कामुक भाव भंगिमाओं का प्रदर्शन करते हुए युवतियाँ मगन होकर नाचतीं साथ ही गीत के बोल में भी एक खुलापन होता। युवक खुल कर युवतियों के यौवन का एवं उनके अंग–प्रत्यंग का वर्णन करते हुए प्रेम का इजहार करते जो कि स्वभावतः उत्तेजना पैदा करती। यही नहीं अनेक नृत्य के जोड़े जीवन साथी में परिवर्तित हो जाते थे। यही कारण था कि संपन्न गृहस्थ इसे अपने आँगन से दूर रखना चाहते थे।

बिहू नृत्य का एक दूसरा पक्ष और भी था वह यह कि लोक पर्व बिहू नववर्ष की मंगल कामना हेतु मनाया जाता है। खेत–खलिहानों के साथ जीने वाले ये लोग यह मानते थे कि नृत्य की थाप पृथ्वी को सम्मान प्रदान करती है और पैरों के भार से जमीन उर्वर होती है यानी गर्भवती होती है। वर्ष के पहले दिन

अगर वर्षा हो जाती है तो यह शुभ संकेत होता है।

वास्तविकता तो यह है कि बिहू एक लोक उत्सव है और बिहू नृत्य उसका एक हिस्सा/खुशी के इस अवसर को विशेष रंग प्रदान करने के लिए नृत्य और गीतों का क्रम चलता था। दिनभर युवक–युवतियों की टोली गाँव के खेतों और खुले मैदानों में नृत्य एवं गीतों का रंग जमाते। बिहू टोली जो कि किसी मैदान या किसी पेड़ के नीचे होता था जहाँ लोग जमा होकर बिहू गीत–संगीत का आनंद उठाते। रातों में भी युवक–युवतियाँ घर–घर घूम–घूम कर हुसोरी गाते। गाँव में इस नृत्य को सीखने का भी अपना अलग अंदाज था। खुले मैदान की धूप में अपनी छाया देखकर ये लोग नाच का अभ्यास किया करते थे।

समय बदला समाज का रूप भी बदल गया। बिहू नृत्य खेतों–खलिहानों से उठकर शहर में स्टेज पर आ गया। अप्रैल का महीना आते ही बिहू आदरणी सभाएँ होने लगीं। और फिर शुरू हुआ विभिन्न प्रतियोगिताओं का दौर, जैसे– बिहू कुँवरी, सर्वश्रेष्ठ बिहू टोली, बिहू सुंदरी इत्यादि–इत्यादि। पंडालों में लोग बिहू नृत्य का आनंद उठाने लगे। जगह–जगह बड़े–बड़े गायकों के प्रोग्राम के साथ बिहू नाचा जाने लगा। बिहू नृत्य को विशेष दर्जा मिला और आहिस्ता–आहिस्ता यह शहर, महानगर को पार करता देश से विदेश तक पहुँच गया।

परंतु सच कहा जाए तो बिहू नृत्य का जो आनंद खुले मैदान में आता है वह स्टेज पर कहाँ! उन्मुक्त युवाओं की टोली अपने वाद्य और संगीत के साथ जब नृत्य का स्वर हवा में बिखेरती है तब प्रकृति भी झूम उठती है और तभी बसंत के आने का एहसास होता है। लड़कों की हुर्र....... की ध्वनि के साथ बाँसुरी और ढोल को सुनकर लड़कियाँ दौड़ी चली आती हैं और शुरू होता है– "रोंगाली बिहू रे धेमाली......." (रोंगली बिहू का धमाल)।

जो भी हो, आज बिहू कहने से लोगों के जेहन में बिहू नृत्य ही पहले आता है और आती है असम की छवि या फिर असम कहने से सबसे पहले याद आता है बिहू नृत्य। क्या देश! क्या विदेश! हर जगह आज इस लोक नृत्य ने धूम मचा रखी है। कहना गलत नहीं होगा कि बिहू नृत्य आज असम की पहचान बन गई है।

बोहाग आहिसे बिहू बिहू लागिसे
मोइना जान बोला जांव नासिबोलोई

– जी–1403, आदित्य मेगासिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201014

❑❑❑

असम की भाषा–समस्या

डॉ. जाहिदुल दीवान

असम पूर्वोत्तर भारत का प्रमुख राज्य है। यह राज्य पूरी तरह मिश्रित संस्कृति का वाहक है। एक तरफ़ इसमें पहाड़ी संस्कृति के लोग हैं, तो दूसरी तरफ़ मैदानी संस्कृति की जनसंख्या भी काफी मात्रा में है। हम जानते हैं, किसी भी जगह की संस्कृति, उस जगह से जुड़ी सारी चीज़ों से मिलकर बनती है। मसलनः भाषा–समाज, खान–पान, पोशाक–परिधान, उत्पादन पद्धति आदि सभी चीज़ों का योगदान संस्कृति की निर्मिति में रहता है। दूसरी बात, जब किसी जगह पर ऐसे लोग रहते हैं, जिनमें ऊपर उल्लिखित सभी तत्व एक समान पाए जाते हैं, तो वहाँ एकल संस्कृति विकसित होती है। लेकिन जहाँ उल्लिखित तत्वों में विभिन्न कारणों से विविधता दिखाई पड़ती है, वहाँ मिश्रित संस्कृति जन्म लेती है। असम ऐसी ही मिश्रित संस्कृति का एक राज्य है। इसीलिए पूर्वोत्तर के बाकी राज्यों से असम की परिस्थिति काफी भिन्न पाई जाती है।

असम में भाषा एवं संस्कृति को लेकर बाहरी–भीतरी की अवधारणा आज भी प्रबल है। इसी भावना के चलते असम में कई बार बड़े स्तर पर सामाजिक आंदोलन भी हुए हैं। उन सामाजिक आंदोलनों ने जब–जब राजनीतिक रूप लिया, तब–तब बड़ी मात्रा में तबाही भी मची है। उन आंदोलनों में असंख्य लोगों ने अपनी जान गँवाई है। ऐसे लोगों को असम में 'भाषा शहीद' का दर्जा दिया गया है।

असम में कितने भाषिक समुदाय के लोग रहते हैं, निश्चित रूप से कह पाना मुश्किल है। क्योंकि यह एक ऐसा राज्य है, जहाँ पूरे भारत से लोग आकर बसे हैं। सरसरी तौर पर देखा जाए तो असम में निम्नांकित भाषाओं और बोलियों का प्रयोग किया जाता है– असमिया भाषा, अहोम भाषा, कछारी भाषा, कामरूपी भाषा, कार्बी भाषा, कोच भाषा, चकमा भाषा, ज़ेमे भाषा, डिमाश भाषा, तिवा भाषा, देओरी भाषा, नोक्टे भाषा, बियाटे भाषा, बोडो भाषा, ब्रजावली भाषा, मिसिंग भाषा, म्हार भाषा, राजबोंग्शी भाषा, वाँचो भाषा, हफ़लौंग हिंदी इत्यादि। इसके अतिरिक्त हिंदी भाषा, नेपाली भाषा, मियाँ भाषा, बांग्ला भाषा, मारवाड़ी भाषा, बागानीया भाषा, पंजाबी भाषा आदि बोलने वाले भी असम में काफी संख्या में पाए जाते हैं। ऊपर जितनी भी भाषाओं का उल्लेख किया गया है, उनसे जुड़ी संस्कृतियाँ भी असमिया समाज में जीवंत हैं। समाज भाषाविज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो भाषा संपर्क, भाषिक आदान–प्रदान भाषाद्वैत (डायग्लोसिया), द्विभाषिकता एवं बहुभाषिकता, कोड–मिश्रण और कोड–परिवर्तन, भाषिक परिवृत्ति, मातृभाषा अनुरक्षण; जैसी सभी प्रवृत्तियाँ असम के भाषिक परिदृश्य में दिखाई पड़ती हैं।

आज से कई दशक पहले असमिया भाषा असम की प्रमुख भाषा बना दी गई थी। इस निर्णय को लेकर असम के दोनों घाटियों (ब्रह्मपुत्र और बराक) में जोरदार विरोध परिलक्षित हुआ था। सबसे ज्यादा विरोध बांग्ला भाषी लोगों की ओर से हो रहा था। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार असम की कुल जनसंख्या का 28.92 प्रतिशत लोग बांग्ला भाषी हैं, वहीं 48.43 प्रतिशत लोग असमिया भाषी हैं। जब असमिया भाषा को असम की आधिकारिक भाषा बनाने की माँग जोर पकड़ने लगी, तो बांग्ला भाषी लोगों ने उसका विरोध करते हुए कहा कि असमिया

एक दक्ष भाषा नहीं हैं, इसीलिए इसे एक राज्य की प्रमुख भाषा बनाने की माँग बिल्कुल गलत है। साथ ही उन लोगों ने यह भी तर्क दिया कि बांग्ला एक समृद्ध भाषा है, असमिया भाषा–साहित्य के विकास में बांग्ला भाषा का योगदान अविस्मरणीय है। अतः बांग्ला भाषा को असम की प्रमुख भाषा घोषित किया जाना चाहिए।

भाषा की इस लड़ाई में असमिया की जीत हुई। सन् 1964 में असमिया भाषा को संवैधानिक दर्जा दिया गया। इससे पहले सन् 1836 से बांग्ला भाषा असम प्रांत की अधिकारिक भाषा के रूप में विराजमान थी। जिस समय कानूनी तौर पर असमिया ने बांग्ला की जगह ली, उसके आस–पास बांग्ला के लिए भी एक छोटा सा प्रावधान किया गया था। सन् 1967 में असम राजभाषा अधिनियम 1960 की धारा 5 के तहत बांग्ला भाषा को असम की एक आधिकारिक भाषा के रूप में निर्दिष्ट किया गया था। लेकिन यह किस्सा यहीं पर खत्म नहीं हुआ। 30 नवंबर, 2013 की बात है; असम सरकार ने एक परिपत्र जारी किया था, जिसमें राज्य के सभी जिलों के उपायुक्तों से असमिया को आधिकारिक भाषा के रूप में उपयोग करने के लिए कहा गया था। इस निर्णय का असम के तीन बराक घाटी जिलों– कछार, करीमगंज और हैलाकांडी में काफी विरोध हुआ था। बाद में राज्य सरकार को दोबारा एक परिपत्र जारी करके यह कहना पड़ा कि बराक घाटी की आधिकारिक भाषा (बांग्ला) सभी आधिकारिक कार्यों के लिए उपयोग की जाएगी। लेकिन असमिया और बांग्ला का संघर्ष यहीं समाप्त नहीं हो जाता।

असम में बांग्ला भाषा बोलने वाला एक समुदाय है– मियाँ। मियाँ समुदाय की भाषा शुद्ध बांग्ला न होकर बांग्ला की एक बोली है, जिसको सिलेटी एवं बांग्लादेशी भाषा भी कहा जाता है। असम की कुल जनसंख्या के 21 प्रतिशत मियाँ लोग हैं। इस समुदाय के 90 प्रतिशत लोग कृषि व्यवसाय से जुड़े हुए हैं।

वर्तमान समय में ऐसा भी देखा जा रहा है कि मियाँ समुदाय के कुछ लोगों ने अपनी भाषा–संस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए, मियाँ भाषा में साहित्य सर्जन का काम शुरू कर दिया है। औपचारिक बोलचाल में, सोशल मीडिया में, यहाँ तक कि न्यूज चैनलों में मियाँ भाषा का खुल कर प्रयोग करना, इस समुदाय के आत्मबल में वृद्धि का संकेत देता है।

आगे हम बात करेंगे असम के दूसरे सबसे शोषित, पीड़ित, दलित वर्ग की भाषा–संस्कृति के बारे में। असम में जनसंख्या की दृष्टि से वे तीसरे स्थान पर आते हैं। यह असम की चाय जनजाति के बारे में जानकारी देते हैं। असम में चाय जनजाति के लोगों का इतिहास 150 साल पुराना है, लेकिन आज भी यह समुदाय राज्य के सबसे पिछड़े समुदायों में से एक माना जाता है। असम के चाय बागानों में काम करने वाले लोगों की संख्या, असम की कुल जनसंख्या के लगभग 17 प्रतिशत है। चाय बागानों में काम करने वाले मजदूर मूल रूप से आदिवासी और पिछड़े वर्ग के हिंदू हैं, जो उन्नीसवीं सदी के मध्य से बीसवीं सदी के मध्य तक, मध्य–पूर्वी भारत से यहाँ लाकर बसाए गए थे। सन् 1840 के दौरान छोटा नागपुर (झारखंड) में आदिवासी लोगों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ विद्रोह कर दिया था। उस पर नियंत्रण पाने के लिए तथा सस्ते श्रमिकों की कमी को दूर करने के लिए, ब्रिटिश अधिकारियों ने आदिवासियों एवं कुछ पिछड़े वर्ग के हिंदुओं को गिरमिटिया मजदूर बनाकर, जबरन असम के चाय बागानों में लाकर डाल दिया था। तब से वे लोग पीढ़ी दर पीढ़ी बागान में ही रह रहे हैं। आज भी कम से कम वेतन पर मजदूरी करने के लिए वे मजबूर हैं। उनकी दूसरी समस्याओं को छोड़कर केवल भाषा–संस्कृति पर बात करें, तब भी बदहाली

ही देखने को मिलती है। चाय बागान के मजदूर लंबे समय से आदिवासी समुदाय के रूप में संवैधानिक दर्जा माँग रहे हैं। आदिवासी समुदाय के रूप में संवैधानिक दर्जा मिलने पर उनकी बहुत सारी समस्याएँ दूर हो सकती हैं। आज उनकी भाषा की कोई पहचान नहीं है, साहित्य में उनके लिए कोई जगह नहीं है। उनकी कला–संस्कृति असमिया मनोरंजन जगत में केवल आइटेम नंबर बनकर रह गई हैं। सदरी, ओड़िया, सौरा, कुरमाली, कुरुख, गोंडी, कुई, खारिया, संताली, मुंडारी आदि बागान की प्रमुख भाषाएँ हैं। लेकिन इनकी कोई औपचारिक पहचान नहीं है। असम के चाय बागान के मजदूरों की भाषाओं ने अब अपना स्वरूप भी बदल लिया है। उनके जीवन की तरह उनकी भाषाएँ भी असमिया प्रभुत्व के अधीन हो गई हैं। जैसे–जैसे उनकी साक्षरता दर में वृद्धि हो रही है, नई पीढ़ी के लोग अपनी मातृभाषा छोड़कर मानक हिंदी, असमिया और अंग्रेजी भाषा को अपनाने लगी है। शायद अपनी मातृभाषा को पीछे छोड़कर वे उस अंधकार से बाहर निकलना चाहते हैं, जिसमें कि उनके पूर्वज तड़प–तड़प कर अपना जीवन बिताया करते थे।

असम में असंख्य आदिवासी समुदाय के लोग रहते हैं, जिसकी थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सभी आदिवासियों की अपनी निजी भाषा– संस्कृति है। लेकिन असम के स्थानीय आदिवासियों (सिवाय बोडोओं के) ने कभी अपनी भाषा–संस्कृति के लिए पृथक माँग नहीं की। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने अपनी पहचान को 'एक असमिया पहचान' में विलय कर लिया है। एक समय में ऐसा मियाँ समुदाय ने भी किया था, लेकिन अब उनकी मनोवृत्ति में बदलाव परिलक्षित हो रहा है। इसके अलावा असम में पंजाबी, मारवाड़ी, नेपाली, भोजपुरी जैसे कई बड़े भाषिक समुदाय हैं, लेकिन उन्होंने भी कभी अपनी भाषा की आधिकारिक पहचान के लिए माँग नहीं उठाई। उल्लिखित भाषिक समुदायों की जनसंख्या– सब मिलाकर असम की कुल जनसंख्या के सात–आठ प्रतिशत से कम नहीं होगी, लेकिन भाषिक प्रयोग की दृष्टि से देखा जाए तो इनकी मातृभाषाएँ दिन–प्रतिदिन कमजोर होती जा रही हैं। ये लोग अपनी मातृभाषा की जगह या तो असमिया का इस्तेमाल करते हैं या फिर हिंदी। अंग्रेजी का इस्तेमाल मध्य वर्ग या कुछ उच्च वर्ग के लोग करते होंगे। हालाँकि उल्लिखित भाषिक समुदायों ने अपनी संस्कृति को जरूर बचाकर रखा है। रस्म– रिवाज, पर्व–त्योहारों का पालन ये लोग धूमधाम से करते हैं। असमिया भाषी समुदाय में भी एक उदारता बढ़–चढ़कर देखने को मिलती है, वे कभी किसी भाषाई अल्पसंख्यक को उनके पर्व–त्योहार मनाने पर रुकावट नहीं डालते। उनको दिक्कत केवल दूसरों की आधिकारिक भाषिक पहचान से है। (अध्ययन जारी है...)

– कमरा नं.–32, 52 ए/2, करतार सिंह टोकस बिल्डिंग, बुद्ध बिहार, मुनिरका,
नई दिल्ली–110067

❑❑❑

मेघालय के खासी लोककथाओं, मिथकों में मानवीय चेतना के स्वर

डॉ. अनीता पंडा

लोकसाहित्य किसी भी संस्कृति की आत्मा होती है, उसकी अस्मिता होती है। साहित्य की अनेक विधाओं की ही भाँति लोकसाहित्य भी कई विधाओं में मिलता है। भारतवर्ष में लोककथा, लोकगीत, लोकनाट्य, लोकसुभाषित तथा इनके साथ ही लोकोक्ति, मुहावरा, पहेली, सूक्ति आदि का आविर्भाव पाया जाता है। इन सबकी परंपरा सनातन काल से ही वाचिक रही है अतः बहुत सारी सामग्री सुरक्षित नहीं रह सकी। जिस लोककथा को समस्त कथा साहित्य का जनक और लोकगीत को सकल काव्य की जननी माना जाता है, उस साहित्य का प्रकाशन और संकलन, अध्ययन बहुत समय तक उपेक्षित रहा है। भारतवर्ष में लोककथाओं का क्रमबद्ध संकलन और वैज्ञानिक अध्ययन बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ।

सामान्यतः लोककथाओं का स्वरूप व्यापक होता है, इसमें लोकरंजन के साथ–साथ उपदेशात्मकता का समावेश होता है। इनकी व्यापकता के कारण इनमें जीवन के विविध आयाम विस्तृत रूप में मिलते हैं जैसे– अनेक तरह के पात्र, उनकी रुचियाँ, व्यवहार, सोच, संवेदना तथा तत्संबंधी घटनाएँ तथा कार्यकलाप आदि। इन लोक कथाओं में जहाँ प्राचीनकाल के गौरवशाली चरित्रों के साहसिक कार्यों का वर्णन किया जाता था, वहीं पशु–पक्षियों, वृक्षों, पर्वतों आदि के बहुरंगी चित्र भी उतारे जाते थे। प्रेम, युद्ध, शिकार, तीरंदाजी और धार्मिक उत्सवों से संबंधित कथाओं की मौखिक परंपरा इनके सामाजिक जीवन का अंग थी और विवाह आदि सामाजिक समारोहों में लोग रात–रात जागकर लोककथाओं को सुनते–सुनाते थे।[1]

पूर्वोत्तर भारत को प्रकृति की संतान कहा जाता है। पर्वत–पहाड़, नदी–निर्झर, पेड़–पौधे से भरे हरे–भरे प्रांत, पशु–पक्षियों के विचरण क्षेत्र, घने जंगल, प्राकृतिक संपदाओं से उभरे हुए भूगर्भ के दृश्य चारों ओर देखने को मिलते हैं। यहाँ का लोकसाहित्य यहाँ के जीवन की सांस्कृतिक झाँकी है। आज भी यहाँ विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक प्रथाएँ पूर्ववत् हैं, जो यहाँ के लोकसाहित्य में परिलक्षित होती हैं। लोकसाहित्य लोक मानस की अभिव्यक्ति है। इसका सम्यक अध्ययन किए बिना किसी देश, जाति, सभ्यता, कला या सामाजिक विकास की सही जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसके माध्यम से सामान्य जन के उद्‌गार व्यक्त होने के कारण इसे जन–जीवन का दर्पण कहा जाता है।

मेघालय की खासी जनजाति में लोक कथाओं का अकूत भंडार है। "ये कथाएँ मनुष्यों से लेकर चौपायों, दोपायों और पक्षियों तक के प्रेम से पगी हैं। ये कथा–कहानियाँ और किस्से प्रागैतिहासिक काल से सदी–दर–सदी, पीढ़ी–दर–पीढ़ी चले आ रहें हैं। सुनानेवाले बदलते गए और पात्रों के नाम तक भी जब–तब और जहाँ–तहाँ समयानुसार बदल जाते हैं लेकिन उसमें अंतर्निहित विचार, संवेदना या विचार की अवधारणा वही रहती है।"[2] जिसके कारण बनी धारणाओं में विभिन्न मिथक स्थापित होते गए। ये लोककथाएँ प्रकृति के इर्द–गिर्द घूमती हुई आदिम गंध या मनुष्य गंध की पहचान कराती हैं साथ ही नैतिकता का संदेश भी देती हैं। इन लोककथाओं के माध्यम से घर के बड़े–बुजुर्ग बच्चों में संस्कार एवं सीख देते हैं तथा ये कथाएँ इनकी परंपरा, संस्कृति एवं विरासत की

धरोहर हैं। इनमें से कुछ चुनिंदा कथाओं के संदर्भ प्रस्तुत हैं।

खासी जनजाति में सूरज को संसार की सबसे सुंदर स्त्री माना जाता है और चाँद को पुरुष, जो बहन–भाई हैं। कहते हैं युवा चाँद की नीयत अपनी बहन सूरज के प्रति ख़राब हो गई और उसने एक दिन अपनी बहन के सामने शादी का प्रस्ताव भी रख दिया, जिसके कारण सूरज ने उसके मुँह पर जलती राख़ फेंकी। जलती राख से चाँद के चेहरे पर दाग पड़ गए और भयभीत होकर वह सूरज से मुँह छिपाता फिरता है। जब सूर्यास्त होता है, तब चाँद निकलता है। यह जनजाति समुदाय की कल्पना की सहज अभिव्यक्ति है, जहाँ अपनी बहन के प्रति कामुक दृष्टि रखना वर्जित है।

'पवित्र मुर्गे' को खासी जनजाति में विशेष सम्मान प्राप्त है। कहते हैं एक समय की बात है कि कई वर्ष पहले सभी जानवर, पक्षी और जीवित प्राणी मुनष्यों की भाषा बोलते थे। उन्होंने उस समय तक इनसानों की प्रभुता भी स्वीकार कर ली थी। उस समय मनुष्य ने सभी प्राणियों को संदेश भेजा कि निर्धारित समय पर रंगभूमि में सभी का नृत्य होगा। अतः निर्धारित समय पर सभी प्राणी रंगभूमि पहुँच गए। सभी ने नृत्य करना आरंभ कर दिया। पूरे कार्यक्रम को सुचारू रूप से चलाने का भार सूरज पर था। अतः वह नृत्य में देर से पहुँची। सूरज सभी प्राणियों के बीच में थी। जब वह अपने भाई चाँद के साथ नृत्य कर रही थी, तो उस समय छछूंदर, उल्लू, मेढक, बंदर और दूसरे प्राणी भाई–बहन के अनैतिक संबंध को लेकर दोषारोपण करने लगे। उनके ऐसे व्यवहार ने सूर्य को बहुत दुखी हुआ उसने अपने आपको बहुत अपमानित और हीन महसूस किया। अतः वह गुस्से एवं शर्म से नृत्य को बीच में ही छोड़ कर चली गई और अपने आपको एक गुफ़ा का 'क्रेम लामेट–क्रेम लतांग' में छिपा लिया।

इसके बाद पूरी धरती पर अँधेरा छा गया। हर कोई डर गया। उन्हें धक्का–सा लगा। वे सोचने लगे कि अचानक यह क्या हुआ? चारों ओर हलचल मच गईं प्रकाश प्रदान करने वाला सूर्य 'क्रेम लामेट– क्रेम लतांग' की गुफा में छिप गया। चारों ओर अंधकार फ़ैल गया। सूर्य को मनाने के लिए कोह्करंग, (यह पक्षी केवल मेघालय में ही पाया जाता है।) को चुना गया, जो स्वार्थी व घमंडी था अतः सूर्य ने उसे स्वीकार नहीं किया। लोगों ने अंतिम कोशिश के लिए एक मुर्गे को चुना। मुर्गे की शर्त यह थी कि यदि वह इस कार्य में सफल हुआ तो पवित्र वेदी में उसकी बलि चढ़ाई जाए। उसने बहुत विनम्रतापूर्वक पृथ्वी के पुनरुद्धार हेतु अपनी बात रखी और उसे सफलता मिली। सूरज की शर्त यह थी कि मुर्गा लगातार तीन बार बाँग देगा, तब अंधकार के बाद सवेरा होगा और सूर्य की जीवनदायिनी किरणें चमकेंगी। इस प्रकार पृथ्वी के उद्धार हेतु आत्मबलिदानी मुर्गे को ज्योति के दूत के रूप में स्वीकार कर धार्मिक स्तंभ पर स्थान दिया गया। ध्यातव्य है त्याग और बलिदान जैसे उच्च आदर्श मूल्यों की स्थापना हेतु आदिवासी–मानस ने पशु–पक्षी, मानव के साथ ब्रह्मांडीय पात्रों को जोड़ दिया है।

इसके अतिरिक्त पेड़–पौधे, विशेषकर पीपल के पत्ते तथा केले के पत्ते धार्मिक महत्व रखते हैं। मान्यता है कि यात्रा के दौरान वृक्ष–पौधों ने मुर्गे का अतिथि सत्कार किया। एक छोटा पक्षी 'फ्रेइट' को आज भी सम्मान विशेषकर किसानों द्वारा दिया जाता है, क्योंकि उसने अंधकार को दूर करने का उपाय बताया था। यहाँ पशु–पक्षी, जलचार, पर्वत, नदियाँ सभी मानव की भाँति संवेदनशील हैं, जो मानव की ही तरह कार्य करते हैं। वे समाज और संसार के निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। आदिवासी कथाओं में ये सभी मानवीय कार्य–कलाप करते हैं।

कल–कल बहती हर नदी, झरने से जुड़ी लोककथाएँ हैं, जो मानवीय मूल्यों की स्थापना करती हैं। चेरापूँजी का प्रसिद्ध झरना

'नौ–का–लिकाई', 'का लिकाई' की दर्द भरी दास्ताँ सुनाता है। विधवा का[3] लिकाई कोयले के खदान में काम करने वाली श्रमशीला है, जिसकी एक छोटी बेटी है। घर की जिम्मेदारियों का वहन एकाकी करते हुए उसे कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है अतः वह दूसरा विवाह कर लेती है। खासी समाज में विधवा–विवाह समाज–स्वीकृत है। उसके बाद वह बेटी को लेकर आश्वस्त हो जाती है पर उसका दूसरा पति बेटी से नफ़रत करता था। एक दिन जब लिकाई काम के लिए बाहर गई और देर से लौटी; वह बहुत भूखी थी। उसने खाना खाया; मांस बहुत स्वादिष्ट था। खाने के बाद पान–सुपारी खाने के लिए टोकरी उठाई तो उसे उसमें बच्चे की कटी ऊँगलियाँ मिली। वैसे भी अपनी बच्ची को घर में न पाकर वह बहुत व्याकुल थी और उसने कई बार अपने पति से पूछा। कटी ऊँगलियाँ देखकर उसकी सब समझ में आ गया। वह पागलों की भाँति रोती–चीख़ती झरने की ओर दौड़ी और उसने उसमें छलाँग लगा दी। वहाँ की वीरानगी यह बताती है कि आत्महत्या करना और उसे होते देखना दोनों ही पाप हैं। घृणा की पराकाष्ठा ने एक निरपराध के प्राण ले लिए, एक माँ को उसकी बेटी का मांस धोखे से खिला दिया और उसे आत्मग्लानि से आत्महत्या के लिए विवश किया। यह लोक कथा यह संदेश देती है कि आत्महत्या करना और आत्महत्या करते देखना दोनों ही पाप हैं। पूरा क्षेत्र, जो कभी हरा–भरा था, आज वीरान पड़ा है।

शिलांग के देवता 'ऊ लेई शेईलंग' की जुड़वाँ देवी बेटियों 'का नट' और 'का यव' का बांग्लादेश पहुँचने की दौड़ प्रतियोगिता मानवीय संवेदनाएँ जैसे– स्नेह, ईर्ष्या, साहस, लालसा और महत्वा–कांक्षाओं को व्यक्त करती हैं और अंततोगत्वा नदियों के रूप में परिवर्तित हो मानव–सेवा का संदेश देती हैं। एक दिन सूर्य की रोशनी में चाँदनी के समान दूर से चमकती बांग्लादेश की झीलों को देखकर बड़ी बहन ने वहाँ तक दौड़– प्रतियोगिता की जिद की और हमेशा की तरह छोटी बहन को मना लिया। अपने स्वभाव के अनुसार बड़ी बहन घमंड में शिलोट जल्दी पहुँचने के लिए उसने सबसे छोटे रास्ते की खोज में वह पहाड़ों, घाटियाँ और जंगलों से गुजरी। रास्ते में आने वाले बड़े–बड़े पत्थरों को तोड़ती हुई, बड़े–बड़े पेड़ों को उखाड़ती हुई, गहरी घाटियों के ऊपर कूदती और मैदानों को खोदती हुई चल पड़ी। शक्तिशाली होने के बाद भी ये सब करने में बहुत शक्ति और समय लग गया क्योंकि उसने जो रास्ता चुना था, उसमें पग–पग में बाधाएँ थीं। इस प्रकार जब वह लुढ़कती हुई शिलोट के निकट शैला पहुँची तो उसने देखा कि 'का उम्न्गोत' उससे पहले ही पहुँच गई थी। जबकि अपने शांत एवं विनम्र स्वभाव के कारण उम्न्गोत ने यात्रा के लिए सीधा और सरल रास्ता चुना, जिसमें हल्के मोड़ थे यद्यपि वह लंबा रास्ता था। वह आराम से अपनी यात्रा तय करती हुई बांग्लादेश के शिलोट नामक स्थान पहुँची, जहाँ दोनों बहनों ने मिलने का स्थान निश्चित किया था। अपनी बड़ी बहन को वहाँ न पाकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

उधर छोटी बहन को वहाँ देखकर का उमिएव अवाक् रह गई। पहली बार अपनी कमजोर बहन से हारना उसके लिए असहनीय हो गया। यह सब भाग्य का खेल था। उसके अहम को ठेस पहुँची। उसे लगा कि इस शर्मनाक हार के बाद वह संसार को अपना मुँह कैसे दिखाएगी? "वह कमजोर लड़की से हार गई। मैं कैसे जीवित रहूँगी?", यह कहते हुए, अपनी किस्मत को कोसती और रोती हुई उसने अपने आप को जमीन पर जोर से पटका कि वह पाँच शाखाओं में बँट गई, जो द्वारा, उम्तंग, कुमार्जनी, पसबिरिया, और उम्तारासा के नाम से जानी जाती हैं।

जब का उम्न्गोत को अपनी बहन के बारे में पता चला तो उसे बहुत दुःख हुआ। इस दुखद घटना के लिए वह मन ही मन अपने को दोषी मानने लगी। उसने अकेले घर नहीं

लौटने का निश्चय किया और सदा के लिए नदी के रूप में वहीं अपनी बहन के साथ रह गई। इस प्रकार दो देवियाँ प्राणी जगत में नदियों के रूप में बहने लगीं। वे नदियाँ लोगों के लिए तीर्थ बन गईं विशेषकर 'का उम्नोत', बड़ी नदी गैर खासी जनजातियाँ यहाँ धार्मिक अनुष्ठान आदि करते हैं। इसी प्रकार सोहरा के नंग्ज्री गाँव के 'रन' नामक मछुआरे तथा निफ़्फ नदी का सच्चा प्रेम उनके त्याग–बलिदान की भावना को दर्शाते हैं क्योंकि सच्चा प्रेम सीमाओं की परिधि से परे होता है।

यहाँ तक की खासी लोककथाओं में दिन–प्रतिदिन की छोटी–छोटी बातों पर आधारित संदेश देती हैं। एक लोककथा के अनुसार 'यू ब्लेई' (मूल खासी के देव) लोगों को भोजन न बर्बाद करने का संदेश बैल के माध्यम से 'उ मासी' नामक मनुष्य को देकर भेजते हैं। स्वर्ग से पृथ्वी तक की दूरी तय करते समय बैल की पीठ पर बैठे कीड़े–मक्खियों ने उसे काट–काट कर तंग कर दिया। उस समय एक कौआ उधर से गुजरा और उसने चोंच से उन्हें मार भगाया, जिससे बैल को बहुत राहत मिली। वह थोड़ी देर आराम करने के लिए बैठ गया। बातों–बातों में कौए को उब्लेई के संदेश के बारे में पता चल गया। उसने बैल से कहा– तुम मनुष्य को पूरा संदेश मत सुनाओ। यदि वे बचा खाना नहीं छोड़ेंगे तो मेरा पेट कैसे भरेगा? मैंने तुम पर उपकार किया है अब तुम्हारी बारी है। भोला–भाला बैल कौए की बातों में आ गया और आंशिक संदेश मनुष्य तक पहुँचाया। इससे उ ब्लेई बहुत नाराज हुए; उन्होंने बैल के मुँह पर इतनी जोर से मारा कि बैल के ऊपरी सारे दाँत टूट गए और दाहिने तरफ मारा, जिससे उस स्थान पर गड्ढ़ा हो गया। उसे स्वर्ग से निकाल दिया। उन्होंने कौए के पंखों पर हड़िया की कालिख लगा दी। इस लोककथा के द्वारा अन्न बचाने के साथ–साथ अपने काम को ईमानदारी से करने और अपने बुजुर्गों की बुद्धिमत्ता पर विश्वास का संदेश दिया गया है।

कहा गया है– घमंडी का सिर नीचा होता है। प्रचलित खासी लोककथा 'को स्केई' में हिरण को अपनी तेज रफ़्तार पर बहुत घमंड था। वह सदा आत्मप्रशंसा करता रहता था और घोंघे का तिरस्कार करता। उसे सबक सिखाने के लिए घोंघों ने एक गुप्त योजना बनाई और हिरण का लूरी–लूरा (साप्ताहिक बाज़ार) तक दौड़–प्रतियोगिता के लिए चुनौती दी। अपनी बुद्धिमत्ता से घोंघा की जीत होती है और घमंडी हिरण का सिर नीचा होता है। जीत का रहस्य यह था कि घोंघे ने दौड़ के मार्ग में अपने समाज के पूरे सदस्यों को गुप्त रूप से खड़ा कर दिया था। यह कथा संगठन–शक्ति, सुनियोजित योजना एवं समयानुसार विवेक के प्रयोग जैसे नैतिक मूल्यों को संप्रेषित करती है।

मानव–मन महत्वाकांक्षी होता है; कुछ तो प्रयास करते हैं और कुछ अपने जीवन की कमियों के लिए ईश्वर पर दोषारोपण करते हैं पर इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि उनकी दुर्बलता का कोई गलत लाभ उठा सकता है। ऐसा ही हुआ 'का ब्लांग' (बकरी) के साथ। वह सदैव अपनी तुलना शेर से कर अपनी कमजोरी के लिए 'उ ब्लेई' को कोसती थी पर उसे नहीं मालूम था कि उसकी हिलती दाढ़ी देखकर शेर भी डर जाता था। एक दिन शेर ने 'का ब्लांग' को पहाड़ी पर जोर–जोर से अपनी दुर्बलता के बारे में कोसते सुना। सत्य का पता चलते ही उसने अवसर पाते ही 'उ ब्लेई' को धर दबोचा। अतः अपनी दुर्बलता पर कोसने के बजाय उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

आलस्य प्राणी का सबसे बड़ा शत्रु है यह संदेश देती खासी लोककथा 'उ आहिल्या' में एक ऐसे आलसी व्यक्ति का वर्णन है, जो सोता ही रहता है। यहाँ तक कि उसके गाँव में आक्रमणकारी आए तो उसकी पत्नी ने उसे जगाने की कोशिश की पर उस पर कोई असर नहीं हुआ। हारकर उसकी पत्नी बच्चों को लेकर सुरक्षित स्थान में चली

गई। आक्रमणकारी घर में घुस आए। जब उसने चादर से मुँह बाहर निकाला तो आक्रमणकारियों ने तलवार से उसे मार डाला।

खासी मान्यता है कि ईश्वर की पहली रचना पृथ्वी अर्थात् 'का रम्यो' और उनका पति 'ऊ बासा' थे। उनके चार बेटियाँ– सूरज, पानी, हवा, आग और एक बेटा– चाँद थे। इनमें सूरज सबसे बड़ी संतान थी। सभी सुख पूर्वक रहते थे। सूरज का विवाह मोर के साथ हुआ था। कहते हैं उस समय संसार नया –नया बसा था। सभी एक साथ रहते थे और उनका स्वर्ग से भी आना–जाना था। सूरज और मोर पति–पत्नी की भाँति स्वर्ग में रहते थे। दोनों में अगाध प्रेम था। सुबह होते ही सूरज पूरी धरती को रोशनी से चमकाने के लिए निकल जाती और मोर स्वर्ग के सुंदर उपवन में घूमता था।

जाड़े की सुबह थी और ठंडी–ठंडी हवा चल रही थी। सूरज अकेले ही पूरे आकाश और धरती को चमका रही थी। उसका पति मोर सदैव की भाँति बगीचे में घूम रहा था। स्वर्ग का बाग़, ऐसा बाग़ था जहाँ कभी भी अँधेरा नहीं होता था। वहाँ हमेशा चिड़ियाँ चहचहाती थीं और तरह–तरह के सुंदर फूल खिलते थे। सुरम्य वातावरण और खुशनुमा मौसम का आनंद लेते हुए मोर की दृष्टि धरती पर पड़ी। पूरी धरती सूरज की रोशनी से जगमगा रही थी। उस रोशनी में उसकी दृष्टि दूर से एक युवती पर पड़ी, जो रानी की जैसी लग रही थी। वह सुबह की धूप में अपना पीला और हरा शाही आँचल फैलाए मस्ती में झूम रही थी। मोर ने पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों की सुंदरता के बारे में सुन रखा था। उसने सोचा कि ज़रूर ही वह सुंदर युवती रानी होगी और संसार की सबसे सुंदर स्त्री होगी।

मोर का हृदय उस अनजान सुंदरी के प्रति आकर्षित हो गया। उसने मन ही मन में कहा– वाह! क्या युवती है? कितनी सुंदर है? वह मेरी पत्नी से भी ज्यादा सुंदर होगी। मेरी पत्नी के पास तो मेरे साथ बैठने का भी समय नहीं है, न ही उसके पास जीवन का आनंद उठाने का वक्त है। वह तो हमेशा अपने काम में व्यस्त रहती है। वह उस सुंदर युवती के बारे में जितना सोचता, उतना ही उसके प्यार में डूबता जाता। धीरे–धीरे उसका अनजाने के प्रति प्यार पागलपन की सीमा तक पहुँच गया। वह हर पल बस उसके बारे में ही सोचता– वह कौन होगी? किसकी बेटी होगी? अब चाहे जो हो जाए, मैं उसके पास जरूर जाऊँगा।

वह अपने मन की बात बहुत दिनों तक छिपा कर न रख सका। उसकी बेचैनी दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी अतः उसने दृढ़ निश्चय किया और बिना कोई भूमिका बाँधे उसने अपने मन की बात अपनी पत्नी सूरज को बताई। साथ ही अपना निर्णय सुनाते हुए कहा– सूरज, मैं तुम्हें छोड़कर जा रहा हूँ और शेष ज़िंदगी मैं उस सुंदर युवती के साथ बिताना चाहता हूँ। मोर की बात सुनकर सूरज रो पड़ी। उसने अपने पति को समझाने की पूरी कोशिश की। उसे पृथ्वी की नश्वरता के बारे में भी बताना चाहा कि धरती पर जो कुछ है वह एक समय के बाद नष्ट हो जाता है पर मोर की आँखों पर अनजाने प्यार का पर्दा पड़ा हुआ था। वह कुछ भी नहीं सुनना चाहता था न ही वह समझने के लिए तैयार था। सूरज का दिल टूट गया। वह सोच रही थी कि क्या उसके प्यार में कोई कमी थी? क्या उसने अपने पति से सच्चा प्यार नहीं किया? क्या कारण है कि मोर का घमंडी और निष्ठुर मन उसके दर्द को नहीं समझता। उसकी कुछ समझ में नहीं आया। वह मोर से लिपट कर खूब रोई और उसके आँसू मोर के पंखों पर गिरने लगे, जिससे उसके पंखों पर सुनहरे दाग बनते जा रहे थे। अंत में कठोर हृदय मोर ने अपने आपको सूरज की बाँहों से अलग किया और धरती की ओर चल पड़ा।

मोर जब धरती पर पहुँचा तो सब कुछ उसकी कल्पना के विपरीत था। उसने जिस

स्वर्ग की कल्पना की थी, वास्तव में वह वैसा नहीं था। वहाँ उसका स्वागत करने के लिए बाँहें फैलाए कोई नहीं खड़ा था। बस, चारों ओर एक बड़ा मैदान था, जिस पर दूर–दूर तक सरसों के पौधे थे, जो हवा के झोंके से हिल रहे थे। ऐसा लग रहा था कि मानो वे उस पर हँस रहे हों। सचमुच दूरी ने मोर को धोखे में डाल दिया था। जिस युवती के प्रति वह इतना आकर्षित था, जिसकी कल्पना करके वह रोमांचित था, वह नाचती हुई युवती और कोई नहीं, हवा में लहराते–झूमते सरसों के पौधे थे।

अब रोने की बारी मोर की थी। 'आह! क्या किस्मत है?' मोर सोचने लगा। वह बहुत ही पछताया। उसे अपनी पत्नी सूरज के साथ बिताए पलों और सच्चे प्यार की याद आती। वह दुःख के सागर में डूब गया। वह पुनः अपनी पत्नी के पास जाना चाहता था। उसे पूरा विश्वास था कि जब वह वापिस जाएगा तो उसका पहले की तरह स्वागत होगा क्योंकि उसकी पत्नी उसे बहुत प्यार करती है।

उधर स्वर्ग से मोर की दयनीय दशा देखकर सूरज बहुत दुखी हुई और रो पड़ी। वह उसे स्वर्ग में वापिस लाना चाहती थी परंतु उसके बहाए आँसुओं ने मोर के पंखों को इतना भारी बना दिया कि वह उड़ कर स्वर्ग में नहीं जा सकता था। ईश्वर ने उसे और मोर को पति–पत्नी के रूप में स्वर्ग में जगह दी थी लेकिन मोर का मन दूसरी युवती के प्रति आकर्षित हो गया था। अतः मोर दूषित हृदय लिए स्वर्ग में वापिस नहीं आ सकता था। अपने किए गए अपराध के कारण उसे धरती पर ही रहना पड़ा।

कहते हैं कि मोर आज भी अपनी पत्नी के पास जाने की कोशिश कर रहा है। इसलिए हर सुबह जब धूप चमकती है, तो मोर बेचैन होकर इधर–उधर कूदता–फाँदता है। लाख प्रयत्न करने के बाद भी जमीन से कुछ फीट ही ऊपर उड़ पाता है। इस प्रकार यह धरती बेचैन मोर का घर बन गई और सच्चा प्रेम करने वाली उसकी पत्नी के बहाए आँसू उसके पंखों की सुंदरता बन गए। जो इस बात की याद दिलाते हैं कि मोर ने बाहरी आकर्षण के कारण सच्चे प्यार को ठोकर मार कर हमेशा के लिए सच्चा प्यार और स्वर्ग खो दिया। इसलिए सत्य ही कहा गया है कि दूर के ढोल सुहावने।

खासी आदिवासियों की इन लोककथाएँ एवं मिथकों में मानव–मन में उत्पन्न कई जिज्ञासाएँ हैं जिससे अनेक प्रश्न जन्म लेते हैं और इनके हल खोजते–खोजते कल्पना की भूमि निर्मित होती है और हम एक निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। जो इनकी कल्पनाशीलता एवं सहज जीवन–शैली को बताता है। खासी आदिवासी समाज में मानवीय मूल्यों के चिंतन को बहुत सहजता से व्याख्यायित किया गया है। यहाँ आदर्श की स्थापना हेतु ग्रंथों की रचना नहीं हुई न ही सूक्ति वाक्य लिखे गए हैं। ये प्रकृति के समान ही सरल हैं, अभिजात्य और चमत्कार से परे मानवीय संवेदनाओं से भरपूर हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यमाला : पूर्वोत्तर भारतीय साहित्य, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पृष्ठ–308

2. पूर्वोत्तर : आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथाएँ, संपादक–रमणिका गुप्ता, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, संपादकीय पृष्ठ संख्या 15

3. का – खासी में स्त्रीलिंग शब्द है, जो श्रीमती (आदर सूचक) की तरह प्रयोग होता है।

सहायक ग्रंथ

1. "द फिलॉसफी एंड एसेंस ऑफ नईम खासी" मिस्टर जे. केरसिंग तारियांग द्वारा : 2012, रे खासी एनरप्राइज, शिलांग।

2. "अराउंड द हार्ट खासी लेजेंड्स" किनफम सिंग नोंगकिनरिह द्वारा : पेंग्उइन बुक्स, 2007

3. खासी मिथ्स, लेजेंडस एंड फोक टेल्स : बिजोया सावियन : 2014, री खासी प्रेस। शिलांग : पृ. 101. 99.

4. मेघालय की लोक कथाएँ : अनिता पंडा : शब्द कलश, दिल्ली–2006

– के द्वारा एम के टेक, सैमसन कैफे, बावरी मैनसन, धानखेती, शिलांग, मेघालय–793001

❑❑❑

असम के असमिया आदिवासी समुदायों के सांस्कृतिक स्वरूप एवं उनके लोकगीत

जीतू कुमार गुप्ता

सारांश— लोकसाहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोकसाहित्य की एक अन्यतम श्रेणी है 'लोकसंस्कृति'। लोक और साहित्य के लिए मुख्यतः 'लोकसाहित्य' शब्द ही व्यावहारित होता है। लोक का अर्थ है, एक समाज में रह रहे साधारण लोग। साहित्य में लोक कहने से साधारणतः औपचारिक शिक्षा—दीक्षा से दूर अथवा अत्यंत सामान्य औपचारिक शिक्षा से शिक्षित शहरों से दूर परंपरागत संस्कार और रीति—रिवाज के माध्यम से जीवन निर्वाह करने वाले लोगों को ही इंगित किया जाता है। हालाँकि अब इस अवधारणा में परिवर्तन आ गया है। सामान्य जन से जुड़ा हुआ जो साहित्य है, उसे ही लोकसाहित्य कहा जाता है। लोकसाहित्य और लोकगीतों की यात्रा कब और कहाँ से आरंभ हुई यह कोई नहीं जानता। हम कह सकते हैं कि जब से मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ तब से लोकगीतों का उद्‌गम मान सकते है। इसमें वस्तुतः सभी वर्ग के लोग आते हैं जिसमें अनपढ, गवार और गाँव के ठेठ कहे जाने वाले लोगों को ले सकते हैं जिन्होंने कुछेक मात्रा में साहित्य को बचाकर रखा है और वे लोग ही इसको अच्छे से समझ सकते है।

लोकगीत अपने आप में अनोखी विधा है। जो पूर्ण स्वतंत्र है, जिसे चाहे जिस ढंग से गा ले, बजा ले, ये लोकगीत हमारे मानस हृदय पटल पर एक छवि अंकित कर जाते हैं। पिछले कुछ दशकों से हमारे लोकगीतों में भारी कमी देखने को मिलती है, जिसका मुख्य कारण नई पीढ़ी की अपनी नई संस्कृति के प्रति झुकाव है। आज की पीढ़ी अपनी धरती, देश की महक, गीत, धुन, से अलग होकर पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

बीज शब्द— लोकसंस्कृति, आदिवासी, गवार, ठेठ, प्रादुर्भाव, तन्मयता।

परिकल्पना— लोकगीत समाज की धरोहर ही नहीं लोकजीवन का दर्पण भी है। लोकसंस्कृति और लोकगीतों की प्रमुख विशेषता है उसमें निहित मिठास, छंद के स्थानों पर इसके लय में अद्‌भुत मिठास और संवेदना से भरा होता है, जिसे पढ़ने में जितना आनंद मिलता है उससे कहीं ज्यादा आनंद गायन में मिलता है। लोकगीतों के माध्यम से युवा पीढ़ी को अपनी संस्कृति समाज और अपनी धरोहर को बचाना, साथ ही भारतीय संस्कृति पर जो पाश्चात्य सभ्यता का आवरण चढ़ा है उसे हटा कर अपनी धरोहर को एक नई दिशा प्रदान करना एवं लोकगीतों के महत्व को बताते हुए उसकी विशेषताओं को दिखाना। जो लोकगीत गाँव के चौपाल एवं आँगन तक सीमित थे उन्हें शहर की युवा पीढ़ी तक पहुँचाना। वर्तमान समय में विभिन्न विश्वविद्‌यालयों में असमिया लोकसाहित्य और आदिवासियों पर संगोष्ठी, कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है। तथा उसके संवर्धन, संकलन और संरक्षण का कार्य चल रहा है। जिससे हमारी पुरातन असमिया संस्कृति और आदिवासी लोकगीतों को बचाया जा सके। वस्तुतः वर्तमान समय असमिया लोकधुनों पर आधारित अनेकों गीत फिल्मों में मिल रहे हैं, इसका प्रचार—प्रसार भिन्न—भिन्न

रूपों में सर्वत्र भारी मात्रा में हो रहा है। किंतु संकलन बहुतायत मात्रा में नहीं हो रहा है।

विस्तार– लोकसाहित्य लोकसमाज द्वारा निर्मित किया हुआ साहित्य होता है, जिसकी सृष्टि समाज के लोगों द्वारा ही होती है। लोकसाहित्य के जैसे ही लोकसमाज की प्रेम, रीति–नीति, सुख–दुख, आशा–निराशा प्रतिफलित होता है। पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों में सैकड़ों जनजातियाँ रहती हैं। सबकी भाषा–संस्कृति अलग–अलग है। भाषा की दृष्टि से तिब्बती–बर्मी भाषा बहुत ही विशाल है। भाषाई भूगोल परिपेक्ष्य में तिब्बती–बर्मी भाषा भारत और असम के लिए विशेष उल्लेखनीय शाखा है। यह भाषा परिवार और इसकी असंख्य भाषा भारत और असम के विभिन्न स्थानों तक फैली हुई है। तिब्बती–बर्मी शाखा के भीतर चार प्रधान उपशाखा हैं, जिसमें बोडो–नागा शाखा के भीतर देवरी, बोडो, राभा, दिमासा, बर्मन, तिवा, थेंगाल कछारी, गारो, हाजांग, मेस, टिपरा, कार्बी, मरान, काकबराक आदि हैं। जहाँ तक असम और असमिया समाज की बात है, यहाँ विभिन्न समय में असम आई हुई विभिन्न जनगोष्ठियों का प्रभाव देखा जाता रहा है। यह प्रभाव भाषा, पोशाक, रीति–रिवाज, उत्सव के नाम से परिलक्षित होता है अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि नेग्रिटो, ऑष्ट्रिक, द्रविड़, मंगोल आदि के साथ–साथ सभी जनजातीय संस्कृति के सम्मिश्रण से वृहद असमिया जाति का गठन हुआ है। असम में प्रचलित लोकसाहित्य की बात की जाए तो लिखित साहित्य के साथ–साथ लोकसाहित्य की भी यहाँ कमी नहीं है। इसमें सामान्य जनमानस के भावावेग, अनुभूति, सुख–दुःख के क्षण, विश्वास, परंपरा आदि संस्कृति का विविध पक्ष मुखर हो उठा है। हम असम की विभिन्न आदिवासी जनग़ोष्ठियों का परिचय तथा उनका उद्‌भव और विकास को भी समझने का प्रयास करेंगे।

राभा असम के निचले अंचल में निवास करते हैं इनकी लगभग आठ जनगोष्ठियाँ होती हैं। राभा लोकसाहित्य के अध्ययन में 'राभा' और 'राभामिस' अधिक मात्रा में प्रचलित हैं। राभा जनगोष्ठी को विभिन्न भेदों में विभक्त किया गया है। जैसे– कोच, दाहूरि, पाति, रंग्दानि, मायदरि वितलिया, टोटला और हाना आदि। इसके भीतर मुख्यतः इन तीनों– रंग्दानि, मायदरि और कोचा के भीतर भाषा–संस्कृति संरक्षित है। पाति, दाहरि, टोटला और हाना इन भेदों में राभा संस्कृति आंशिक रूप में देखने को मिल जाती है। वे लोग दैनंदिन जीवन में स्थानिया (नृगोष्ठीय) असमिया भाषा 'राभा–मिज' का प्रयोग करते हैं। जिसके कारण राभा लोकसाहित्य और राभामिज दोनों रूप देखने को मिलती है।[1]

लोकसंस्कृति के गवेषकों के अनुसार 'तिवा' भारतवर्ष के उत्तर–पूर्वांचल के चीन–तिब्बतीय भाषा गोष्ठी एवं तिब्बती भाषा परिवार से आते हैं। इस भाषा परिवार की एक अन्यतम शाखा है, असम बर्मी शाखा। इस शाखा के अंदर मंगोलिय गोष्ठी के भिन्न–भिन्न जनजातीय लोग हैं। तिवा बोडो भाषा परिवार का एक अन्यतम भेद है। बोडो भाषा परिवार में मूल से बारह भाषाओं को समाहित कर लिया गया है। जिसमें बोडो, मेछ, गारो, सोनोवाल, डिमासा, हाजंग, राभा, तिवा, चुतिया और मरान। भाषाविधों और गवेषकों के अनुसार ये उत्तर–पूर्वांचल के मंगोलिय चीनी–तिब्बती भाषा परिवार से आते हैं। संभवतः ईसा.पूर्व दो हजार वर्ष पूर्व भारत के उत्तरी–पूर्वी अंचल में अपना विस्तार किया। ये लोग बहमदेश के ईरावती नदी उपत्यका अंचल से होते हुए दक्षिण–पूर्वी रास्ते असम के पहाड़ी अंचल में रहने लगे तथा वर्तमान में गोवालपाडा, उत्तर–बंग, त्रिपुरा आदि में निवास स्थान बनाए हैं।

ईंडो–यूरोपिय भाषा परिवार के अंतर्गत आर्य भाषा के लोगों की संख्या अधिक है।

इसके बाद दूसरे स्थान पर चीनी–तिब्बती भाषा परिवार के लोग आते हैं। चीनी, तिब्बती, बर्मी शाखा के अंतर्गत असम–बर्मी उपशाखा में बोडो–नगा शाखा से बोडो भाषा का जन्म हुआ। असमिया और 'बोडो' दोनों ही अलग –अलग भाषा परिवार के होते हुए भी प्राचीनकाल से दोनों में सामंजस्य देखने को मिल जाता है। असम के कोकराझाड़ अंचल में बोडो भाषा मान्य भाषा के रूप व्यावहारित होती आ रही है। असमिया और बोडो भाषा में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक क्षेत्र में प्रायः कुछ समानता देखने को मिल जाती है। सन् 1900 ई. में अब्राहम 'ग्रीयर्सन' द्वारा लिखित– 'Linguistic survey of india' में असम के आर्य भाषा तथा उनके भिन्न भाषा समूह के विषय में संक्षिप्त विवरण मिलता है। पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी एशिया के एक विस्तृत भू–भाग में चीनी–तिब्बती भाषा परिवार का अधिक प्रचलन है।[2] तिब्बत–बर्मी भाषा को कुछ भाषा वैज्ञानिक चीन–तिब्बती भाषा परिवार का ही मानते हैं। कालक्रम में यह शाखा बह्मपुत्र के तीन भाग–तिब्बत, असम और बह्मदेश में बँट गया है। तिब्बत–बर्मी शाखा भारत और असम के भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

विभिन्न जनगोष्ठियों की असमिया जाति असम के विभिन्न प्रांतों में अपना निवास स्थान बनाए हुए है। जिनमें मुख्यतः हम देवरी, बोडो, राभा, दिमासा, बर्मन, तिवा, थेंगाल कछारी, गारो, हाजांग, मेस, टिपरा, कार्बी, मरान आदि के लोकगीतों पर चर्चा करेंगे। असमिया विद्वानों ने लोकगीतों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करने के प्रयास किए हैं– "सतेंद्रनाथ शर्मा ने लोकगीतों को तीन श्रेणीयों में बाँटा हैं" ।[3]

1. अनुष्ठानमूलकः बिहूगीत, आईनाम, वियानाम, इत्यादि।

2. आख्यानमूलकः मणिकुँवर गीत, शांति बरमाहिर गीत, वरफूकनर गीत इत्यादि।

3. विविध विषयकः निचूकनि गीत, गरखीया गीत, नावखेलोवा गीत इत्यादि।

क) बिहूगीत– बिहू असम का जातीय उत्सव है, इसके बिना असम की लोकसंस्कृति की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। बिहू तीन प्रकार के होते हैं, 1) रंगाली बिहू 2) माघ बिहू 3) कार्तिक बिहू। रंगाली बिहू के समय युवक–युवतियाँ ढोलक, पेंपा, मृदंग, बांसुरी आदि लेकर बिहू में गाते और नाचते हैं। बिहू कृषि प्रधान उत्सव है, जो प्रकृति के अलग–अलग रूप और उनके परिवर्त्तन को दर्शाता है। मूलतः इसे यौवन और प्रेम का गीत भी कह सकते हैं। असमिया के प्रसिद्ध लेखक 'सैयद अब्दुल मल्लिक' ने बिहूगीत को यौवन का गीत कहा था।

रंगाली बिहूगीत का एक उदाहरण–

दूरनिर पहारत कुलिए मातिले
मन मोर राई–जाई करे
रंगाली बिहूटि आहिले सेनाईटी [4]

अर्थात् दूर पहाडों से कोयल बोल रही है, जिसकी आवाज सुनकर मेरे मन में खुशी की हिलोर मार रही है, हे मेरे प्रिय रंगाली बिहू अब आ गया है।

ख) बियानाम (विवाह के गीत)– सोलह संस्कारों में विवाह एक सामाजिक अनुष्ठान है। विभिन्न धर्मों के विवाह गीत की तरह असमिया में भी विवाह गीत का प्रचलन रहा है। असमिया विवाह में गाए जाने वाले विवाह के गीत असमिया लोकसंस्कृति की मूल्यवान संपदा है। जो नारी ह्रदय के कोमल आवेग और मनोभावों को प्रकट करता है। जिसके द्वारा मन की कोमलता, आवेग, सौंदर्य प्रियता, स्पर्श कातरता के साथ–साथ मन के भावों का प्रकाश होता है। असमिया ग्राम्य समाज में विवाह गीत एक गुरुत्वपूर्ण अनुष्ठान है, जो प्रायः शहरों से विलुप्त होती जा रही है। असमिया विवाह तीन प्रकार के होते हैं– बरबिया, तोलनी बिया और वाही बिया। असम के गाँव अंचलों में विभिन्न विवाह

के गीत परंपरागत रूप से प्राचीनकाल से ही दादी, नानी के मुख से सुनने को मिल जाता है, दांपत्य जीवन का आदर्श, वर–वधू के रूप यौवन, विदाई के समय वधू का करुण विच्छेद गीत, नारी जीवन का आशा–आकांक्षा और विवाह घर का सुंदर चित्र विवाह गीतों में लक्ष्य किया जाता है। एक भाई का किस प्रकार अपनी बहन से शादी के बाद उसका संबंध टूट जाएगा। कन्या के विवाह के समय भाई को बहन के हाथ से खोई देने का नियम है। साथ ही खोई लेकर भाई से अपनी बहन का संबंध तोड़ कर विवाह बंधन में बँध जाती है, उसका एक उदाहरण–

आखोई तोला आखोई तोला
सेनेहरे भाई
आजिर परा तुमार बाईदेउर
संबंध चिंगी जाए। [5]

अर्थात् खोई उठाओ, खोई उठाओ प्रिय भाई आज से तुम्हारी बहन के साथ तुम्हारा संबंध टूट जाएगा।

ग) आईनाम(शीतला माता) – असमिया लोकविश्वास के अनुसार 'आईनाम' शीतला माता को मानते है, जिसे हम माता दाई, महारानी, वसंत, शीतला माई (chicken pox)के नाम से जानते हैं। आईनाम 'आई' मतलब 'माता' और 'नाम' अर्थात् गीत, भजन, कीर्तन। शीतला माता को शांत करने के लिए बुढ़ी दादी लोग 'आईनाम' गीत गाती हैं। असमिया समाज के साथ–साथ अन्य हिंदू धर्म में शीतला माता को मनाने के लिए गीत गाते हैं। जिनकी पूजा नीम के पत्ते और गुडहल के फूल से की जाती है, साथ ही घर के अन्य सदस्य बिना तेल और हल्दी के भोजन ग्रहण करते हैं। इस माता के कुछ लोग सात और कुछ लोग नौ रूप मानते हैं। लोक विश्वास के अनुसार शीतला माता को भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता है। उन्हें भगवती का भी एक रूप माना जाता है।

आईनाम गीत का एक उदाहरण–

आई भगवती चंडिका भवानी
दुर्गानाशिनी आई
चरनत धरि दासीये मातिसो
दिया पदतले ठाई। [६]

अर्थात् देवी की स्तुती करते हुए गीत गाती हैं कि आईए देवी भगवती, चंडिका भवानी, हे दुर्गानाशिनी माई आप आईए। आपके चरणों को पकड़कर आपकी दासी बुला रही है। अपने पैरो में मुझे अपना स्थान दीजिए।

घ) बुरंजीमूलक गीत (ऐतिहासिक)– किसी ऐतिहासिक घटना का चारित्रिक आधार बनाकर जो गीतों की रचना की जाती है, उसे 'बुरंजीमूलक' या 'मालिता गीत' भी कहा जाता है। इस प्रकार के गीतों में इतिहास की वास्तविकता के साथ–साथ काल्पनिकता का भी सहारा लेकर गीतों की रचना की जाती है। बुरंजीमूलक गीतों में बरफूकन के गीत, मणिराम दीवान के गीत, जयमती कुँवरी के गीत, गौरीनाथ सिंह के गीत आदि। बरफूकन के गीत में बदन बरफूकन और पूर्णानंद बुढ़ागोहाई के बीच झगड़े और असम आक्रमण का वर्णन किया गया है। मणिराम दीवान की मृत्यु का वर्णन भी गीतों में हुआ है। असम के बुरंजीमूलक लोकगीतों में 'जयमति कुँवरी' के लोकगीत अधिक जनप्रिय हैं। आहोम राजा चुलिकफा द्वारा उसके ऊपर किए क्रुर घटना का करुण वर्णन इन गीतों के माध्यम से किया गया है। इसके अलावा भी बहुत से ऐसे गीत गाए जाते हैं, जिसमें इतिहास का वर्णन है। असमिया लोकसमाज में ऐतिहासिक घटना और चरित्र को लेकर बहुत से लोकगीतों की रचना हुई है।

ऐतिहासिक चरित्र बुढ़ागोहाई से संबंधित एक उदाहरण–

सत्य द्वापर त्रेता कलि
तिनि चारियुग गोल।
असमर देशत देउता मंत्री नाईकिया
बुढ़ागोहाई अवतार हल। [७]

अर्थात् सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग तीनों–चारों युग चले गए। असम देश के पिता और मंत्री अब नहीं है। तब बुढ़ागोहाई अवतार लिए।

ङ.) किवदंती या जनश्रुतिमूलक – किवदंती या जनश्रुतिमूलक गीतों का आश्रय लेकर असमिया लोकसमाज जिन गीतों की रचना करता है इस प्रकार के गीतों को किवदंती या जनश्रुतिमूलक गीत कहा जाता है। इस प्रकार के गीतों को कुछ लोगों द्वारा सुने या कहे गए गीतों की परंपरा को लोग आगे बढ़ाते आ रहे हैं। असमिया जनश्रुतिमूलक गीतों में मणिकुँवर गीत, फुलकुँवर गीत, जनागाभरु गीत, कमलाकुँवरी गीत आदि। मणिकुँवर और फुलकुँवर के गीत अधिक प्रसिद्ध और आकर्षक हैं। फुलकुँवर, मणिकुँवर और जनागाभरू आख्यान आहोम युग के पहले का है ऐसा अनुमान लगाया जाता है। मणिकुँवर और फुलकुँवर के गीतों में पूर्ण रूप से आहोम परिवेश देखने को मिलता है।

फुलकुँवर के गीतों का एक उदाहरण–

काठर परवीघोड़ात उठी फुलकुँवरे
मारि चामतार चात
आकाशे–पाताले उरावत करिले
आलापत करिले बाट। [8]

अर्थात् फुलकुँवर काठ के घोड़े पर चढ़कर अपने पिता को खोजते हैं। वे काठ के घोड़े पर चढ़कर उसे कोड़े से मारते हैं। आकाश–पाताल में वे उड़ रहे हैं, और रास्ते में बात करते हुए जा रहे हैं। इस प्रकार की किवदंतियाँ राजा की प्रशंसा में लिखी जाने लगी।

निष्कर्ष– इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि असमिया लोकसाहित्य का मुख्य आधार है– 'लोकगीत'। लोकगीत शब्द 'लोक' और 'गीत' दो शब्दों से बना है। लोकगीत परंपरागत रूप से प्रचलित गीत को कह सकते हैं अर्थात् लोक तथा जनसाधारण के लिए, जनसाधारण द्वारा, उन लोगों के विषय को लेकर रचित गीत को लोकगीत कह सकते हैं। असम के असमिया समाज प्राचीन काल से लोकगीतों के माध्यम से ही अपने भावों का प्रकाश करते आ रहे हैं। असमिया लोकगीत का भंडार समृद्ध और वैचित्र्यमय है। अपनी सहज–सरल भाषा से मानव मन की भाषा के प्रकाश का एक माध्यम हैं ये लोकगीत। सरल विश्वास पर आधारित ये लोकगीत मौलिक भावावेग के प्रकाश से विद्यमान हैं। अतः हम कह सकते हैं कि असमिया आदिवासी लोकगीत लोक के भावों का प्रतिबिंब है। असमिया लोकसाहित्य में लोकगीत का एक अन्य स्थान है। जो अपनी धरोहर को एक ही माला में पिरो कर रखे हुए हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. उपेन राभा हाकाचाम, राभा लोकसाहित्यः इतिहास–परंपरा आरु प्रणाली बद्धकरण, पृ.–1, प्रथम प्रकाशन, जनवरी, 2012, ज्योति प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी।

2. जी.ए. ग्रियर्सन, लिंगविस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, वॉल–1 पार्ट, पेज–259 4th एडिशन पब्लिसड–बाइ एल पी डब्लू प्राइस्ड पब्लिकेशंस नई दिल्ली, फर्स्ट पब्लिस्ड इन कोलकाता, 1903

3. सतेंद्रनाथ शर्मा, असमिया साहित्यर समीक्षात्मक ईतिवृत, पृ.–19–20, अरुणोदय प्रेस, शिलपुखुरी, गुवाहाटी–3, नवम संस्करण, पुनः मुद्रण, अगस्त, सन्–2000

4. धीरेन दास, लोकसंस्कृति आरु लोकगीत, पृ.–130–131, चंद्र प्रकाशन, गुवाहाटी –1998

5. रीता डेका, निज डिमो, नगाँव, असम, पृ–22, नौगाँव बुक हाउस, प्रथम प्रकाशन –1973

6. लीला गोगोई, असमिया लोकसाहित्यर रूपरेखा, पृ–86, वनलता, डिब्रुगढ़–1, प्रथम प्रकाशन, जनवरी–2007

7. लीला गोगोई, असमिया लोकसाहित्यर रूपरेखा, पृ–83, वनलता, डिब्रुगढ़–1, प्रथम प्रकाशन, जनवरी–2007

8. भव प्रसाद चलिहा(संपादक), असमिया आख्यानगीत संग्रह, पृ.–283, गुवाहाटी–3.

– शोधार्थी, हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय, मो.गो.ई. हाईस्कूल के पास, होजाई, असम

❑❑❑

पूर्वोत्तर में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उत्स

डॉ. रघुनाथ पांडेय

बीजशब्द– पूर्वोत्तर, पौराणिक, संस्कृति, उत्स, प्राचीन, जनजातीय, आदिवासी।

प्रस्तावना– पूर्वोत्तर भारत अपनी विशाल पर्वत श्रृंखलाओं, दुर्गम उपत्यकाओं, सुरम्य घाटियों, सदाप्रवाही सरिताओं, हरीतिम वनों, मनोरम जलप्रपातों, सुदर्शन जल–जीवों, निश्ंचित वन–चरों और उन्मुक्त विहगों के साथ–साथ आठ बहनों की अटूट संगतियों, आदिवासी–गैर आदिवासी जनों के निश्छल व्यवहारों, पर्वों–त्योहारों, परंपरागत आयोजनों, सामुदायिक उत्सवों के नाते विशिष्टों में विशिष्ट रहा है। ईसाई सभ्यता के प्रभाव में आने के बावजूद पूर्वोत्तर भारत में प्राचीन तीर्थ, देवालय, पौराणिक स्थल, पुरा संस्कृति, परंपरागत प्रथाएँ, पांथिक मान्यताएँ अभी भी भारत की मुख्य धारा के साथ सांस्कृतिक एकत्व के सूत्र बने हुए हैं। मणिपुर हो या मेघालय, अरुणाचल हो या सिक्किम, मिजोरम हो या नागालैंड, त्रिपुरा हो अथवा असम पर्वतीय उपत्यकाओं से लेकर नदी–घाटियों तक स्थापित सिद्धपीठों–देवालयों, पौराणिक स्थलों, पुरा आख्यानों, परंपरागत प्रथाओं के रूप में विद्यमान सांस्कृतिक उत्स प्राचीन भारतीय संस्कृति के साथ एकात्मकता स्थापित किए हुए हैं। "यहाँ की संस्कृति भी नदी की गति की धारावाहिकता को लिए हुए हैं।"[1]

भौतिक सुविधाओं और संचार–साधनों के अभाव में राष्ट्र की मुख्यधारा से प्रच्छन्न हो जाने के नाते पूर्वोत्तर भारत की सम्यक् सांस्कृतिक विरासत की तरफ अब तक विद्वानों, शोधकर्ताओं और सांस्कृतिक–कर्मियों का ध्यान बहुत कम जा पाया है, जबकि, पूर्वोत्तर भारत के प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उत्स पर शोध कार्य किए जाने की महती आवश्यकता है। प्रस्तुत शोधालेख इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है।

मूल विषय

पुराकाल में समूचा पूर्वोत्तर असम के अंतर्गत ही आता था। इसका प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर था। इसकी राजधानी भी प्राग्ज्योतिषपुर नगर ही थी। देवी कामाख्या और नरकासुर प्रसंग से कामरूप–कामाख्या नाम चर्चित हो गया। "प्राचीन ग्रंथों में इस क्षेत्र का वर्णन है। पूर्वोत्तर भारत का उल्लेख महाभारत काल में भी मिलता है।"[2]

किरातार्जुनीयम् ग्रंथ में उल्लिखित किरात–अर्जुन युद्ध इसी से संबंधित हैं। महाभारत के विकट योद्धा राजा भगदत्त इसी क्षेत्र के थे। दार्जिलिंग के लेप्चा, उत्तर असम से अक्का, मिश्मी, अबोर, भीरी, मणिपुर–त्रिपुरा के क्षत्रिय अपने को किरातवंशी ही बताते हैं। पूर्वोत्तर के राज्यों में अनेक स्थल व घटनाएँ महाभारत युद्ध व पात्रों से जुड़ी हैं। कहा जा सकता है कि महाभारत केवल कुरुक्षेत्र से ही नहीं, पूर्वोत्तर से भी संबंधित है।

"पौराणिक दृष्टि से पूर्वोत्तर क्षेत्र का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। महाभारत में असम का उल्लेख प्राग्ज्योतिषपुर के रूप में मिलता है। कालिका पुराण में भी कामरूप–प्राग्ज्योतिषपुर का वर्णन है। यजुर्वेद में सर्वप्रथम किरात का उल्लेख किया गया है। इसके उपरांत अथर्ववेद, रामायण और महाभारत में भी उन मंगोल मूल की भारतीय जनजाति की चर्चा मिलती है, जो देश के उत्तर–पूर्वी क्षेत्र की पर्वत–घाटियों एवं कंदराओं में निवास करती हैं।"[3]

"ईसवी सन् 553–54 की एक शिलालिपि पाई गई है, जिसमें भास्कर वर्मा के पिता के परदादा के पिता महाभूत वर्मा को परम

भागवत की आख्या दी गई है। राजा बाण के हर्षचरित में सातवीं शताब्दी के भास्कर वर्मा को वैष्णव–वंशी कहकर उल्लेख किया गया है। गोलाघाट के देवपानी के पास पाई गई एक विष्णु मूर्ति नवीं शताब्दी की बताई गई है। वहीं, डिब्रूगढ़ के पास एक प्राचीन मंदिर में मिली विष्णु मूर्ति एकादश या द्वादश शताब्दी की मानी गई है। इन सबसे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि 9वीं या 10 वीं शताब्दी में असम में भगवान विष्णु के उपासक थे।"[4]

अहोम सभ्यता तेरहवीं शती में सुकाफा नाम के एक शानवेशी योद्धा ने ब्रह्मपुत्र घाटी में युद्धोपरांत खामजंग प्रांत की स्थापना की, जिसे अहोम राज्य कहा गया। इस वंश के राजा सुहुंग मुंग ने 15वीं शती में हिंदू धर्म को अंगीकार कर लिया। वीर लोकप्रिय अहोम राजा सुहुंग मुंग और सुसेंगफा (प्रताप सिंह) ने लंबे चले संघर्ष में मुगलों को बार–बार परास्त किया। पूर्वोत्तर में हिंदू धर्म और सनातन संस्कृति के प्रसार में अहोम राज्य और उसके राजाओं का महान योगदान है।

वैष्णव सत्र व नामघर– पूर्वोत्तर के वैष्णव आचार्य श्रीमंत शंकरदेव द्वारा स्थापित सत्रों के माध्यम से वहाँ हिंदू धर्म और वैष्णव मत का व्यापक प्रसार हुआ। सद्भाव, भ्रातृत्व में भी वृद्धि हुई है। श्रीमद्भागवत पुराण से प्रेरित शंकरदेव ने सत्र की स्थापना चारों तरफ से आवेष्ठित वृहत सभास्थल के रूप में किया। इसी में एक नामघर या कीर्तन कक्ष रहता है, जहाँ भगवन्नाम–स्मरण, प्रार्थना, कीर्तन, प्रवचन आदि होता है। इस परिसर में नामघर के अलावा मणिकूट, गर्भगृह, (भागवत पुराण रखने की जगह) हाटी (भक्त निवास) होता है। इन सत्रों में भजन के साथ नृत्य की विधा विकसित हुई है, जिसे सत्रीय नृत्य कहा जाता है। सत्रों के संचालन के लिए अधिकार (महंत), डेकाधिकार, भकत (भक्त) व शिष्य होते हैं। नामघर के पदाधिकारी नामधारिया, मेधी, बुजंदर, बिलोनिया कहे जाते हैं। असम के प्रत्येक गाँव में नामघर होते हैं, जहाँ सार्वजनिक बैठक, नाटक, सत्रीय नृत्य, भाओना नृत्य, कला–शिल्प प्रशिक्षण, प्रातः कालीन नामजप, कीर्तन, सांस्कृतिक क्रियाकलाप संपन्न होते हैं। "एकशरण परंपरा के अनुसार नामघर का उपयोग प्रार्थना–कक्षा के रूप में किया जाता है। ....इसमें पवित्र ग्रंथ को गुरु–आसन पर रखा जाता है।"[5]

वैष्णव मठ के माध्यम से पूर्वोत्तर में हिंदू धर्म के प्रचार में अविस्मरणीय योगदान देने वाले श्रीमंत शंकरदेव ने श्रीमद्भागवत गीता और रामायण का असमिया में अनुवाद कर मान्यता दिलाई। वरगीत, भाओना, अंकिया नाट (नृत्य नाटिका) की रचना और प्रस्तुति करके वैष्णव धर्म को जनमानस में स्थापित किया। शंकरदेव प्रणीत ब्रजावली में रचित वरगीत गाते हुए लोग वैष्णव भक्ति में रंग जाते हैं। आठ प्रमुख शास्त्रीय नृत्यों में से एक, सत्रीय नृत्य के माध्यम से श्रद्धालुओं को भारतीय पौराणिक गाथाओं से परिचित कराया जाता है। बरपेटा में विकसित शास्त्रीय नृत्य भोरताल में पौराणिक कथाओं की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। असम की लोककथाओं में अलौकिक घटनाओं का प्राधान्य होता है, जिसमें हिंदू मान्यताओं से मिलते–जुलते जादू–टोने, तंत्र–मंत्र, अध्यात्म का समावेश होता है।

पौराणिक सूत्र

कामरूप कामाख्या पीठ– असम के गुवाहाटी स्थित कामरूप कामाख्या मंदिर को भारत के सभी 51 शक्तिपीठों में सर्वाधिक श्रेष्ठता प्राप्त है। मान्यता है कि शिवजी का मोह–भंग करने के लिए भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र से सती के शरीर को क्रमशः 51 टुकड़ों में विभाजित कर दिया था। इस स्थल पर सती के शरीर का योनि भाग गिरा था। जिससे इसका नाम कामरूप–कामाख्या पड़ गया। देवी पर नरकासुर के काम–मोहित होने से भी इस नाम को बल मिला। यहाँ देवी का एकमात्र ऐसा स्वरूप है, जो प्रतिवर्ष मासिक धर्म–चक्र में आता है। मंदिर के पास अम्बूवासी पर्व में माता सती रजस्वला होती हैं। इस दौरान पूरी ब्रह्मपुत्र नदी आरक्त लाल हो जाती है।

तंत्र–साधना की इस सबसे विराट स्थली पर देशभर से तांत्रिक, साधक, अघोरी, भक्त नीलांचल पर्वत की कंदराओं में साधना करते हैं। यह मंदिर भारत को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधता है। "महान सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा प्रयागराज में स्थापित स्तंभ में उत्कीर्ण शिलालेख माँ कामाख्या की प्रमाणिकता को सिद्ध करता है।"[6]

त्रिपुरेश्वरी मंदिर– इक्यावन शक्ति पीठों में से एक त्रिपुरा का त्रिपुरेश्वरी मंदिर देशभर के श्रद्धालुओं के लिए पूज्य है। यहाँ भी सती का एक अंग गिरा था। 'कूर्म पीठ' नाम से अभिहित मंदिर कछुए की पीठ के आकार का बना है।

जयंतीश्वरी देवी मंदिर– मेघालय की जयंतिया पहाड़ी पर स्थित नरतियांग दुर्गा मंदिर भी इक्यावन शक्तिपीठों में गण्य है। महादेव के सती–मोह के दौरान भगवान विष्णु के हस्तक्षेप से माता सती की बाईं जाँघ इस नरतियाँग नाम स्थल पर गिर गई थी। स्थानीय जन इसे जयंतीश्वरी देवी नाम से पूजते हैं।

तामर माई मंदिर– अरुणाचल प्रदेश के लोहित जिले में स्थित तामर माई (ताम्रेश्वरी) मंदिर में भी शक्ति की उपासना उनके योनि रूप की होती है। यह मंदिर प्राचीन काल में ताँबे से निर्मित था। कुछ विद्वान इसका निर्माता चतिया नरेश को, तो कुछ विद्वान कुंडिल नगर के राजा भीष्मक को बताते हैं।

ब्रह्मकुंड/परशुराम कुंड– वैष्णव अवतार परशुराम का क्षेत्र दक्षिण भारत से पूर्वोत्तर तक व्याप्त रहा। पिता जमदग्नि के आदेश पर माता की हत्या करने के उपरांत परशुराम ने माँ के पुनर्जीवित होने और स्वयं के पाप– मुक्त होने का वरदान माँगा। प्रसन्न हुए पिता के बताने पर परशुराम ने आर्यावर्त के उत्तर–पूर्व में अरुणाचल प्रदेश के लोहित जनपद में वनक्षेत्र स्थित ब्रह्मकुंड में स्नान किया तो कुंड लोहित वर्णी (लाल) हो गया। परशुराम के विशेष प्रयत्न से ब्रह्म कुंड का संचित जल प्रवाहमान हो गया। यह जलधारा ही ब्रह्मपुत्र के रूप में भारत की सबसे बड़ी नदी बनी। ब्रह्मपुत्र का यह उद्गम कुंड हिंदुओं का महत्वपूर्ण तीर्थ है। परशुराम से जुड़कर इसका नाम परशुराम कुंड भी पड़ गया।

मालिनीथान– कुंडिल नगर की राजकुमारी रुक्मिणी का हरण कर द्वारिका पुरी जा रहे श्रीकृष्ण की शिव–पार्वती जी से भेट हुई। पार्वती ने आशीष–स्वरूप फूलों की माला गूँथकर रुक्मिणी को वरण करा दिया। इस अवसर पर मुस्कुराते हुए श्रीकृष्ण ने पार्वती जी को मालिनी कहकर संबोधित किया। पार्वती के मालिनी रूप से जुड़कर यह स्थान पवित्र मालिनीथान नाम से ख्यात हुआ। अरुणाचल प्रदेश के सियांग जिले में स्थित यह स्थान वैष्णव के साथ–साथ शैव और शाक्त संप्रदाय के लिए भी धार्मिक महत्व रखता है।

उमानंद– ब्रह्मपुत्र के टापू में मध्यांचल पर्वत पर स्थित उमानंद का दर्शन अपने आप में आनंददायी है। मान्यता है कि पर्वत पर तपोरत शिव की तपस्या को कामदेव ने अपने काम–वाण से भंग कर दिया था, फलस्वरूप रुष्ट हो शिव ने उसे भस्म कर दिया था। इस स्थान को भस्माचल द्वीप, उर्वशी द्वीप, मयूर द्वीप नाम से भी जानते हैं। यहाँ पर गौरी मंदिर, गणेश मंदिर, चलंतिका मंदिर, वैद्यनाथ मंदिर, चंद्रशेखर मंदिर भी हैं। यहाँ कालभैरव भी स्थापित हैं। इस नाते माँ कामाख्या के दर्शन के उपरांत शाक्त उपासक भी अनिवार्यतः यहाँ पधारते हैं। महाशिवरात्रि पर कई राज्यों के श्रद्धालु आते हैं।

कोटि–कोटेश्वर काल भैरव– उत्तरी त्रिपुरा के ऊनाकोटि पर्वतमाला पर कैलाशहर अनुमंडल में शिव–परिवार प्रतिमा रूप में विद्यमान हैं। इनमें शिव और गणेश के साथ–साथ नंदीश्वर भी विराजमान हैं। अगरतला में सुंदर स्थापत्य कला वाला जगन्नाथ मंदिर भी हिंदुओं को आकर्षित करता है।

वशिष्ठ आश्रम— गुवाहाटी के पास असम—मेघालय सीमा के करीब विद्यमान वशिष्ठ आश्रम के बारे में किंवदंती है कि एक बार असम में अकाल पड़ा था, तब रघुकुल के राजगुरु वशिष्ठ यहाँ पधारे हुए थे उन्होंने अपने तपोबल से यहाँ माँ गंगा का प्राकट्य कराकर स्वयं उनका वंदन किया। तब से इसका नाम वाशिष्ठी गंगा पड़ गया। यहाँ वाशिष्ठी गंगा की संध्या, ललिता और कांता तीन धाराएँ प्रवाहित होती हैं। अनेक किंवदंतियों वाला यह आश्रम अहोम राजाओं द्वारा बनवाया अंतिम मंदिर है, जो इस अंचल को गंगा और वशिष्ठ के माध्यम से भारत की मुख्य भूमि और मुख्यधारा से जोड़ता है।

शोणितपुर (तेजपुर)— यहाँ अग्निगढ़ नाम से बाणासुर का प्रसिद्ध किला है, जहाँ श्रीकृष्ण ने बाणासुर को परास्त कर उसकी पुत्री उषा और अपने पौत्र अनिरुद्ध का सूत्रबंधन करवाया था। पदम पुखुरी, महाभैरव मंदिर, हलेश्वर मंदिर यहाँ की सांस्कृतिक गरिमा में वृद्धि करते हैं।

माजुली द्वीप— श्रीमंत शंकरदेव की पुण्य भूमि होने के नाते यह द्वीप भी एक तीर्थ व सांस्कृतिक केंद्र बन गया है। गाँव—गाँव वैष्णव सत्रों और नामघरों की स्थापना कराकर पूर्वोत्तर में हिंदू धर्म को प्रतिष्ठित करने वाले श्रीमंत शंकरदेव की प्रेरणा से यहाँ संप्रति लगभग दो दर्जन वैष्णव सत्र संचालित हैं, जहाँ नामजप, कीर्तन, भजन, प्रवचन, रासलीला के साथ—साथ कई सांस्कृतिक— सामाजिक क्रियाकलाप भी होते रहते हैं।

शिव सागर— अहोम राज्य की राजधानी रहे इस जनपद में भारत के ऊँचे शिव मंदिरों में से एक शिव डोल स्थित है। इसी के करीब देवी डोल और विष्णु डोल मंदिर भी हैं, जो इसकी सांस्कृतिक विविधता प्रकट करते हैं। इसका प्राचीन नाम रंगपुर था।

सदिया— महाभारत काल में यह नगर कुंडिल नगर नाम से मशहूर था, जो रुक्मिणी से संबंधित था। यह स्थान श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम की नगरी के रूप में भी जाना जाता है।

बरपेटा— यह नगर वैष्णव संस्कृति का केंद्र है। यहाँ 15वीं शती में माधव देव ने वैष्णव मठ (सत्र) की स्थापना कराई थी, आजकल कई सत्र इस क्षेत्र में हिंदू संस्कृति का प्रसार कर रहे हैं। यहाँ डोल यात्रा (होली) बड़े उल्लास से मनाया जाता है।

नवग्रह मंदिर— गुवाहाटी के पूर्व

चित्रसाल पर्वत पर स्थित नवग्रह मंदिर प्राचीनकाल में ज्योतिष और खगोल विज्ञान के अध्ययन व शोध का बड़ा केंद्र रहा। गुवाहाटी का पुराना नाम प्राग्ज्योतिषपुर इसी मंदिर की देन है। यह मंदिर भारत की आध्यात्मिक विरासत का जीवंत प्रतीक है।

अभयापुरी— अभया माता मंदिर के नाम पर इस स्थान का नाम अभयापुरी पड़ा। अष्टधातु निर्मित देवी अभया का मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अश्व क्लान्ता— गुवाहाटी के निकट ब्रह्मपुत्र के तट पर ऐसा स्थान है, जो दो पुराण—पुरुषों से नाता रखता है। एक तरफ भगवान कृष्ण के अश्व के कलान्त हो जाने तथा दूसरी तरफ अर्जुन के विरुद्ध कौरवों के षड्यंत्र की किंवदंती के रूप में जाना जाता है। यहाँ एक वैष्णव मंदिर स्थित है।

अली पुखुरी— पूर्वोत्तर में वैष्णव पंथ के प्रचारक श्रीमंत शंकरदेव का जन्म—स्थान होने के कारण एक तीर्थ—सा बन चुका है। नगाँव जिले के बोरदोवा स्थान पर शंकरदेव द्वारा स्थापित सत्र (कीर्तन घर) भारत—प्रसिद्ध हैं। सत्र के निकट एक शिला पर श्रीमंत के चरण —चिह्न अंकित हैं, जिसे भक्त लोग पूज्य मानते हैं। यहाँ होली आदि हिंदू त्योहार और वैष्णव संतों की तिथियाँ धूमधाम से मनाई जाती हैं।

लेटेकु पुखुरी— "उत्तर लखीमपुर शहर से पंद्रह किलोमीटर दूर लेटेकु पुखुरी नामक स्थान है, जो प्रसिद्ध वैष्णव संत माधवदेव का जन्म—स्थान होने के कारण प्रसिद्ध है।"[7]

हाजो— गुवाहाटी से अति दूर हिंदू—बौद्ध मंदिरों के लिए यह स्थल जाना जाता है। हयग्रीव माधव मंदिर सबसे प्रसिद्ध है। इसमें भगवान विष्णु की प्रतिमा स्थापित है, जो ओड़िशा के भगवान जगन्नाथ से मिलती—जुलती है। मदन कामदेव में खजुराहो की तरह कामुक मूर्तियाँ दृष्टव्य हैं। पर्वत की चोटी पर प्रसिद्ध केदार मंदिर और पुरातात्विक संग्रहालय भी है।

काँचा काँति देवी मंदिर— सिलचर से सत्रह किमी दूर काँचा काँति देवी मंदिर एक बड़ा सिद्ध पीठ है, जिसका निर्माण कछारी समुदाय ने करवाया था।

मैबोंग— असम के उत्तरी कछार जिले का मुख्यालय है, जहाँ दो छत वाला अखंड रामचंडी मंदिर स्थित है। यहाँ अनेक मंदिरों, स्मारकों, शिलालेखों के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। हाफलौंग जिला संग्रहालय में मैबोंग से संबंधित शिलालेख और मूर्तियाँ संरक्षित हैं।

नलबाड़ी— असम के नलबाड़ी जिले का अतीत श्रीकृष्ण और जरासंध से संबंधित रहा है। महर्षि वशिष्ठ, अत्रि, कण्व जैसे ऋषियों ने इस स्थान को पवित्र मानकर विश्राम किया था। पांडव और कौरव भी दुर्योधन के विवाह के समय इस स्थल से होकर गुजरे थे। नलबाड़ी संस्कृत शिक्षा का एक महान केंद्र है। बिलेश्वर महादेव मंदिर जागृत स्थान है। महादेव नलबाड़ी हरि मंदिर पर होने वाली रासपूजा हिंदू श्रद्धालुओं की आस्था का केंद्र हैं।

जोगीघोपा— पंचरत्न — बोंनगाईगाँव जिले में ब्रह्मपुत्र के उत्तर व दक्षिण दोनो तटों पर आमने—सामने स्थित साधना — स्थली के रूप में प्रसिद्ध है, जहाँ चट्टानों में बनी गुफाओं में ऋषि—मुनि साधना करते थे। यहाँ कई पुरा अवशेष भी हैं।

दा परबतिया मंदिर— तेजपुर के पास छठी शती में निर्मित पर्वतीय शिव मंदिर था, जिसका अब ध्वंसावशेष मात्र रह गया है। मंदिर में पत्थर के दरवाजे पर गंगा और यमुना की छवि अंकित है। यह राष्ट्रीय महत्व के पुरातात्विक स्थल के रूप में संरक्षित है।

विश्वनाथ चारीयाली मंदिर—शोणितपुर जिले में बृद्धगंगा (बूढ़ीगंगा) और ब्रह्मपुत्र के संगम पर पाषाण निर्मित विश्वनाथ मंदिर का खंडहर मात्र विद्यमान है, जो गर्मियों में जलमग्न हो जाता है। यहाँ मेला लगता है।

डोबोका— मध्य असम के नगाँव जिले में इस छोटे से, किंतु विकसित शहर में प्राचीन हिंदू अवशेष अद्यतन विद्यमान हैं, जिसका जिक्र प्रयागराज स्थित समुद्रगुप्त के शिलालेख में हैं। इसे डबका, या डोबोखा भी कहा जाता है।

नगाँव— नगाँव जिले में नरोवा, सालावुर्ज सहित कई सत्र स्थापित हैं। कई प्राचीन—मंदिर भी हैं।

आस्था व प्रथागत एकसूत्रता— पूर्वोत्तर भारत में हिंदू मतावलंबियों की संख्या कुल आबादी की लगभग एक तिहाई ही रह गई है, कुछ राज्यों में तो यह 8-10% ही है। हिंदू धर्म की तीनों शाखाओं के अनुयायियों में शैव यहाँ अधिक है, शाक्त और वैष्णव अनुयायी भी काफी हैं। कुछ समुदायों में दो या तीनों शाखाओं के देवता पूज्य हैं। प्रायः सभी समुदाय प्रकृति—पूजा में विश्वास रखते हैं। ज्यादातर आदिवासी सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, जल, तारे, वन, पर्वत की उपासना करते हैं, तुलसी, पीपल या केला के प्रति पारंपरिक आस्था रखते हैं। अधिकांश समुदाय ब्रह्मवादी होकर भी हिंदू देवी—देवता, कुलदेवी— कुलदेवता को पूजते हैं।

अधिसंख्य आदिवासियों ने ईसाई धर्म को अंगीकार कर लिया है, फिर भी उनकी आस्था अपने मूल धर्म के रीति—रिवाजों, पद्धतियों के प्रति बरकरार है। वे हितकारी और अनिष्टकारी, दोनों प्रकार की दैवशक्तियों को पूजकर प्रसन्न करते हैं। "प्रत्येक जनजाति की अपनी अलग—अलग धार्मिक मान्यताएँ और लोक—विश्वास हैं। पारंपरिक रीति—रिवाजों, नृत्य—संगीत के द्वारा धार्मिक उत्सवों एवं त्योहारों का आयोजन किया जाता है।"[8] इसके

बावजूद अलग–अलग जनजातीय समुदाय अलग–अलग स्वरूपों में हिंदू विधानानुसार स्वर्ग और नरक की उपस्थिति स्वीकार करते हैं। विविध लोकसंस्कार हिंदू प्रथाओं से मिलते–जुलते हैं। कई जनजातियों में विवाह के देवता शिव, पार्वती ही होते हैं। ज्यादातर जनजातियों में शव का अग्निदाह किया जाने लगा है। अंत्येष्टि के दिन पूरे गाँव में चूल्हा नहीं जलता है। तेरह दिनों तक अशौच रहता है। 13वें दिन अंतिम श्राद्ध भी अधिकांशतः हिंदू प्रथा के अनुसार ही संपन्न कराए जाते हैं। कुछ समुदायों में हिंदुओं की तरह मुंडन और जन्मोत्सव भी होता है।

निष्कर्ष— पूर्वात्तर भारत की सांस्कृतिक विरासत बहुत समृद्ध है। इसकी गौरवशाली सभ्यता–संस्कृति, इसकी प्रथाएँ मुख्य भूमि जितनी ही प्राचीन हैं। भारत की मुख्य भूमि की भाँति ही पूर्वोत्तर भारत की अनगढ़ धरती पर भी आदिकालीन रीति–रिवाज और वैदिक कालीन सभ्यता के सूत्र विद्यमान हैं। वाराहावतार से संबंधित किंवदंतियाँ संपूर्ण भारत के साथ पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक एकात्मकता का स्वयं साक्ष्य हैं। भारतीय संस्कृति एकात्मकता के अनेकानेक स्रोत तो मिट चुके हैं फिर भी अवशेषांश एकसूत्रता प्रमाणित करने में आज भी सक्षम है। पूर्वोत्तर में भारतीय संस्कृति के स्रोतों पर जितना अधिक शोधकार्य होगा, वहाँ विद्यमान पुरासांस्कृतिक उत्स ज्यादा सघनता, ज्यादा व्यापकता, ज्यादा प्रामाणिकता पूर्वक प्रत्यक्ष होंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. असमर संस्कृतिः डॉ. लीला गोगोई, वनलता प्रकाशन– 2012, पृष्ठ–06

2. पूर्वोत्तर साहित्य और लोकजीवन– 2021 : डॉ. रघुनाथ पांडेय/ डॉ. दिलीप अवस्थी : एबीएस पब्लिकेशन

3. मेघालय लोकजीवन और संस्कृति : डॉ. वीरेंद्र परमाद, हिंदी बुक सेंटर, 2021, पृष्ठ–07

4. महापुरुष श्रीशंकरदेव : भूपेंद्र कुमार वर्मा, अनुवाद–सविता जोशी, 2021, पृष्ठ–08

5. असम लोकजीवन और संस्कृति : डॉ. वीरेंद्र परमार, हिंदी बुक सेंटर, 2021, पृष्ठ–51–52

6. पूर्वोत्तर भारत और हिंदी : डॉ. रघुनाथ पांडेय/डॉ. दिलीप अवस्थी, निखिल प्रकाशन आगरा, 2019

7. असमः लोकजीवन और संस्कृतिः डॉ. वीरेंद्र परमार, हिंदी बुक सेंटर, 2021 पृ. सं. –138

8. पूर्वोत्तर भारत और हिंदी : डॉ. रघुनाथ पांडेय/डॉ. दिलीप अवस्थी, निखिल प्रकाशन, आगरा–2019

– 753 सिविल लाइंस गोंडा, उत्तर प्रदेश–271001

❑❑❑

बोकार लोकगीतों में अभिव्यक्त धार्मिक मान्यताएँ

पासांग रुकू

लोकसाहित्य लोकसंस्कृति का वास्तविक प्रतिबिंब होता है। लोकसंस्कृति लोक की संपूर्णता को दर्शाने वाला विधान है। लोकसंस्कृति के अंतर्गत केवल लोकवार्ता ही नहीं बल्कि, लोक की जीवनशैली, आचार–विचार, परंपराओं तथा उसके जीवन से जुड़े सभी पहलुओं की झलक मिलती है इसलिए इसे लोक के जीवन का व्यक्त–अव्यक्त वाङ्मय कहा जा सकता है।

भारत बहुसंस्कृति संपन्न देश है, इसके प्रत्येक राज्य के अपने अलग–अलग रीति–रिवाज, परंपराएँ और लोक मान्यताएँ आदि होती हैं जिससे उनकी पहचान होती है। विश्व के प्रत्येक जनजातियों की लोक मान्यताएँ या लोकविश्वास अनुसार उनके अनेक देवी–देवताएँ एवं आत्माएँ हैं जो सर्वव्याप्त होते हैं जैसे– जंगल, नदी, पेड़, पहाड़ आदि के मालिक माने जाते हैं।

अरुणाचल प्रदेश भारत के पूर्वोत्तर में स्थित एक विशेष राज्य है। यहाँ मुख्य रूप से सत्ताईस जनजातियाँ निवास करती हैं और इनकी सौ से अधिक उप–जनजातियाँ हैं। इस राज्य में लगभग एक सौ पाँच से अधिक बोलियाँ बोली जाती हैं और सभी जनजाति एवं उप–जनजातियों के अलग–अलग पारंपरिक, रीति–रिवाज एवं मान्यतएँ हैं। इनमें से पाँच जनजातियाँ ऐसी हैं जिनकी समाज व्यवस्था, पारंपरिक पूजा पद्धति, सांस्कृतिक मूल्य आदि एक दूसरे से मिलते–जुलते हैं। आदी, गालो, निशि, तागीन एवं आपातानी एक दूसरे के पूरक हैं। ये जनजातियाँ आबो तानी (सृष्टि का पहला मानव) को अपना पूर्वज मानती हैं।

बोकार समुदाय 'आदी' जनजाति के अंतर्गत आती है। भौगोलिक दृष्टि से देखा जाए तो यह समुदाय अरुणाचल के सबसे ऊपरी क्षेत्र तिब्बत से सटी 'मैक मोहन' सीमा के पास में निवास करती है। अपनी पारंपरिक वेशभूषा, खान–पान आदि के कारण इनकी अपनी विशिष्ट पहचान है। बोकार जनजाति 'आ न दोङन्यी' (सूर्य माता) और 'आबो पोङलो' चंद्र पिता को अपना परम देवी–देवता एवं आराध्य मानती है। सूर्य और चंद्र से अच्छे स्वस्थ्य एवं घर परिवार के सुखद जीवन की कामनाओं का वर्णन बोकार लोकगीतों में इस प्रकार किया गया है–

दोङन्यी मिकमिः ह चरी याङ तो का
पोङलो मिगो ह चोरो याङतो का
मिजिक तुरदु ह तुरलोङ यीका
बरी दालङ ह दालोङ यीका
बेनगो आली ह लीलेन लोङ यीका
मिःङगो आगेत ह गेतलेन लोङ यीका
बिःदुम तुममो ह तुममाङ मोमोङ बो
बबाक तुममो ह तुममाङ मोमोङ बो
दोङन्यी मिकमिः ह चरी याङतो का
पोङलो मिगो ह चोरो याङतो का
सिङदुम चाङ य मे
सिङदुम पाबू ह कोरपू मोमोङ बो
लोङयीःङ तोक य मे
लोङयीःङ ता ह कोरपे मोमोङ बो
दोङन्यी तुरदु ह तुरलोङ यीका
पोङलो दालोङ ह दालोङ यीका
बेनगो बेन य मे
बेनमुर मोमोङ बो
बेनगो सआङ ह गोगताङ मेन ग का
मिःङगो मिःङ य मे
मिःङमुर मोमोङ बो
मिःङगो सआङ ह गोगताङ मेन ग का
दोङन्यी मिकमिः ह चरी याङतो का
पोङलो मिगो ह चोरो याङतो का

अनुवाद : 'दोङन्यी मिकमिः' (सूर्य देवी की कृपा दृष्टि) हम पर सदा बनी रहे

पोङलो मिगो' (चंद्र देवता की कृपा दृष्टि)

हम पर सदा बनी रहे
मन में सुविचार और ओंठ से अच्छी बातें बोलने का ज्ञान देना
सही राह पर चलने की दिशा दिखाना
जीवन की राह पर भटकने ना देना
राह में जितने भी काँटें आएँ उन्हें अपनी शक्ति से हटा देना
सीधी और सहज ज़िंदगी जीने की राह दिखाना

बोकार समुदाय में किसी एक देवता की पूजा और अर्चना करने की परंपरा नहीं है। इस समुदाय की मान्यता है कि प्रकृति के विविध रूपों में उनके देवी–देवता बसे हैं। इसलिए यह समुदाय आवश्यकतानुसार नदी, जंगल, पहाड़ और बादल आदि के मालिक की पूजा करते हैं। 'दोङन्यी– पोङलो' (सूर्य और चंद्र) के आधीन अनेक देवी– देवता रहते हैं जैसे– अन्न का देवता, घर का देवता, पशु–पक्षियों का देवता, पहाड़ों का देवता, तथा नदी और जंगलों के देवता आदि। बोकार लोगों की मान्यता के अनुसार इस समुदाय में परम और सर्वोच्चकोटि की श्रेणी में आने वाले देवी–देवता दोङन्यी –पोङलो को बलि चढ़ने की प्रथा नहीं है किंतु उनके आधीन आने वाले जितने भी देवता होते हैं उनके लिए कई प्रकार की पूजा पद्धति होती है एवं बलि दी जाने की वेदी भी। बोकार लोकगीतों में इन देवी–देवताओं का वर्णन अलग– अलग रूप में किया गया है। जैसे– इस समुदाय के लोग शिकार के लिए जब निकलते हैं, उससे पहले अपना अभिषेक करते हैं। इसके लिए कभी–कभी मुर्गी के अंडे को उबालकर उसके पीले हिस्से को निकालकर चबाते हैं और मंत्रोच्चारण करते हैं। चबाए गए अंडे को निकालकर देखते हैं कि शिकार के लिए जाना अनुकूल है या नहीं। यदि जंगल में जाने का समय अनुकूल दिखता है तो अपना अभिषेक करके जाते हैं नहीं तो जंगल के देवता की पूजा करते हैं और उसे पशु बलि भी देते हैं। तब जंगल जाते हैं। मंत्रोच्चारण स्वयं शिकारी के द्वारा किया जाता है आवश्यकतानुसार 'मिजिक' (पुरोहित) को बुलाकर उसके द्वारा भी किया जाता है। बोकार जनजाति की मान्यता है कि, 'मिजिक' (पुरोहित) इनसान और आत्मा चाहे अच्छी हो या बुरी दोनों का संवाहक है। यह वंशगत नहीं है बल्कि उसमें केवल असामान्य गुण विद्यमान होते हैं। पुजारी दो प्रकार के होते हैं– 1. 'न्यूबू', गाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने वाला और 2. 'मिजिक', मंत्रोच्चारण के साथ–साथ गाकर प्रदर्शन करता है। गीत इस प्रकार है–

मिजिक दिन ब गो देनोङ दाना
बरी सोकोङ गो कोङओङ दाना
दोङजाङ आ न नो दोङजाङ ञ म गो
मूङ न योका
याङपोम आबो नो याङपोम मेलो गो
ङ न योका
ङ दाङसिःङ आतो गो तोबी राम क
ङ पुलिःङ आतो गो तोबी राम क
ङ मिजिक दिन ब दे दिन न्यूम गो क
ङ बरी सोकोङ दे कोङन्यूम गो क
दोङजाङ न त नोम दोङजाङ ङओयी गा
ङनाम हम याङपोम न त नो याङपोम
ङओयी गा ङनाम हम मिजिक पिःङलिःङ
सी बिःबी पा क
कुरुङ मे कुरुङ पिःङलिःङ ह बिःबी पा क
बेनसिःङ यालीःङ मे बेनसिःङ पिःङलिङ ह
बिःबी पा क
ओमदाङ यान्याङ मे ओमदाङ पिःङलिःङ ह
बिःबी पा क
पुलिःङ गा गुरदूङ ह कीःतुङ सोलो
ओमो सूयीःङ ह जिङ जिङ बी पा
पेमु सूयीःङ ह जिङ जिङ बी य कु
पिःपिः सूयीःङ ह जिङ जिङ बी य कु
जाकीः यीःङदीःङ ह सुन्यी मो य कु
जादो यीःङदीःङ ह सुन्यी मो य कु
कोमबो ञ म ह मूङ न मोयो तो
सारबो मेलो ह ङ न मोयो तो

अनुवादः 'दोङजङ आ न' (बारिश, बादल, और हवा की देवी)
'याङपोम आबो' (जंगल का देवता)
हम अपनी जरूरतों को तुम्हारे समक्ष रखते हैं
हमारी जरूरत शिकार करना है
हमारा उद्‌देश्य पैड़ –पौधों और पत्थर आदि को हानि पहुँचाना नहीं है
फिर भी अगर शिकार करते समय भूल से हानि पहुँची
तो माफ कर देना और बदले में 'पिःपिः' (कच्चे अंडे), 'ओमो'
(चावल) आदि इस केले के पत्ते में रख दिए है इन्हें ले लो
और जंगल के बाकी रक्षकों जैसे ककोमबो, सारबो आदि के प्रकोप से भी हमें बचाना

किसी जंगली जानवर जैसे हिरण, गाय और सूअर आदि के शिकार के बाद उसके मांस को घर ले जाने से पहले शिकार के स्थल का मंत्रोच्चारण करके अभिषेक किया जाता है जो इस समुदाय में 'सोये हेनाम' (शिकार के स्थान का अभिषेक) कहा जाता है। जिस गुफा में रहकर शिकारी शिकार करता है उस गुफा से घर लौटने के समय भी मंत्रोच्चारण करके अपनी आत्मा को अपने साथ चलने के लिए बुलाया जाता है। बोकार जनजाति की मान्यता है कि यदि ऐसा नहीं करते हैं तो शिकारी की आत्मा जंगलों में भटकती रहती है। शिकारी के घर लौटने के बाद भी पूजा की कई प्रक्रियाएँ पूरी की जाती हैं। जंगल से लौटे जाने के अगले दिन, शिकारी के घर में एक सांस्कृतिक पूजा का अनुष्ठान रखा जाता है जिन्हें 'पोमबीरू बिःनाम' कहा जाता है। के. कुमार ने भी अपने पुस्तक 'द बोरिज' में इसके बारे में लिखा है।

इस दिन गाँव वाले को बुलाकर 'बेनबो इदिन' (जंगली जानवरों के मांस) को बाँट दिया जाता है और 'ओ' 'आकके' (मदिरा और खाना) खिलाया जाता है। इसके ठीक अगले दिन गाँव वालों की ओर से आशीर्वाद के तौर पर शिकारी को उसी के घर में मदिरा एवं खाना खिलाया जाता है। इस बीच शिकारी अपनी वीरता को बताते हुए लोकगीत गाता है कि किस तरह उसने अपने शिकार को चालाकी से फँसाया और गाँव वाले भी गीत गाते हुए आशीर्वाद देते हैं। यह प्रक्रिया तीन दिन तक चलती है। प्रस्तुत गीत इस प्रकार है–

मिजिक दीबाङ दे चाङओङ यनाम ह
तुङसी दीबाङ दे चाङओङ यनाम ह
मिजिक दीरूम दे पसूम लेनतो
मितमीः दीरूम दे पसूम लेनतो
मिगो दीरूम दे पसूम लेनतो
सिःनिःङ दीरूम मे पसूम लेनतो
देयाङ दुदुर गा दुरमोङ दाबो
हीरोम की ल मे बिःमेन लेनतो
दाङसिःङ सिःङतिःर ह तिःरमोङ दाबो
तुमरो की ल मे बिःमेन लेनतो
चागुम–चागुम लोङ, तुङसी दीबाङ ह चाङमेन लेनतो
चागा–चागा लोङ, राङयी रोराङ ह ओङमेन लेनतो
सिःनिःङ की ल हम बिःमेन लेनतो
समेन की ल हम बिःमेन लेनतो
सिःनिःङ लुङदित हम दितमेन लेनतो
समेन लुङदित हम दितमेन लेनतो
आ न दीको मे, दिनलुम होरयीःङ ह होरमेन लेनतो
आबो सोको मे, दिनलुम होरयीःङ ह होरमेन लेनतो

अनुवादः 'मिजिक' (मैंने) जंगल जाकर शिकार किया
मेरी बहादुरी को तो देखो,
मैंने अपना 'सिःनिःङ –समेन' (शिकार) को मिट्टी में झुककर घास खाने से पहले
'दीरूम पाससुम' (चालाकी) से
मार गिराया है
आँधी– तूफ़ानों से डरा नहीं मैं
'आ न दीको' (गाँव वालों) को 'दिनलुम होरईःङ' (मांस)

लाकर खिला दिया है
मिजिक कोमजिःङ ह राई नो देन ह
बरी कोमजिःङ ह राई नो देन ह
तुङसी दीबाङ गो होङबी लोङ निःङ
राङयी दीबाङ गो चाङबी लोङ निःङ
सिःनिःङ की ल गो बिःबी लोङ निःङ
समेन की ल गो बिःबी लोङ निःङ
आ न दीको मे, सिःनिःङ मेनदिन गो
पायीन बी पा क
समेन मेनदिन गो, पायीन बी पा क
दीको ताउक सिन हुक्कुम बी पा क
सोको ताकाङ सिन काङकुम बी पा क
तिःङतुङ ताउक ह हुक्कुम बी पा क
दोङओङ ताकाङ ह काङकुम बी पा क
मिजिक तिःङसिःङ ह पिःङयीःङ मो द बो
बरी तिःङसिःङ ह पिःङयीःङ मो द बो
काजो मे सिन, सिःनिःङ नओर ह
होरमेन मो द बो
समेन नओर ह होरमेन मो द बो
दिनलुम नओर ह होरमेन मो द बो
मिजिक तिःङसिःङ ह पिःङयीःङ लोङका
बरी तिःङसिःङ ह सिःङयूङ लोङका
अनुवादः 'मिजिक कोमजीःङ राई' (हमारे वीर शिकारी) ने
हमें 'तुङसी राङयीःङ' (जंगल) जाकर
'सिःनिःङ –समेन' (जंगली जानवरों) के
'दिनलुम नओर' (मांस) ला दिया है
'आ न दीको' (गाँव वालों) आओ
सब मिलकर हमारे बहादुर शिकारी के लिए
'दीको ताउक' (खाने–पीने) की व्यवस्था करते हैं
मांस के बदले 'तिःङतुङ – दोङओङ ताउक' (मदिरा और खाना)
खिलाते हैं,
ताकि आने वाले दिनों में भी,
शिकार करके हमारे लिए मांस ला सके
'मिजिक तिःङसिःङ' (शिकारी) 'सीःङयुङ' (लंबी उम्र)
की कामना करते हैं

इस समुदाय के लोग पशु–पक्षियों का शिकार एवं मछलियाँ पकड़कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, किंतु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल इन्हीं साधनों पर निर्भर नहीं करते हैं।

बोकार लोगों के लोकविश्वास के अनुसार दो प्रकार के आत्माएँ और देवी–देवता होते हैं– 1. सद्भावपूर्ण या अच्छी आत्मा 2. दुर्भावपूर्ण या अनिष्ट आत्मा। सद्भावपूर्ण आत्मा इनसान के पक्ष में कार्य करती है तथा बुरी आत्माओं से बचाव का कार्य भी करती है। जबकि दुर्भावपूर्ण आत्मा हमेशा इनसान को हानि पहुँचाने की कोशिश में लगी रहती है।

बोकार लोकगीतों में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के बाद उसके शव को दफन करने की क्रिया में शामिल होने के बाद घर लौटने के समय रास्ते में खुदको पवित्र करने की अभिव्यक्ति मिलती है। घर पहुँच जाने के बाद भी 'मिजिक' (पुजारी) पुजारी को बुलाकर 'दुमयक यकनाम' नामक एक सामूहिक पूजा की जाती है। जिसमें 'मिजिक' मंत्र या गीत गाकर उस व्यक्ति की जीवित आत्मा को वापस घर बुलाता है। युद्ध में मारा गया हो और पहाड़ से गिरकर मृत्यु हुई हो, या हत्या की गई हो और उसके अंतिम संस्कार में शामिल होते है तो इन सब की अलग–अलग पूजा की जाती है गीत इस प्रकार है–

लोबो......
मिजिक यूङसी गा जिको लो देन ह
मिजिक पुलुम ह जुमतो कुनिःङ
निःङसिःङ पुलुम ह जुमतो कुनिःङ
मोङयाङ पुलुम ह जुमतो कुनिःङ
निःङसिःङ पुलुम ह जुमको लादेन ह
मोङयाङ पुलुम ह जुमको लादेन ह
मिजिक यजि ह गिःदीःर मोङबो
बरी यालो ह गबार मोङबो
यजि दुदुङ ह गुलुङ तोकु का
यालो दुदुङ ह गुलुङ तोकु का
आ न ग न्योदङ पापङ सी देन ह
यजि तोगो ह तोयाङ दाकू क
यालो तोगो ह तोयाङ दाकू क

पेनची तोगो ह तोयाङ दाकू क
पेन त तोगो ह तोयाङ दाकू क
नआङ तोगो ह तोयाङ दाकू क
पाङबो तोगो ह तोयाङ दाकू क
न्यीनदुम तोगो ह तोयाङ दाकू क
बो त तोगो ह तोयाङ दाकू क
आरूम तोगो ह तोयाङ दाकू क
आयोर तोगो ह तोयाङ दाकू क
गुङ त तोगो ह तोयाङ दाकू क
गाम त तोगो ह तोयाङ दाकू क
यजि यकयी:ङ ह यकपुम यकु ना
यालो यकयी:ङ ह यकपुम यकु ना
केनदो यकयी:ङ नि:ङ यकपुम यकु ना

भावार्थ– 'लोबो'.... (वापस आ जाओ) हम मृतक के अंतिम संस्कार में शामिल हुए हैं हमारी आत्माएँ, वापस आ जाओ यहाँ घर में 'न्यीनदुम– बो त' (माता–पिता), 'नआङ–पाङबो' (चाचा–चाच) और 'आरूम–आयोर' (सारे रिश्तेदार) इंतज़ार कर रहें हैं घर वापस आ जाओ।

अन्य लोकमान्यताएँ– बोकार जनजाति की मान्यता है कि घर में जब साँप आकर रहता है तो इसे अशुभ का संकेत माना जाता है और इसे उयू (अनिष्ट देवता)ने भेजा है। ऐसा माना जाता कि यदि किसी के घर में साँप आकर रह रहा है तो उसके घर–परिवार में अनिष्ट घटना घटने वाली होती है या तो परिवार के किसी सदस्य की आकस्मिक मृत्यु होने की संभावना बनी रहती है। घर में साँप के आने का कारण पता करने के लिए 'मिजिक' (पुरोहित) को बुलाया जाता है और मिलिक मंत्रोच्चारण करके चूजे को काटकर उसके कलेजे को निकालकर देखते है और घर में साँप आने के कारण का पता लगाते हैं। ऐसी दुर्घटना से बचने के लिए 'उयू' (अनिष्ट देवता) की पूजा की जाती है। पुरोहित चूजे के कलेजे से पता लगाता है कि उयू देवता को क्या चाहिए। उयू की कई पशुओं की बलि की माँगें होती हैं जैसे बकरी या बकरा, सूअर में नर या मादा, गाय या बछड़ा आदि। पुरोहित मंत्रोच्चारण के द्वारा उयू से वार्तालाप करते है फिर चूजे को काटते है और उसके कलेजे देखते है। जब तक उयू मान नहीं जाता है तब तक यह प्रक्रिया चलता रहता है।

उयू को मनवाने के पश्चात् साँप अपने आप चला जाता है। उसके बाद उयू के दिए गए उचित समय में उसकी माँग के अनुसार पशुओं की बलि दे दी जाती है।

उल्लू का बोलना इस समुदाय में बहुत अशुभ माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि उल्लू के बोलने या चिल्लाने के समय किसी व्यक्ति ने देख लिया तो उसके ही परिवार कि किसी सदस्य का या गाँव के किसी व्यक्ति का खुद को फाँसी लगाने का संकेत है। जो खुद को फाँसी लगाते हैं उस व्यक्ति को 'ताङपु' (उल्लू) का ही नाम दे दिया जाता है। दुर्घटनाओं या अनहोनी से बचने के लिए मीजिक को बुलाकर चूजे काटकर अभिषेक किया जाता है।

जंगल में आदमी या शिकारी को देखकर बाघ का पीछा करना; शिकारी या किसी सामान्य व्यक्ति को जंगल में बाघ का पीछा करना किसी अनहोनी दुर्घटना का संकेत माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसा करने से गाँव के या घर के किसी सदस्य की मृत्यु होने वाली है। इस समुदाय का मानना है कि बाघ में सूँघने की इतनी शक्ति होती है कि उसे पहले से ही पता लग जाता है कि वह व्यक्ति किसी के अंतिम संस्कार में शामिल होने वाला है। इस समुदाय के लोगों की यह भी मान्यता है कि जब घर के पुरुष शिकार के लिए जाते हैं तब घर में झाड़ू नहीं लगाना चाहिए। इस मान्यता का पालन नहीं करने से भी दुर्घटना घटित होती है। ऐसा माना जाता है।

रात को चूहों का रोना भी अशुभ का संकेत माना जाता है। ऐसा माना जाता है रात को चूहों का रोना किसी अपनों कि आत्मा का रोना है। चूहों के रोने से घर के सदस्य में से किसी की मृत्यु होने वाली है। इसके लिए भी अनहोनी दुर्घटना से परिवार को बचाने के

लिए अनिष्ट देवता की पूजा की जाती है। इसके अलावा और भी लोकमान्यताएँ हैं जिसका जिक्र करना सामान्य रूप से निषिद्ध है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लोकसाहित्य की भूमिका, उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, साहित्य भवन पब्लिकेशन इलाहाबाद, 1957
2. लोकसाहित्य की रूपरेखा, उपाध्याय, डॉ.कृष्णदेव, लोकगीत प्रकाशन इलाहाबाद, 2009
3. लोकसाहित्य विज्ञान, सत्येंद्र, डॉ. राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006
4. लोकसाहित्य अर्थ और व्याप्ति, गौतम, डॉ. सुरेश, संचय प्रकाशन, दिल्ली
5. गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, बबुलकर मोहनलाल, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1964
6. लोकसाहित्य में लोरी, बधान, डॉ. अमर सिंह, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, 2016
7. राजस्थानी लोकगीतों के विविध रूप, सिंह, डॉ. जगमल, बिन्सर प्रकाशन, नई दिल्ली,1987
8. लोक और लोक का स्वर, मिश्र, विद्या–निवास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2000
9. भोजपुरी लोकसाहित्य सांस्कृतिक अध्ययन, मिश्र, डॉ. श्रीधर, हिंदुस्तानी अकादमी इलाहाबाद, 1971
10. अवधि लोकसाहित्य ग्रंथावली (तृतीय खंड), पांडेय, डॉ. इंदुप्रकाश, जनवाणी प्रकाशन दिल्ली, 2010
11. त्रिपुरा के गॉरिया लोकगीत, जमातिया डॉ. मिलन रानी, कौशल डॉ. जय, अमन प्रकाशन, 2018
12. मड़ई, सं. यादव डॉ. कालीचरण, अंक–34 वर्ष–2020, बनियापारा, बिलासपुर, छत्तीसगढ़
13. पूर्वोत्तर सृजन पत्रिका, ई–पत्रिका, सं. डॉ. रीतामणि बैश्य, डॉ. मिलन रानी जमातिया एवं प्रो. जयकौशल, गुवाहाटी, असम

– रिसर्च स्कॉलर हॉस्टल (पुरुष) त्रिपुरा विश्वविद्यालय, (केंद्रीय विश्वविद्यालय) सूर्यमणिनगर अगरतला, पश्चिम त्रिपुरा, पिन–799022

❑❑❑

पूर्वोत्तर की जनभाषाओं में लोकसंस्कृति

डॉ. संजय प्रसाद श्रीवास्तव

'लोक' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'लोकृ दर्शने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय जुड़ने से हुई है। लोकृ दर्शने धातु का अर्थ है 'देखना'। अतः 'लोक' शब्द का मूल अर्थ है– 'देखना'। अतः 'लोक' शब्द का मूल अर्थ है– 'देखने वाला' अर्थात् 'लोक' का प्रयोग 'संपूर्ण जनमानस' के संदर्भ में होता है। लोक संस्कृति से तात्पर्य उस संस्कृति से है जो लोगों में परंपरा से चली आ रही है।

ऋग्वेद में 'लोक' शब्द एक विराट समाज की ओर संकेत करता है 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात' अर्थात् वह (लोक) विराट पुरुष है जिसमें हजारों सिर, हजारों आँखें एवं हजारों चरण हैं। अतः लोक पद का अभिप्रेत अर्थ जनसमाज ही है।[1]

शब्दकोशों में 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं जिसमें से साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। लोक का दूसरा अर्थ है– जनसामान्य। इसी का हिंदी रूप 'लोग' प्रचलित है।[2]

'लोक' शब्द की परिभाषा

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका के अनुसार "एक आदिम जाति में वे सभी व्यक्ति 'फोक' (लोक) कहलाते हैं जिनसे वह समुदाय बना है।"[3]

'संस्कृति' शब्द में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यह 'सम्यक' तथा 'कृति' से मिलकर बना है। अतः संस्कृति का अभिप्राय है 'सम्यक निर्माण'। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ है– शुद्ध किया हुआ, परिष्कृत एवं परिमार्जित करना। हिंदी शब्दकोशों के अनुसार 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा का है, जो सामान्यतः 'सम्यक् कृति' के अर्थ में व्यवहृत होता है। 'बृहत् हिंदी कोश' में 'संस्कृति' शब्द के अर्थ– पूरा करना, शुद्धि, सुधार, परिष्कार, निर्माण, पवित्रीकरण, आचरणगत परंपरा, सभ्यता दिए गए हैं।[4]

'भाषा शब्दकोश' में 'संस्कृति' शब्द के अर्थ– शुद्धि, सफाई, सुधार, संस्कार, सजावट, सभ्यता, परिष्कार आदि दिए गए हैं।[5]

डॉ. गुलाबराय ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है।"[6] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही 'संस्कृति' है।"[7]

अंग्रेजी भाषा में संस्कृति के लिए कल्चर शब्द व्यवहृत किया जाता है। 'कल्चर' शब्द लैटिन के 'कलचुरा' तथा 'कोलियर' शब्दों से निर्मित हुआ है। इसका अर्थ 'उत्पादन' एवं 'परिष्कार' है अर्थात् 'उत्पादन के फलस्वरूप परिष्कार'।

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृति को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है– ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'कल्चर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है– "The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined the intellectual side of civilization, the acquainting ourselves with the best..." अर्थात् संक्षिप्ततः विचार, रुचि और आचार का शिक्षण तथा परिष्करण एवं विचार, रुचि तथा आचार के शिक्षित एवं परिष्कृत किए जाने की स्थिति ही 'कल्चर' (संस्कृति) है।

अंग्रेजी के विख्यात कवि मैथ्यू आर्नाल्ड ने जीवन के आलोक एवं कोमलता को संस्कृति कहा है। डॉ. ए. व्हाइटहैड के अनुसार

"संस्कृति विचार तथा सुंदरता एवं मानवीय अरबों की ग्राह्यता की क्रिया है।"

डॉ. सत्येंद्र के अनुसार, "लोक सगुण समाज का वह वर्ग है, जो जातिगत संस्कार की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहती है।"[8]

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "लोक शब्द का अर्थ जनपद या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[9]

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का स्थान के अर्थ में एक प्रयोग मिलता है। यजुर्वेद में 'लोक' (समाज) की एक विराट कल्पना की गई है।

वासुदेवशरण अग्रवाल लोक के संबंध में लिखते हैं कि– "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। यह राष्ट्र का अमर स्वरूप है। अवीचीन में मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति 'लोक' और लोक का धात्री, सर्वभूतरता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नए जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक, पृथ्वी और मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[10]

लोकसंस्कृति से तात्पर्य किसी क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले लोगों की पारस्परिक धर्म, त्योहार, पर्व, रीति–रिवाज, मान्यताओं, कला आदि को लोकसंस्कृति की संज्ञा दी गई है। लोकसंस्कृति किसी क्षेत्र विशेष के अन्य क्षेत्रों से स्वतंत्र पहचान करवाती है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों की तरह पूर्वोत्तर के भू–भाग की अपनी विशिष्टताएँ हैं। इसके अंतर्गत आठ राज्यों का एक समूह है– अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, त्रिपुरा, असम और सिक्किम। पूर्वोत्तर का भौगोलिक अवस्थिति, भाषागत विविधताएँ सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक सुंदरता सदैव आकर्षण का केंद्र रहा है। पूर्वोत्तर भारत की विविधता में एकता की संस्कृति को उजागर करती है। पूर्वोत्तर भारत की समृद्ध जनजातीय संस्कृति के विविध पक्षों का शोधात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए प्रेरित करती है। यहाँ के गाँव के त्योहार उत्साह से भरे हुए होते हैं। पूर्वोत्तर भारत के प्रत्येक सामाजिक समुदाय की अपनी परंपरागत संस्कृति है।

पूर्वोत्तर भारत अपने आप में अद्वितीय है। यहाँ पर प्राकृतिक सौंदर्य और संस्कृति का भंडार है। भाषा संस्कृति की जितनी विविधता यहाँ मिलती है, वह कहीं अन्य जगह प्राप्त नहीं होती है। पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्य की अपनी अलग– अलग संस्कृति है। यहाँ के संगीत में भी विविधता देखने को मिलती है। आज भी सभी राज्यों में जातीय संस्कृति व्याप्त है। पूर्वोत्तर के आठों राज्य भारत की विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर को अपने अंदर संजोए हुए हैं।

पूर्वोत्तर भारत में स्वदेशी जनजातियों में बोडो, मिशि लोग, गारो, नागा, भूटिया, मिसिंग, दिमाला, कार्बी, खासी, कुकी, मणिपुरी, मिजो, रभा, राजबोंगशी, तिवा, त्रिपुरी, बंगाली, विष्णुप्रिया, मणिपुरी और अन्य कई जनजातियाँ भारी संख्या में निवास करती हैं। असम की मुख्य भाषा असमिया है। त्रिपुरा की प्रमुख भाषा बांग्ला है, इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में कई अनेक आदिवासी समूह हैं जो चीन–तिब्बती और ऑस्ट्रो–एशियाई भाषाओं में बात करते हैं। मैथेय इस क्षेत्र में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। पूर्वोत्तर की संस्कृति विस्तृत रूप में फैली हुई है– अरुणाचल प्रदेश के पुरुषों की वेशभूषा बहुत ही आकर्षित करती है। पारंपरिक जातीय

पोशाकों में अपने सिर के ऊपर बाँस या बेंत से बनी गोल टोपी, अनोखा केश विन्यास बालों को सामने से बाँधकर प्राचीन मुनियों की तरह जूड़ा, गले में लटकती म्यानों में ठूसी हुई तलवारें। उसी प्रकार से मेघालय की 'खासी' जाति की पूजन विधि, नागालैंड के जेलियाँगा कबीले की सामूहिक प्रार्थना, मणिपुर के रोंगमई समाज और सिक्किम की लेपचा जनजाति के भजन गीत, मिजोरम का जादलो नृत्य या रियाँग जाति की लड़कियों द्वारा सिर पर पँचमुखी दीपक और हाथों में थालियाँ लेकर प्रस्तुत किया गया नृत्य एक अलौकिक उदाहरण है।

मिजोरम काचकया लोक नृत्य, सोनेवाला कछारी जाति के बिहू नृत्य, कार्वी जाति के लोक नृत्य, यह संस्कृति का एक उपक्रम है। पूर्वोत्तर की लोक कलाएँ बहुत समृद्ध हैं। असम के उत्तर–कछार के माइरबांग के डिमासा लोक नृत्य हो, मेघालय की जयंति या जाति का नृत्य हो, गारो पहाड़ों की हाजोंग जाति का लावोपानी नृत्य एवं नागा जाति का जेलियाँग नृत्य ये सभी नृत्य समृद्ध संस्कृति का परिचायक हैं।

पूर्वोत्तर भारत दो शास्त्रीय नृत्यों का केंद्र रहा है, जैसे– मणिपुर का मणिपुरी और असम का सजीया। अपनी सांकेतिक भव्यता और मनमोहक गति के कारण यह नृत्य दूसरे शास्त्रीय नृत्यों से भिन्न है। इसमें मुख्यतः विष्णु पुराण, भागवत पुराण और गीत गोविंद की रचनाएँ प्रमुख श्रेणी में हैं। पूर्वोत्तर की विभिन्न जनजातियों की विभिन्न–विभिन्न लोक परंपराएँ, लोक देवता, विभिन्न अनुष्ठान विभिन्न पर्व त्योहार आदि उनके साहित्य और लोकसंस्कृति का मूलाधार है। असम की कला कौशल, संगीत नृत्य सभी को आकर्षित करती है। चित्रकला यहाँ की पुरानी परंपरा है त्रिपुरा एक मिश्रित संस्कृति वाला राज्य है। यहाँ के लोगों का रहन–सहन और पहनावा अन्य से बिल्कुल अलग है। यहाँ पर जंगली जानवरों से रक्षा के लिए अपना घर खंभों के ऊपर बाँस से बनाते हैं। यहाँ का मटका नृत्य जो घड़े पर होता है, बहुत प्रसिद्ध है। गैर आदिवासी संस्कृतियों में बांग्ला संस्कृति प्रधान है।

पूर्वोत्तर भारत की राष्ट्रीय एकता और अखंडता की महत्वपूर्ण भूमिका है। स्वतंत्रता संग्राम में यहाँ का इतिहास और राष्ट्रीय चेतना को भुलाया नहीं जा सकता। यहाँ शंकरदेव के नाम का उल्लेख करना आवश्यक है। उनके अथक प्रयास से वैष्णव भक्ति की धारा पूर्वोत्तर में प्रवाहित हुई है। पूर्वोत्तर भारत का सांस्कृतिक वैविध्य और भाषाई विविधता यहाँ की पहचान है।

पूर्वोत्तर भारत के प्रत्येक जनजातीय समुदाय के पास अपनी भाषा–बोली है, लोकनृत्य है, वाद्ययंत्र है, लोक संगीत है साथ ही साथ अपने–अपने लोकोत्सव हैं। संस्कृति में निहित यह तत्व संपूर्ण भारत की आत्मा और राष्ट्रीय चेतना के अंतःकरण में है। यहाँ की जनजातियों की अपनी अलग–अलग परंपरा, संस्कृति, त्योहार–पर्व, रहन–सहन, संस्कृति, भाषा, कला आदि सभी को आकर्षित करती है। स्वतंत्रता के बाद यहाँ के लोगों में अपनी भाषा एवं संस्कृति के प्रति बहुत जागृति देखने को मिली। सभी जनजातीय भाषाओं में साहित्य सृजन की प्रवृत्ति लगभग बढ़ चुकी थी।

मिजोरम की कला और संस्कृति में त्योहारों का बहुत महत्व है। यहाँ मार्च के महीने में त्योहार 'छपरा कुट' बड़े हर्ष एवं उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस उत्सव में चेरव एवं बाँस नृत्यों का आयोजन किया जाता है। मिजोरम का प्रमुख त्योहार 'मीम कुट' भी बहुत ही हर्षोल्लास से मनाया जाता है। मीम कुट त्योहार में भी नृत्य किया जाता है। मिजोरम के लोगों की फसलों की कटाई पूरी होने के बाद एक और त्योहार 'पावल कुट' मनाया जाता है। नवंबर और सितंबर के महीने में थाफलवांग कुट त्योहार मनाया जाता है।

मेघालय में खासी लोगों के जीवन में संस्कृति की सबसे अधिक महत्ता है। नृत्यों का आयोजन श्लोंग (ग्राम), रेड़स (ग्राम समूह) और हिमा (रेड्स का समूह) में होता है। गारों लोग धार्मिक अवसरों, प्रकृति और मौसम और साथ ही सामुदायिक घटनाएँ जैसे– झूम कृषि अवसरों के उत्सव मनाते हैं।

नागालैंड अपनी कला और सांस्कृतिक विविधता के लिए प्रसिद्ध है। नागालैंड को इसके उपनाम 'लैंड ऑफ फेस्टिवल' के नाम से जाना जाता है। यहाँ कि अनोखी परंपरा और रीति–रिवाज सभी को आकर्षित करते हैं।

त्रिपुरा की कला और संस्कृति, संगीत एवं नृत्य के अंतर्गत केंद्रित है। त्रिपुरा के भिन्न–भिन्न समुदायों के अपने लोकगीत, गाने और नृत्य हैं। त्रिपुरा के लोगों के गॅरिया नृत्य को धार्मिक नृत्य माना जाता है। त्रिपुरी समुदाय के लीबांग नृत्य, चाक समुदाय के विझू नृत्य, गारो समुदाय की वागला नृत्य, हलाक कुकी समुदाय के हाई हक नृत्य और भोंग समुदाय के ओवा नृत्य हैं। यह विविधता में एकता का अच्छा उदाहरण है।

सिक्किम में सभी विविध जनजातियों और समुदायों में उनके विशिष्ट नृत्य रूपों, त्योहारों भाषाओं, संस्कृति और शिल्प सभी को आकर्षित करती है। लोकगीत और नृत्य सिक्किम की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। अधिकांश आदिवासी नृत्य मौसम का चित्रण करते हैं। सिक्किम के प्रसिद्ध नृत्य हैं– रेचुंग्या, गाह टू किटो, ची रम्मू, बीयू मिस्टा, ताशी जलधा, एनची चाम, लू खंगथामो, गुनुंगमाला, ज्ञानुघे और काग्येद नृत्य।

अरुणाचल प्रदेश की कला और संस्कृति विविधता में एकता को दर्शाते हैं। यहाँ मनाए जाने वाले प्रमुख त्योहारों में सोलुंग, मोपिन, द्री, नेची दाऊ, बोरी बूट, लोकू, लोंगटे युल्लो, ओजियाल, मोई, न्योकुम, सैंकन, सी–डोनी हैं। अरुणाचल के लोक नृत्य में विविधता की झलक देखने को मिलती है। अरुणाचल प्रदेश के लोगों के नृत्य में उनकी खुशी, प्रेम, कृतज्ञता की भावना दिखाई देती है। यहाँ के प्रमुख नृत्य हैं– पोंग नृत्य, दामिंडा डांस वांचो डांस, तापु नृत्य, बारडो छम, खांपटी नृत्य, बुईआ नृत्य, रिखमपाड़ा नृत्य। अरुणाचल प्रदेश के अधिकांश नृत्य कोरस गीतों के साथ किए जाते हैं। मणिपुर की कला और संस्कृति की अलग पहचान है। मणिपुर में शास्त्रीय और लोक नृत्य भक्तिमय होते हैं। मणिपुरी नृत्यों में मुख्य रूप से पुंग चोलम नृत्य, माई नृत्य, खंबा–थाबी नृत्य और नूपा नृत्य प्रमुख हैं। मणिपुर राज्य के त्योहारों का पौराणिक कथाओं एवं पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं से संबद्ध है।

असम की संस्कृति में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। अवरोही पैमाना और पिरामिड संरचना असम संगीत की प्रमुख विशेषता है। कामरूपिया लोकगीत, गोलपोरिया लोकगीत, ओजापाली असम के प्रमुख लोक संगीत में से एक है। असम के सभी त्योहारों का उद्देश्य सभी को एक साथ लाना और प्रेमभाव को बढ़ाना है। असम के प्रमुख उत्सव इस प्रकार हैं– बिहू, रजनी गबरा, बेशगु, रोंगकर और चोमनकान, माजुली, पटकाई महोत्सव, बेरवो, अंबुबाची महोत्सव आदि प्रमुख हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पूर्वोत्तर की जनभाषाओं में लोकसंस्कृति यहाँ पर निवास करने वाले लोगों के पारंपरिक रीति–रिवाजों, त्योहारों, मान्यताओं आदि से ओत–प्रोत है। पूर्वोत्तर क्षेत्र भारत का सांस्कृतिक केंद्र है। श्री शंकरदेव पूर्वोत्तर भारत में एक मौन अहिंसक सांस्कृतिक क्रांति के सूत्रपात थे। बिहू, ढलिया, भावरिया आदि असम के लोकनृत्य हैं। त्रिपुरा के लोक–गीतों में यहाँ के सांस्कृतिक वैभव देखने को मिलते हैं। नागा समाज में गीत और संगीत एवं विविध संस्कृति लोगों को आकर्षित करती है। अरुणाचल प्रदेश अपने नैसर्गिक सौंदर्य, बहुरंगी संस्कृति, बहुजातीय समाज, भाषाई वैविध्य के लिए भारत में एक विशिष्ट स्थान

रखती है। अरुणाचली जनजातियों का प्राचीन भारतीय संस्कृति से अभिन्न संबंध है।

पूर्वोत्तर भारत के लोगों की कला कृतियाँ मनमोहक होती हैं। हस्तशिल्प व हथकरघे पर बनी चीजें यहाँ प्रायः सभी राज्यों में देखने को मिलती हैं। यहाँ बाँस से बनी वस्तुएँ भी बहुत मिलती हैं। मणिपुर में हथकरघे पर बनी शालें, चादरें व कंबल मिलते हैं। मणिपुरी राधा और कृष्ण की गुड़ियाँ, मिजोरम में पत्ती और बाँस से बने वाटरप्रूफ हैट मिलते हैं। त्रिपुरा में बेंत और बाँस से बनी चीजें बहुत मिलती हैं। सिक्किम में हाथ से बने गलीचे, कलाकृतियाँ, लेपचा शैली की शालें बहुत मिलती हैं। मेघालय में हाथ से बनी शालें, टोकरियाँ, बेंत की चीजें बहुत मिलती हैं।

अतः पूर्वोत्तर भारत की कला, संस्कृति और शिल्प कलाएँ मानो 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' को चरितार्थ कर रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लोकसाहित्य अर्थ और व्याप्ति : डॉ. सुरेश गौतम, पृ.1
2. संस्कृत लोककथा में लोक जीवन : डॉ. गोपाल वर्मा, पृ.2
3. राजस्थानी और गुजराती लोककथाओं का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. शशिबाला पंजाबी, पृ.3
4. बृहद हिंदी कोश, पृ.1244
5. भाषा शब्द कोश, रसाल–ज्ञानमंडल, काशी, पृ.1782
6. मुंशी अभिनंदन ग्रंथ, पृ.285
7. अशोक के फूल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.75
8. राजस्थानी और गुजराती लोककथाओं का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. शशिबाला पंजाबी, पृ.4
9. लोकसाहित्य शास्त्र : डॉ. बापूराव देसाई, पृ.14
10. अग्रवाल वासुदेव शरण, लोक का प्रत्यक्ष–दर्शन, सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति अंक (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, सन् 1974, पृ.67)

सहायक ग्रंथ

1. लोकसंस्कृति और इतिहास, बद्री नारायण, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2010
2. भारतीय संस्कृति, संतोष कुमार चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2011
3. लोकसाहित्य, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश
4. 'भाषा' पत्रिका अंक–292, वर्ष 59, सितंबर–अक्तूबर, 2020, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली
5. अनेक पत्र–पत्रिकाएँ

– जूनियर रिसोर्स पर्सन / लेक्चरर ग्रेड (हिंदी), राष्ट्रीय परीक्षण सेवा–भारत, भारतीय भाषा संस्थान, मानसगंगोत्री, मैसूर, कर्नाटक–570006

❑❑❑

असमिया जातीय–जीवन की रूपरेखा नामघर

डॉ. शरिफुज जामान

असमिया सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में मठ–मंदिर, नामघर और सत्र इन तीन धार्मिक संस्थानों का महत्वपूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। नामघर और सत्र की तुलना में मठ–मंदिर का इतिहास बहुत प्राचीन है। फिर भी असमिया सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की नामघर और सत्र से जो घनिष्ठता है उतनी घनिष्ठता मठ–मंदिर से नहीं। जहाँ तक नामघर का सवाल है यह नव –वैष्णव आंदोलन के परिणामस्वरूप प्रतिष्ठित एक विशिष्ट धार्मिक केंद्र हैं। नाम और घर दो शब्दों के योग से नामघर शब्द बना, जिसका अर्थ होता है प्रार्थना के लिए निर्मित घर। यह एक सरल संरचना है जहाँ असम के वैष्णववादी हिंदू भगवान के नाम का पाठ करते हैं। यह नव–वैष्णव आंदोलन के पुरोधा महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (1449–1569) का असमिया जाति के लिए अतुलनीय अवदान है।

नामघर के इतिहास को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि महापुरुष शंकरदेव के आविर्भाव से पहले ही असम के गाँवों में नामघर विद्यमान था। इस मत को साबित करने के लिए वे पर्याप्त तर्क नहीं दे पाए। दूसरे एक वर्ग के विद्वानों के अनुसार सोलहवीं सदी में शंकरदेव द्वारा संचालित नव–वैष्णव आंदोलन के परिणामस्वरूप नामघर का निर्माण हुआ है। इस बात की पुष्टि के लिए जो तर्क प्रस्तुत किए गए उससे स्पष्ट होता है कि नव–वैष्णव आंदोलन के परिणामस्वरूप नामघर का निर्माण हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। आज नामघर के बिना असम के किसी एक हिंदू समाज अथवा गाँव की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसमें हिंदू समाज के हर एक व्यक्ति का समान अधिकार रहता है तथा सामूहिक चर्चा के माध्यम से समाज से जुड़ी हर एक समस्या का समाधान निकाला जाता है। सभी वर्गों के लोगों के लिए इसका दरवाजा खुला रहता है। नामघरों में भाओना, गायन–वायन, सत्रीया नृत्य आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। जिससे गाँव के लोगों को अभिनय, गाना, बजाना, नृत्य आदि सीखने का अवसर मिलता है। इसलिए डॉ. बिरिंचि कुमार बरुवा ने कहा–

नामघर असम की जातीय नाट्यशाला तथा जातीय चर्चा का जादूघर है। (चलिहा 1999: 154)

नामघर की निर्माण पद्धति

नामघर का निर्माण कुछ परंपरागत निर्माण शैली को ध्यान में रखकर किया जाता है। आमतौर पर नामघरों के खंभे लकड़ी अथवा बाँस के होते हैं, हालाँकि प्रचलित समय में सीमेंट के खंभे आम हो रहे हैं। बाँस और फूस से बुने हुए छप्पर की जगह टिन ने ले ली। फर्श पारंपरिक रूप से मिट्टी के होते हैं, जिसे हाल के दिनों में कंक्रीट से बदल दिया गया है। नामघर के अंतर्गत एक साथ चार घरों को गिना जाता है। वह क्रमशः बाटचरा, छों घर, नामघर और मणिकुट हैं। इनमें से नामघर और मणिकुट मुख्य हैं, जबकी बाटचरा और छों घर गौण।

इन चार घरों के अतिरिक्त बड़े नामघरों में और एक घर होता है, वह है 'बुलनीचरा'। साधारणतः 'बुलनीचरा' उन नामघरों में निर्मित किया जाता है, जिन नामघरों के प्रवेश द्वार से मूल नामघर तक फासला बड़ा होता है। यह घर प्रवेश द्वार और मूल नामघर को

जोड़ता है। इसकी चौड़ाई लगभग पाँच–छह फुट, ऊँचाई सात–आठ फुट और लंबाई प्रवेश द्वार और मूल नामघर के फासले के अनुसार होती है। भक्त धूप, बारिश से बचकर इस घर के सहारे मूल नामघर में प्रवेश कर सकते हैं।

बाटचरा और छों घर

नामघर परिसर के प्रवेश द्वार पर बाटचरा का निर्माण किया जाता है। यह घर साधारणतः दो छप्परवाला होता है। छों घर का निर्माण नामघर के पश्चिम दिशा में साधारणतः दक्षिण–पश्चिम कोने में होता है। यह घर नामघर के साथ संलग्न होता है। छों का अर्थ है मुखौटा। छों घर का मतलब है मुखौटा रखनेवाला घर। महापुरुष शंकरदेव ने साधारण जनता को धार्मिक मर्म से अवगत कराने हेतु हिंदू धर्मग्रंथों एवं पौराणिक कहानियों का नाटकीय रूपातंरण प्रस्तुत किया था। संगीत और नृत्य से समृद्ध उन एक अंक वाले नाटकों को भाओना कहा जाता है। भाओना के दौरान कलाकार अभिनय के लिए वस्त्र बदलने से लेकर सजने–सँवरने तक का सारा काम इस कमरे में करते हैं। भाओना के बाद व्यवहृत मुखौटे एवं शस्त्र आदि इसमें संभालकर रखे जाते हैं। जिन नामघरों में छों घर नहीं है अथवा बनाना संभव नहीं हो पाता तो उन नामघरों में भाओना के दौरान दक्षिण–पश्चिम कोने में आड़ कपड़ा टाँगकर अस्थायी छों घर बना लिया जाता है। कुछ नामघरों में बाटचरा से मूल नामघर संयोगी एक दो छप्परवाला लंबा घर होता है जिसे बुलनी चरा कहा जाता है। यह घर इसलिए बनाया जाता है ताकि भक्त धूप एवं बारिश से बचकर मूल नामघर में प्रवेश कर सकें।

नामघर

नामघर में मुख्यतः भगवान का नाम–कीर्तन किया जाता है, इसलिए इसे नामघर और सत्र में इसे कीर्तनघर कहा जाता है। गाँव के भक्तों की संख्या को ध्यान में रखते हुए नामघर को बड़ा या छोटा बनाया जाता है तथा तीन, पाँच, सात आदि जैसे विषम संख्या का कमरा रखा जाता है। नामघर एक आयताकार भवन होता है तथा इसकी लंबाई हमेशा पूर्व–पश्चिम दिशा में संरेखित होती है। दोनों तरफ दो समानांतर पंक्तियों में खंभे होते हैं तथा बरामदे के दोनों ओर दो पंक्तियों में छोटे खंभे लगाए जाते हैं। मणिकुट से पश्चिम की ओर नामघर के पहले कमरे के पहले जोड़े खंभे को छोड़कर दूसरे जोड़े के दाहिने खंभे को लाईखूटा कहा जाता है। इसमें आमतौर पर बाहरी दीवार होती है। दीवारों को पूरी तरह ऊपर तक नहीं दिया जाता तथा इसका लेपन भी नहीं किया जाता ताकि भक्तों द्वारा उच्चारित नाम प्रसंग को लोग दूर–दूर से सुन पाएँ। मुख्य द्वार पश्चिम छोर में होता है। उत्तर और दक्षिण की तरफ खिड़कियाँ तथा छोटे प्रवेश द्वार होते हैं। इन छोटे प्रवेश द्वारों को पेट द्वार कहा जाता है। घर के उत्तरी अथवा दक्षिणी भाग में तीन खंभों पर बने एक मचान पर डबा (एक वाद्य विशेष) रखा जाता है। पूर्व छोर में मणिकुट लगा हुआ होता है। यह घर मूल नामघर के साथ जुड़ा हुआ होता है लेकिन इसका छप्पर अलग होता है। यह घर हमेशा उत्तर–दक्षिण दिशा में संरेखित होता है।

नामघर में नाम–कीर्तन के समय पंक्तिबद्ध होकर बैठने का नियम है। भक्त उत्तर और दक्षिण दिशा में पंक्तिबद्ध होकर एक–दूसरे के आमने– सामने होकर बैठते हैं और बीच की जगह खाली छोड़ते हैं। उत्तर और दक्षिण दिशा में पंक्तिबद्ध होकर बैठने वाले भक्तों की पंक्ति को दोहार की पंक्ति कहा जाता है। पश्चिम दिशा में भक्तों की पंक्ति के अंत में दोनों पंक्तियों के बीच शिर (पाठक, नाम जोड़ने वाला) का आसन होता है और उनके पीछे उनका सहयोग देने के लिए भक्तों की एक पंक्ति होती है, जिसे पाली की पंक्ति कहा जाता है।

मणिकुट

मणि(रत्न) और कुट(घर) इन दो शब्दों के संयोग से मणिकुट शब्द बना है, जिसका अर्थ

है रत्न रखनेवाला घर। लगभग दसवीं सदी के परवर्ती समय तक हयग्रीब माधव मंदिर वैष्णव धर्म का एक मुख्य केंद्र था। डॉ. सत्येंद्रनाथ शर्मा ने मणिकुट शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में अपना अनुमान व्यक्त करते हुए कहा–

नामघर के साथ संयुक्त मणिकुट शब्द हयग्रीब माधव मंदिर के मणिकुट शब्द का विस्तार हो सकता है। (चलिहा 1999:144)

अन्य एक मत के अनुसार

द्रविड़ भाषा का शब्द कोट्टम का अर्थ है देव मंदिर। कुट शब्द कोट्टम का रूपांतर हो सकता है। (चलिहा 1999:144)

राजमोहन नाथ जैसे विद्वानों का मानना है कि सत्र और नामघर के निर्माण पद्धति में द्रविड़ी प्रभाव है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कोट्टम शब्द से कुट शब्द बनना तर्कसंगत है।

मणिकुट नामघर का अविच्छिन्न अंग है। इसे मूल नामघर संरचना के बाद पूर्व दिशा में जोड़ा जाता है। यह एक स्वतंत्र कमरा है तथा हमेशा उत्तर–दक्षिणी दिशा में संरेखित होता है। इसका अपना छत है जो दो छप्परवाला होता है। यह पूरी तरह चारदीवारी है। पश्चिमी छोर के एक दरवाजे को छोड़कर इसमें अन्य कोई भी दरवाजा अथवा खिड़की नहीं होती। मणिकुट के बीचोंबीच गुरु आसन बिठाया जाता है जो नामघर के प्रवेश द्वार से ही दृश्यमान होता है। गुरु आसन सुविधानुसार तीन, पाँच, सात मंजिला का होता है और इसके ऊपर चंद्रताप टाँगा जाता है। महापुरुष शंकरदेव और माधवदेव द्वारा रचित ग्रंथों में से किसी एक ग्रंथ को आसन में रखने की परंपरा है। हर शाम इसके सामने धूप, दीप जलाया जाता है। नाम– कीर्तन के दौरान लोग इसके सामने शराई में प्रसाद चढ़ाते हैं। गुरु आसन के दाहिने ओर गछा (चिरागदान) और बाईं ओर ठगी या ठगा (ग्रंथ पठन के लिए लकड़ी से निर्मित साधन) रखा जाता है। मणिकुट में हर कोई प्रवेश नहीं कर सकता। केवल सत्राधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त बुजुर्गों को प्रवेश करने की अनुमति दी जाती है। इसमें महिलाओं का प्रवेश पूर्णतः वर्जित है।

हर एक गाँव का धार्मिक आयोजन या त्योहार मनाने का मुख्य केंद्र उस गाँव में स्थित नामघर ही है। यहाँ एक बात उल्लेख करना जरूरी होगा कि स्थानभेद से नामघर की निर्माण पद्धति में उन्नीस– बीस का फर्क देखने को मिलता है। नामघर में दैनिक नाम– कीर्तन के अलावा वार्षिक नाम, पालनाम, कृष्ण जन्मोत्सव, रास, भाओना आदि कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। किसी भी सामूहिक कार्यक्रम में सत्राधिकार या महंत मौजूद हैं तो उन्हें लाईखूटा के नीचे आसन दिया जाता है, अगर ये लोग उपस्थित नहीं हैं तो उपस्थित पदाधिकारियों में से सबसे उच्च पदाधिकारी को लाईखूटा के नीचे बैठने दिया जाता है। महापुरुषों की स्मृति से जुड़े नामघर के प्रति लोगों की भक्ति और श्रद्धा की कोई तुलना नहीं है। गाँव के हर एक व्यक्ति का दायित्व रहता है कि इसकी पवित्रता की रक्षा के लिए सजग रहे। नहा–धोकर परंपरागत कपड़े पहनकर नामघर में प्रवेश करने का नियम है। पुरुषों के लिए धुती (धोती), कमीज तथा गले में गमछा और महिलाओं के लिए के चादर–मेखेला जरूरी है। मद्यपान करके प्रवेश करना पूर्ण रूप से वर्जित है। इस तरह देखा जाता है कि नामघर एक स्वस्थ्य प्रगतिशील सामाजिक जीवन की पहचान है। यह एक धार्मिक संस्थान होते हुए भी शुरुआती समय से लेकर आज तक असम के सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में विशिष्ट योगदान देता आ रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. चलिहा, भवप्रसाद, संपा. शंकरी संस्कृतिर अध्ययन. दूसरा– गुवाहाटीः श्रीमंत शंकरदेव संघ, 1999

2. शंकरी साहित्यर समीक्षा. संपा. भवप्रसाद चलिहा, गुवाहाटीः श्रीमंत शंकरदेव संघ, 1981.

3. बरुवा, बिरिंची कुमार. असमर लोक संस्कृति, आठवाँ गुवाहाटीः बीणा लाईब्रेरी, 2005.

— बाबू जगजीवन राम रिसर्च होस्टल, गुवाहाटी यूनिवर्सिटी, गुवाहाटी, असम—781014

❑❑❑

पूर्वोत्तर भारत की अतुल्य भाषा, संस्कृति

प्रियंका कुमारी

भारतवर्ष में पूर्वोत्तर भारत एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ पर सर्वाधिक भाषिक एवं सांस्कृतिक विविधता है। समस्त भारतवर्ष में ऐसा दूसरा भाग नहीं है, जहाँ पर इतनी अधिक भाषिक एवं सांस्कृतिक विविधता हो। भारत विविधताओं का ही देश है, पूर्वोत्तर भारत में भाषा एवं संस्कृति की विविधताओं के कारण ही हम इस लेख में पूर्वोत्तर भारत की अतुल्य भाषा एवं संस्कृति पर बात करने जा रहें हैं।

पूर्वोत्तर भारत से आशय भारत के सर्वाधिक पूर्वी क्षेत्रों से है, इसमें विशिष्ट श्रेणी के मान्यता प्राप्त आठ राज्य हैं। जिसमें एक साथ जुड़े 'सात बहनों' के नाम से प्रसिद्ध राज्य असम, अरुणाचल, मेघालय, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, नागालैंड शामिल हैं। सिक्किम राज्य 'सात बहनों' के अंतर्गत नहीं आता है। पूर्वोत्तर भारत सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के अन्य राज्यों से कुछ भिन्न है। भाषा की दृष्टि से यह क्षेत्र तिब्बती–बर्मी भाषाओं के अधिक प्रचलन के कारण अलग से पहचाना जाता है। इस क्षेत्र में वह दृढ़ जातीय संस्कृति व्याप्त है जो संस्कृतिकरण के प्रभाव से बची रह गई थी। पूर्वोत्तर भारत के कुछ राज्यों की सीमाएँ अंतरराष्ट्रीय सीमाओं से लगती हैं, जैसे– सिक्किम (नेपाल, चीन, भूटान), मेघालय, त्रिपुरा (बांग्लादेश), मिजोरम (बांग्लादेश एवं म्यांमार), मणिपुर व नागालैंड (म्यांमार), अरुणाचल प्रदेश (चीन), असम (भूटान)।

भारत विविध भाषा, संस्कृतियों एवं कलाओं से परिपूर्ण देश है। देश के विभिन्न हिस्सों में कई तरह की भाषा एवं बोलियाँ बोली जाती हैं, फिर भी भारत के देश प्रेम और एकता का भाव एक है। भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में भारतीयता की इसी झलक को देखा जा सकता है। पूर्वोत्तर में स्थित आठों राज्यों–अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मिजोरम, मणिपुर, असम, त्रिपुरा, मेघालय और सिक्किम संस्कृति एवं कला की दृष्टि से बहुरंगी राज्य हैं। विविध प्रकार की लोक कलाएँ भी पूर्वोत्तर में विद्यमान हैं। असम के नदी द्विप एवं जिला माजुली में मुखौटे बनाने की अप्रतिम कला है। देश ही नहीं विदेशों में भी यहाँ के मुखौटे प्रसिद्ध हैं। नागालैंड के हॉर्नबिल उत्सव में सैलानियों के आगमन लगातार कई वर्षों से बढ़ रहे हैं। मेघालय के रंगबिरंगे त्योहार बांग्ला हो या नोंडकेम डॉस उसका भी अपना एक अलग रंग है। मणिपुर में प्रचलित युद्ध शैली पर आधारित नृत्य थांङटा, पुंड चोलम युद्ध की ऐसी शैलियों की ओर इशारा करती हैं जो हमारे पुराणों में वर्णित हैं। मणिपुर में वैष्णव मत का प्रचलन काफी पहले से रहा है इसलिए मणिपुरी नृत्य शैली में राधा और कृष्ण का वर्णन है। लोक की जब भी बात होती है उसमें राधा, कृष्ण और राम की बात आती है चाहे अवधी, भोजपुरी का लोक हो या मणिपुर का। असम के सत्रिया और अंकिया नृत्यों में भी इनका वर्णन देखने को मिलता है। पूर्वोत्तर भारत का लोक एवं लोकसाहित्य अपनी परंपरा से समृद्ध है।

अतुलनीय भारत का जीवंत सांस्कृतिक दर्शन हमें पूर्वोत्तर में स्पष्ट दिखाई देता है। सांस्कृतिक, सामाजिक परिवेश से है जो प्राचीन काल से ऐसे अनेकों उत्सव एवं पर्वो का प्रदुर्भाव करते आए हैं, भारतीय संस्कृति को एक दर्शन के रूप में दर्शाते हैं। पर्व एवं उत्सव मानवीय जीवन में एक उमंग एवं ऊर्जा का संचार करते हैं जिससे परिवार, समाज में एक खुशी की लहर पैदा होती है। अपने से जुड़ने का आनंद प्राप्त होता है। क्योंकि यह पर्व सामूहिक, सामुदायिक, साझेदारी का

ताना–बाना है। बिना समूह के व्यक्तिगत आनंद भी नहीं मिलता है। भारत प्राचीनकाल से उत्सवों एवं पर्व को मनाता आ रहा है। उत्सव शब्द के कई समानार्थी शब्द हैं, जैसे– पर्व, त्योहार, मेला, समारोह आदि। पर्व एवं उत्सव का महत्व पर्व–त्योहार एवं उत्सव समाज के सभी वर्गों, जातियों, धर्मों में समरसता का भाव उत्पन्न करते हैं। यह एक दूसरे धर्मों एवं उनसे जुड़ी मान्यताओं को समझने का कार्य भी करते हैं। पर्व हमारी भारतीय संस्कृति की पहचान हैं जिसे हम पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में भलिभाँति देख सकते हैं–

1. होर्नविल फेस्टिवल, नागालैंड 2. तवांग फेस्टिवल, अरुणाचल प्रदेश 3. जीरो फेस्टिवल, अरुणाचल प्रदेश 4. मोनोलिथ फेस्टिवल, शिलांग (मेघालय) 5. चेरी ब्लासम फेस्टिवल, शिलांग (मेघालय) 6. बांग्ला डाँस फेस्टिवल, गारोहिल्स तुरा (मेघालय) 7. बेहडिङ्ख्लाम फेस्टिवल, जयंतिया हिल्स (मेघालय) 8. ऑरेंज फेस्टिवल, अरुणाचल प्रदेश 9. लूनगई फेस्टिवल, मणिपुर 10. लूसोंग फेस्टिवल, सिक्किम 11. नोंगक्रम डाँस फेस्टिवल, मेघालय 13. छपचर कुठ फेस्टिवल, मिजोरम 14. अंथुरियम फेस्टिवल, मिजोरम 12. खरची पूजा, त्रिपुरा यह समस्त पर्व एवं उत्सव भारत की एकता, अखंडता एवं विविधताओं का दर्शन कराते हैं। यह विविधता यहाँ भाषा, वेशभूषा, मान्यता, खानपान, लोकसंस्कृति, लोकनृत्य एवं उनकी जीवन–शैली में भी देखने को मिलती है। इस प्रकार के पर्व और उत्सवों में शामिल होकर पर्यटक यहाँ संपूर्ण भारत के सांस्कृतिक दर्शन की झलक पाते हैं। यहाँ की भाषा एवं संस्कृति भारत की 'अतिथि देवो भवः' एवं 'वसुधैव कुटुंबकम्' की लोकोक्ति को सार्वभौमिक करता है।

पूर्वोत्तर भारत को भाषा एवं संस्कृति का संगम भूमि माना जाता है। सांस्कृतिक वैविध्य और भाषाई वैविध्य इस धरती के निवासियों की अमूल्य धरोहर है। यहाँ का सांस्कृतिक स्वरूप अदभुत है। अनेकों युद्धों, आपदाओं को झेलते हुए भी यहाँ के मानस ने अपनी बोलियों, भाषाओं, वाचिक परंपरा के साहित्य तथा संस्कृति को बचाने के लिए अपनी आत्मशक्ति का परिचय दिया है। लगभग 150 जनजातीय बोलियों और भाषाओं का इस अंचल में प्रयोग होता है। संवैधानिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत में पाँच भाषाओं का प्रयोग होता है– असम में असमिया, नेपाली तथा जनजातीय भाषा बोडो का। असम के बराकघाटी क्षेत्र और त्रिपुरा में बांग्ला का। मणिपुर में मणिपुरी अर्थात् मैतै का। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग होता है। लिपि के स्तर पर यहाँ असमिया, देवनागरी, बांग्ला, मैतैमयेक तथा रोमन का प्रयोग होता है। कॉकबरक (त्रिपुरा) के लिए लिपि प्रयोग पर प्रयास हो रहा है। मणिपुर में मणिपुरी तथा हिंदी मिजोरम में मिजोड और हिंदी, त्रिपुरा में बांग्ला तथा हिंदी, मेघालय में खासी, गारो, जयंतिया तथा हिंदी, नागालैंड में नागामीज तथा हिंदी, मुख्य संपर्क भाषा (लिंक लैंग्वेज) हैं। पूर्वोत्तर भारत ने हिंदी भाषा को पूरी आत्मीयता तथा सम्मान के साथ संपर्क भाषा के रूप में अपनाया है। पूर्वोत्तर भारत का भाषा प्रेम और भाषाई अनुराग अनुकरणीय है। यह भाषानुराग पूर्वोत्तर की आंतरिक सांस्कृतिक समृद्धि का द्योतक है। समूचे पूर्वोत्तर में हिंदी पत्रकारिता की एक समृद्ध परंपरा हमें दिखाई पड़ती है। इसीलिए आज गुवाहाटी और असम के अन्य नगरों लखीमपुर, तिनसुकिया, जोरहाट आदि से 'पूर्वांचल प्रहरी', 'दैनिक पूर्वोदय', 'प्रातः खबर', 'सेंटिलन' जैसे हिंदी दैनिक और 'युमशकैश', लटचम', 'कुंदोपरेड', 'महिप', 'चयोलपाऊ' (इंफाल मणिपुर), 'मेघालय दर्पण', 'समन्वय पूर्वोत्तर' (शिलांग), 'गुंजन', 'पूर्वोत्तर भारती दर्पण' (कोहिमा नागालैंड) 'राष्ट्रसेवक' 'उलुपी', 'मंचभारती' युवादर्पण, 'देशदिसावर', उषाज्योति 'संघम' (असम) तथा 'अरुण प्रभा' (ईटानगर) जैसी साहित्यिक–सांस्कृतिक पत्रिकाएँ पूर्वोत्तर की संवेदना से हमें जोड़ती हैं। यहाँ का सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक

जीवन श्रीमंत शंकर देव, श्रीमंत माधव देव भारतरत्न गोपीनाथ बरदलै, साहित्य शिल्पी ज्योतिप्रसाद अगरवाल, कलागुरु विष्णुराभा, डॉ. भूपेन हजारिका, पद्म भूषण रानी गाइडलु, कवि डॉ. लमाबम कमल, श्री लक्ष्मीनाथ बैजवह्या, डॉ. वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य तथा डॉ. मामोनीरायसम इंदिरा गोस्वामी महाराजकुमारी विनोदिनी देवी संगीतकार आर.डी.बर्मन आदि से कई रूपों में प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करता रहा है। पूर्वोत्तर भारत के बौद्ध समाज को गौतम बुद्ध और उनका दर्शन भी यहाँ की बौद्ध संस्कृति के संरक्षण को प्रोत्साहन देता रहा है। तवांग का गुफा तथा गांतोक के बौद्ध मठ इसके उदाहरण है।

भाषा का कोई रंग, रूप, जाति या आकार नहीं होता है। इसे तो सिर्फ सुनकर महसूस किया जाता है। हमारी हिंदी का तो कुछ कहना ही नहीं इसकी शब्दों में इतनी मिठास है कि विश्व का हर व्यक्ति इसे सीखना और बोलना चाहता है। कुछ लोग तो हिंदी सीखकर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते हैं। भारत में अनेक राज्य हैं और सभी राज्यों की अपनी–अपनी अलग भाषा है। इस प्रकार भारत एक बहुभाषीय राष्ट्र है लेकिन अन्य कई देशों की तरह भारत की भी अपनी एक राष्ट्रभाषा है जिसका नाम है 'हिंदी'। भारतवर्ष की प्रमुख विशेषता है– 'विविधता में एकता'। हमारे देश में लगभग 170 भाषाएँ और तकरीबन 500 बोलियाँ हैं। भारत की अनेक भाषाओं में केवल हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जिसे अपने क्षेत्र से बाहर विकसित होने का अवसर मिला है। वर्तमान में हिंदी विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा है। उत्तर–पूर्व की भाषाओं का अन्य भारतीय भाषाओं के साथ गहरा संबंध है। आमतौर पर पूर्वोत्तर राज्यों की गिनती गैर– हिंदी प्रदेशों में की जाती है लेकिन पूर्वोत्तर के लोग जब भी अपने किसी पड़ोसी राज्य के लोगों से मिलते हैं, तो उनकी संपर्क भाषा हिंदी ही होती है। क्योंकि हिंदी विचारों के आदान–प्रदान का सबसे आसान माध्यम है। सबसे पहले जोरहाट के पुलिस सुपरिटेंडेंट श्री यज्ञराम खारधरीया फुकन ने यह महसूस किया कि असम की उन्नति के लिए असमवासियों को बांग्ला की जगह 'हिंदी' सीखना अधिक उपयोगी होगा। हिंदी शिक्षण को ध्यान में रखकर उन्होंने एक उपयुक्त ग्रंथ रचने का संकल्प किया था– इस योजना को उन्होंने सन् 1832 के 79 भट्टे वाले 'समाचार दर्पण' में प्रकाशित किया था। इसका नाम रखा गया था। 'हिंदी व्याकरण और अभिधान' लेकिन दुर्भाग्य वश यज्ञराम खारधरीया फुकन जी की आकस्मिक मृत्यु के कारण यह ग्रंथ अधूरा ही रह गया। सन् 1885 के बाद जब स्वतंत्रता आंदोलन ने जोर पकड़ लिया था, तब राष्ट्रीय आंदोलन के साथ राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्र भाषा हिंदी की आवश्यकता लोगों को महसूस होने लगी। तब भी असम में हिंदी का संस्थागत प्रयास नहीं था। सन् 1926 में पहली बार विद्यालयों में हिंदी को शिक्षण विषय के रूप में जगह मिली। इसका श्रेय शिवसागर के पॉलिटेकनिक इंस्टीट्यूट के प्रतिष्ठाता भुवन चंद्र गगै को जाता है। उन्ही के अथक परिश्रम और परेशानियों के फलस्वरूप आज पूर्वोत्तर में हिंदी तीसरी कक्षा से आठवीं कक्षा तक अनिवार्य विषय और आगे दसवीं तक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। पूर्वोत्तर भारत में हिंदी का वास्तविक रूप तब आया जब 1934 में 'अखिल भारतीय हरिजन सेवा संघ' की स्थापना के लिए महात्मा गांधी असम आए थे। उन्होंने हर जगह अपने संबोधन में असम के लोगों को हिंदी सिखने की बात कही थी। गांधी जी की बातों से प्रभावित होकर श्री पीतांबर देव गोस्वामी ने बताया की यहाँ हिंदी सिखाने वालों की कमी है, यदि इसकी व्यवस्था हो जाए तो, हम हिंदी शिक्षण– प्रशिक्षण के कार्यक्रम को शुरू कर सकते हैं। गोस्वामी जी की बातों से संतुष्ट होकर गांधी जी ने बाबा राघवदास को हिंदी प्रचारक के रूप में नियुक्त करके असम भेज दिया। राघवदास असम आए और उन्होंने कुछ हिंदी भाषी लोगों को हिंदी

शिक्षण के लिए नियुक्त किया। जिसमें जोरहाट से– अबिंका प्रसाद त्रिपाठी, डिब्रूगढ़ से– शिव सिंहासन मिश्र, शिवसागर से– सूर्यवंसी मिश्र, नगाँव से– देवेंद्र दत्त शर्मा, गुवाहाटी से– धनेश्वर शर्मा और गोलाघाट से– बैकुंठ नाथ सिंह मुख्य थे। ये सभी प्रशिक्षित अध्यापक तो नहीं थे लेकिन इनमें मुख्य बात यह थी कि ये सभी असमिया भाषा जानते थे और व्याकरण अनुवाद पद्धति उनका माध्यम था। इसी बीच कुछ असमिया युवक– युवतियाँ काशी विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय संस्थान में अध्ययन के लिए गए। उनमें नवीनचंद्र कलिता, खर्गेश्वर मजुमदार का नाम उल्लेखनीय है। बाबा राघवदास के आश्रम में रजनीकांत चक्रवर्ती और हेमकांत भट्टाचार्य जी हिंदी सीख रहे थे। बाद में नवीनचंद्र जी भी आ गए। फिर इन तीनों को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा संचालित 'हिंदी अध्यापन मंदिर' में प्रशिक्षण के लिए भेज दिया गया। असल में ये तीनों ही असम में हिंदी शिक्षण के पुरोधा थे। प्रशिक्षण समाप्त कर, श्री नवीन चंद्र कलिता जी को– गुवाहाटी, श्री रजनी कांत चक्रवर्ती जी को– शिवसागर में और स्व. हेमकांत भट्टाचार्य जी को– नगाँव के प्रचारक के रूप में नियुक्त किया गया। इन महानुभावों के उत्साह और प्रेरणा के प्रताप का ही फल है कि आज पूर्वोत्तर भारत के विद्यालयों में हिंदी भाषा की नींव पड़ी। यही समिति आगे चलकर 'असम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति' बनी। जो आज भारत के श्रेष्ठ हिंदी स्वैच्छिक संस्थानों में से एक है। असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य हिंदी भाषा को आम लोगों तक पहुँचाना था। कहते हैं कि जिन भाषाओं की लिपि देवनागरी होती है, वह भाषा हिंदी नहीं होते हुए भी देवनागरी लिपि के माध्यम से 'हिंदी' के प्रचार–प्रसार में सहायक होती है। उदाहरण के रूप में– अरुणाचल प्रदेश की भाषा 'मोनपा', 'मिजि' और 'अका', असम में– 'मिरि', 'मिसमि' और 'बोडो' है, नागालैंड में– 'अडागी', 'सेमा', 'लोथा', 'रेग्मा', 'चाखे तांग फोम' तथा 'नेपाली' है, सिक्किम में– 'नेपाली', 'लेपचा', 'भडपाली', 'लिंबू' आदि भाषाओं की लिपि देवनागरी है। देवनागरी लिपि अधिकांश भारतीय लिपियों की जननी है। अतः इसके प्रचार–प्रसार से पूर्वोत्तर राज्यों में हिंदी सीखना–सिखाना बहुत आसान हो गया। असम में भी बोडो भाषा के लिए 'देवनागरी लिपि' का प्रयोग हो रहा है। असम का स्थानीय नाम 'अहोम' है, थाईलैंड की 'अहोम' जाति कभी यहाँ 'राज' किया करती थी। 1947 में जब भारत आजाद हुआ तब पूर्वोत्तर में तीन ही राज्य थे, 'मणिपुर', 'त्रिपुरा', और 'असम' जिसकी राजधानी 'शिलांग' थी, जो आज मेघालय की राजधानी है। बाद में इन्हीं राज्यों से चार और राज्य बने। 1963 में नागालैंड, उसके बाद 1972 में मिज़ोरम यूनियन टेरिटरी बना और अंत में 1987 में 'अरुणाचल प्रदेश'।

पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों की संस्कृति के निर्माण में यहाँ की प्राकृतिक संपदा और मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य की बड़ी भूमिका है। नदी, झरने, पर्वत जंगल, विविध प्रकार के पेड़–पौधे और फूल पूर्वोत्तर निवासियों की आत्मा में निवास करते हैं। पूर्वोत्तर भारत को यहाँ की खूबसूरत प्रकृति और सहज शांत वातावरण ने उपहार में नृत्य, संगीत, कला और सौंदर्यानुभूति की दृष्टि दी है। प्रत्येक समुदाय के पास अपनी भाषा–बोली है लोकनृत्य है, वाद्य यंत्र है, लोकसंगीत है और अपने–अपने लोकोत्सव हैं। इन्ही लोकोत्सवों के कारण यहाँ का समाज वैसे आधुनिक जीवन शैली यहाँ के जीवन में विद्यमान रस को शुष्कता से भरने लगी है। अरुणाचल और असम की धरती पर ब्रह्मपुत्र नदी तथा सुवनश्री जैसी नदियाँ हैं। मणिपुर की धरती पर इंफाल नदी, लोक्ताक झील तथा वराक नदी है। यही वराक नदी असम प्रांत कघ्डार, करीमगंज को नया जीवन देती है। मिजोरम, मेघालय, त्रिपुरा, नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश तथा सिक्किम राज्य की धरती पर सैकड़ों छोटी–बड़ी नदियाँ और झरने हैं। सभी

जनजातीय समुदायों के अपने–अपने पारंपारिक वस्त्र और आभूषण हैं। ये आभूषण भी इन्हें पेड़ों, पर्वतों,नदियों और पशुओं से मिले हैं। पूर्वोत्तर भारत जैसा पुष्प प्रेम आपको अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। पूर्वोत्तर जैसा नृत्य वैविध्य भी अन्य राज्यों में दुर्लभ है। असम के गुवाहाटी नगर में कामारव्या धाम, वशिष्ठ आश्रम, जयदौल मंदिर, उमानंद मंदिर तथा श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र हैं। मणिपुर में गोविंददेव मंदिर तथा अरुणाचल में परशुराम कुंड हैं। त्रिपुरा में त्रिपुरेश्वरी मंदिर तथा सिक्किम में नामची जिला मुख्यालय में चार धाम हैं।

इतिहास प्रसिद्ध शिवसागर में शिवमंदिर तथा अहोम राजाओं के महल हैं। तेजपुर (शोणितपुर) उषा–अनिरुद्ध स्थल, दीमापुर में भीम द्वारा प्रयुक्त प्रस्तर गदाएँ हैं। रामायण की राम कथा के आधार पर कार्बी जनजातीय भाषा में 'साबिन–आलुन' (कार्बी रामायन) तथा रवामती जनजातीय भाषा में 'लिकचाड–लामाड' (रवामती रामायण) की रचना भी असम और पूर्वोत्तर की देन है। लोक त्योहार या लोक उत्सवों की दृष्टि से मेघालय में नंक्रेम, रंगचुगाला, वागाला और सद्–सुक–खलाम प्रसिद्ध हैं। मिजोरम में पलकुट, मीमकुट और चापचार कुट हैं। मणिपुरी और लोकउत्सवों के नाम हैं– लाइ–हराओबा, रासलीला, झूलन–यात्रा तथा चौराओबा।

नागालैंड में सांगतम, फोम, कोन्याक, आओ, अंगामी, सेमा, लोथा, चाखेसाड रेंगमा और कुकी समुदाय के मध्य मोत्सु, सुक्रेमंग, सीक्रेनी, नगोवी, थेकरानी तुलुनी आदि पर्व आयोजित होते हैं। इसी प्रकार त्रिपुंरा ऊनकोटिमेला और अरुणाचल में न्योकुम, सोलुंग, मोपीन आदि अनेकों पर्व हैं। असम का बिहूपर्व और बिहूनृत्य विश्वविख्यात है। रंगाली बिहू (बहाग बिदू) सर्वाधिक लोकप्रिय है। पूर्वोत्तर के सभी नृत्यसाकूहिक तथा कृषिसंस्कृति (श्रम संस्कृति) पर आधारित हैं। पूर्वोत्तर भारत में मुख्य और लोकप्रिय धर्म प्रकृति पूजा रहा है। हिंदू समुदाय के लोग हिंदू पर्व, ईसाई समुदाय अपने धार्मिक पर्वो को भी मनाते हैं। धर्म आस्था, विश्वास बदला है लेकिन पारंपरिक पर्व, उत्सव, नृत्य, संगीत, खेलकूद अभी जीवित हैं। सभी समुदायों में एक चेतना पैदा हो रही है और वे अपने मूल्यों, आस्थाओं वाचिक लोकसाहित्य अपनी–अपनी मातृबोलियों को संरक्षित रखना चाहते हैं। यहाँ का परिधान वैविध्य पूर्वोत्तर भारत को एक सांस्कृतिक पहचान देता है। लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोकसंगीत की ओर आस्था बढ़ रही है। अतः पूर्वोत्तर भारत लोकसंस्कृति का संवाहक केंद्र है। पूर्वोत्तर भारत में असम को छोड़कर शेष राज्यों में झूम खेती होती है। सभी प्रकार के फल–सब्जियों का यहाँ उत्पादन होता है। असम राज्य के किसान चावल, सुपारी, नारियल की खेती करते हैं। असम में मूगा, रेशम की भी खेती होती है। मेघालय राज्य कि गारो हिल्स संतरे की खेती के लिए प्रसिद्ध है। कहीं–कहीं अनानास का उत्पादन भी खूब होता है। गारो हिल्स के कुछ किसान पाट, मूगा, रेशम, कपास की खेती करते हैं। मेघालय राज्य की खासी जनजाति सब्जी की खेती बड़ी दक्षता से करती है। पत्तागोभी, फूलगोभी, हरे रंग का फूलगोभी, गांठगोभी, लाइपत्ता, मटर, मिर्च, टमाटर, गाजर, मूली आदि की यहाँ जैविक खेती होती है। आलू भी खूब होता है। सभी प्रकार की पहाड़ी क्षेत्रों में उत्पन्न सब्जियों में विशेष स्वाद है। यहाँ से कुछ सब्जियाँ असम के बड़े नगरों में भी भेजी जाती हैं। असम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा तथा नागालैंड में बाँस और बेंत की टोकरियाँ और फर्नीचर बनता है। समूचा पूर्वोत्तर लकड़ी के फर्नीचर निर्माण के कार्य में अत्यंत कुशल है। त्रिपुरा बाँस की विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएँ बनाने में पूर्वोत्तर में सर्वाधिक लोकप्रिय है। मिजोरम लकड़ी की जड़ों से सौंदर्य पूर्ण कलात्मक सजावट की सामग्री बनाने में दक्ष हो चूका है। पूर्वोत्तर के घर–घर में हथकरघा चलाया जाता है। पारंपारिक वस्त्रों का निर्माण हर समुदाय अपनी प्राचीन परंपरा तथा प्रतीक

विधान की शैली में करता है। अधिकांश जनजातीय समुदाय की महिलाएँ अपने हाथ से बुने वस्त्र पहनती हैं। असमिया महिलाएँ तातशाल पर कपड़े बुनती हैं। पूजा के अवसर पर सफेद वस्त्र पहनने की परंपरा है। असम में महिलाएँ असमिया संस्कृति के अनुसार मेखला–चादर पहनती हैं। पुरुष वर्ग धोती–गमछा धारण करते हैं। मेहमान और रिश्तेदारों को गमछा भेंट किया जाता है। अतिथि को शराई में तांबूल–पान रखकर सत्कार किया जाता है। बिहू उत्सव में महिलाएँ, नृत्य करने वाली लड़कियाँ मूगा से बने कलात्मक वस्त्र पहनती हैं। असमिया महिलाओं को लाल रंग विशेष प्रिय है। समय–समय पर साड़ी भी पहनी जाती है। बोडो महिलाएँ दखाना पहनती हैं। सिक्किम का लिंबू समाज भी पारंपरिक वस्त्र धारण करता है। मणिपुरी महिलाएँ सूतीथि रेशम से निर्मित फनिक और चादर (आधी साड़ी) पहनती हैं। पूजा, कृषि, उत्सव के अवसर पर अलग–अलग रंग के वस्त्र पहने जाते हैं। मणिपुरी पुरुष सफेद–धोती तथा सफेद पगड़ी धारण करते हैं। मणिपुरी समाज में दुल्हन को राधा की तरह सजाया जाता है। पूर्वोत्तर भारत में वस्त्र पहनने की कला में असमिया, बोडो, खासी, मिसिड्, मणिपुरी आदि सौंदर्यात्मक ढंग से बहुत दक्ष है। पूर्वोत्तर भारत का सांस्कृतिक पक्ष अत्यंत गहन और व्यापक है। संगीत–नृत्य और उत्सवप्रियता यहाँ की विशिष्ट पहचान है।

अतुलनीय भारत का जीवंत सांस्कृतिक दर्शन हमें पूर्वोत्तर में स्पष्ट दिखाई देता है। भारत विविध भाषा, संस्कृतियों एवं कलाओं से परिपूर्ण देश है। देश के विभिन्न हिस्सों में कई तरह की भाषा एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में भारतीयता की इसी झलक को स्पष्टतया के साथ देखा जा सकता है। पूर्वोत्तर भारत के सभी राज्यों में भाषाओं और संस्कृति के स्तर पर इतनी विविधता है कि वहाँ हमें संपूर्ण देश की छवि दिख जाती है। यही इसकी विशेषताएँ हैं जो इसे अलग और विशिष्ट बनाती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. धनंजय सिंह, पुरबियों का लोकवृत्त वाया देस–परदेस, राजकमल प्रकाशन, 2020

2. कृपाशंकर चौबे, हिंदी और पूर्वोत्तर, वाणी प्रकाशन, 2018

3. वीरेंद्र परमार, असम लोक जीवन और संस्कृति, हिंदी बुक सेंटर, 2021

4. वीरेंद्र परमार, मेघालय लोक जीवन और संस्कृति, हिंदी बुक सेंटर, 2021

5. वीरेंद्र परमार, पूर्वोत्तर भारतः अतुल्य भारत, हिंदी बुक सेंटर, 2018

6. डॉ. हरेराम पाठक, भोजपुरी एवं असमिया संस्कार गीतों का तुलनात्मक विश्लेषण, रूद्र पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2020

7. डॉ. सी. इ. जीनी, पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य, वाणी प्रकाशन, 1990

8. सुनील कुमार सिंह, आलोक पूर्वोत्तर भारत, रूद्र पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2019

– आर-520, खसरा नं.–45/7, भाग्य विहार, रानी खेड़ा, नई दिल्ली–110081

❑❑❑

पूर्वोत्तर भारत के त्योहारों में लोक जीवन की अभिव्यक्ति

डॉ. सुनील कुमार शॉ

पूर्वोत्तर भारत में सम्मिलित आठ राज्यों में अलग–अलग प्रकार की जनजातियाँ हैं। उनकी अपनी अलग–अलग संस्कृति है। ये अपनी खुशी, उल्लास, आनंद का उपभोग पर्व, त्योहार एवं उत्सवों के माध्यम से करते हैं। पूरे भारत में पूर्वोत्तर का त्योहार एवं उत्सव प्रसिद्ध हैं। रंग–बिरंगे उत्सवों, त्योहारों में इस राज्य का सौंदर्य और भी मनोरम हो जाता है। पूर्वोत्तर भारत को मैदानी भाग से जोड़ने वाला राज्य असम है। असम में भिन्न प्रकार की जनजातियाँ हैं। इनके त्योहार एवं उत्सव वर्षभर धूम मचाते रहते हैं। असम का सबसे प्रसिद्ध त्योहार 'बिहू' है। बसंत एवं शरद के आगमन पर नृत्य एवं गीत का त्योहार है– 'बिहू'। अपने देश के अन्य कई उत्सवों की तरह इसका संबंध भी कृषि से है। यह त्योहार आनंद का प्रतीक है। 'बिहू' यहाँ की संस्कृति का प्रतीक है। बिहू उत्सव तीन प्रकार के होते हैं। –कंगाली बिहू, भोगाली बिहू और तीसरा रंगाली बिहू। रंगाली बिहू इन तीनों बिहू में प्रमुख है। इस बिहू को बसंत के अवसर पर मनाया जाता है। पुराने वर्ष को विदा करके नए वर्ष का स्वागत करता है। इसमें सब छोटे अपने बड़ों को नमस्कार करते हैं और मंदिर में इकट्ठे होकर कीर्तन करते हैं। असम कृषि प्रधान राज्य है। मजदूर, कृषक अपनी मनोकामना पूरी होने पर संगीत और नृत्य से झूम–झूम कर अपनी थकान उतारते हैं और फिर से कार्य में जुट जाते हैं। बिहू का आरंभ दो दिन पहले से हो जाता है। इस उत्सव में खेती से जुड़ी चीजों को खिलाया जाता है। पूरे बिहू उत्सव में लाल रंग को प्रमुखता दी जाती है। युवतियाँ हाथों में मेहंदी लगाती हैं, लाल पाड़ वाली साड़ियाँ पहनती हैं। पुरुष भी हाथ में मेहंदी लगाते हैं। रंग के माध्यम से इनके मन का आनंद एवं खुशहाली देखी जा सकती है।

मेघालय के प्रमुख त्योहारों में शादसुक मिन्सिएम, नोङक्रेम, बङाला, बेहडिङख्लाम आदि के नाम लिए जा सकते हैं। बेहडिङख्लाम के दिन ये नृत्य, संगीत के माध्यम से त्योहार मनाते हैं। इनकी मान्यता है कि नृत्य, संगीत एवं नाटक के माध्यम से बुरी आत्माओं को समाज से भगाया जाता है। त्योहार में अनेक प्रकार के खेल खेले जाते हैं जिसका उद्देश्य मनोविनोद होता है। 'बेहडिङख्लाम' त्योहार की समाप्ति 'दात लोआखोट' नामक नृत्य से होती है। दो दल लकड़ी की गेंद से इस खेल को खेलते हैं। खेल के अंत को कृषि से जोड़ा जाता है। खेल में जो जीतता है माना जाता है उसकी खेती अच्छी होगी। नृत्य, संगीत के माध्यम से ईश्वर का धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

मिजोरम राज्य के लोग मूलतः किसान हैं। सरकारी नौकरी करने वाले एवं पेशेवर लोगों की संख्या भी इस राज्य में निवास करती है। कृषि प्रधान राज्य होने के कारण यहाँ के त्योहार एवं उत्सव भी कृषि आधारित हैं। मिजो में त्योहार को 'कुट' कहा जाता है। मिजोरम के विभिन्न त्योहारों में आजकल केवल तीन त्योहार चपचार, मिमकुट और थालफवांकुट ही ज्यादा प्रमुखता से मनाए जाते हैं। इसके अलावा यहाँ की ज्यादातर जनसंख्या ईसाई है। उनका मुख्य त्योहार 'क्रिसमस' है। बौद्ध एवं हिंदू धर्म के त्योहार भी यहाँ मनाए जाते हैं।

अलका कौशिक नागालैंड के पर्व–त्योहार के बारे में लिखती हैं– "ज्यादातर आदिवासी धर्मांतरित ईसाई हैं लेकिन अपनी मूल प्रकृति, धर्म और पुरानी परंपराओं से आज भी जुड़े हुए

हैं। यही कारण है कि पूरे बारह महीने नागालैंड की धरती पर उत्सवों के गान सुनाई देते हैं। ज्यादातर पर्व खेती–बाड़ी से जुड़े हैं और खाने–पीने, नाचने–गाने से लेकर सुखद और मौज–मस्ती के लिए जाने जाते हैं नागा समाज की मुक्त जीवनशैली को भी दर्शाते हैं ये पर्व, लेकिन उनके खुलेपन को किसी आमंत्रण की तरह लेने की भूल कतई नहीं करनी चाहिए।"[1]

मणिपुर में प्रत्येक जनजाति के अपने–अपने रीति–रिवाज हैं। इनके अपने–अपने देवता हैं। यहाँ तीन प्रसिद्ध नदियाँ हैं– इंफाल, नामबूल और बोराक। इन्हें प्रसन्न करने के लिए यहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। प्रत्येक जनजाति की खास संस्कृति और रीति–रिवाज हैं, जो इनके नृत्य, संगीत व पारंपरिक प्रथाओं में दृष्टिगोचर होता है। इस राज्य में इतने त्योहार होते हैं कि इसे उत्सव की भूमि भी कहा जाता है। यहाँ के प्रमुख त्योहारों में चेराओवा, रथयात्रा, डोलयात्रा आदि हैं।

त्रिपुरा बंगाली भाषा–भाषी के साथ–साथ देवबर्मा, कॉकबरक जनजातीय भाषा बहुल राज्य है। इस राज्य में जुलाई के महीने में सप्ताह भर 'खरचीपूजा' का उत्सव मनाया जाता है। अगरतला के पास स्थित एक पहाड़ी पर उनाकोटी तीर्थ है। यहाँ पर चट्टानों पर अनेक देवी–देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। जो बौद्धकालीन जान पड़ती हैं। अशोकाष्टमी के दिन यहाँ मेला लगता है। अगरतला से लगभग पच्चास किलोमीटर की दूरी पर रूद्रसागर नामक एक सुंदर झील है। इस झील के बीचों–बीच एक महल बना हुआ है। एक छोटी सी पहाड़ी पर त्रिपुरा सुंदरी का पीठस्थान स्थित है। दीपावली के समय यहाँ मेला लगता है। बंगाली नववर्ष अप्रैल के दूसरे सप्ताह में मनाया जाता है।

सिक्किम में ज्यादातर जनसंख्या हिंदू एवं बौद्ध धर्म को मानती है। यहाँ के नागरिक भारत के सभी मुख्य हिंदू त्योहारों जैसे दीपावली, होली, दशहरा आदि मनाते हैं। बौद्ध धर्म के लोग लहोसार, लूसोंग, सागा दावा, ल्हाबाब, ड्यूचेन डुपका, टेशी और भूमचू त्योहार मनाते हैं। लोसर त्योहार तिब्बती नववर्ष का त्योहार है जो मध्य दिसंबर में आता है। इस दौरान यहाँ के सारे दफ्तर, स्कूल, कॉलेज सप्ताह भर के लिए बंद रहते हैं। लोग छुट्टी में खुशी और उल्लास से त्योहार मनाते हैं। पर्यटकों को लुभाने के लिए यहाँ बड़े दिन का त्योहार भी मनाया जाता है। पाश्चात्य संस्कृति ने यहाँ के त्योहारों, लोकरंगों, उत्सवों, पर्वों को क्षति नहीं पहुँचाई है। यहाँ के लोग अभी भी अपनी परंपराओं से जुड़े हुए हैं।

अरुणाचल प्रदेश में पच्चीस से भी ज्यादा जनजातियाँ हैं, उनकी अपनी अलग–अलग मान्यताएँ हैं, उत्सव हैं, त्योहार हैं। समय–समय पर अपनी खुशी, उल्लास के लिए यह पर्व, उत्सव एवं त्योहारों का आयोजन करते हैं। अरुणाचल प्रदेश के उत्सव, पर्व के बारे में उल्लेख करते हुए लिखा गया है– "अरुणाचल प्रदेश में अलग–अलग जनजातियाँ हैं, और लगभग सभी के अपने रीति–रिवाज हैं, अपनी वेश–भूषा और अपनी भाषा है। सब लोगों की अपनी एक विशेष प्रकार की संस्कृति है। फिर भी सब लोग एक सूत्र में बँधे हैं, और सभी को भारतीय होने का भी गर्व है जितना अरुणाचल वासी होने का।"[2] अरुणाचल के अपर एवं लोवर सुबनश्री जिले के पूर्वी भाग में हिलमिरी नामक जनजातियाँ बड़ी संख्या में निवास करती हैं। इनका प्रमुख त्योहार 'बूरी–बूत' है। इस त्योहार को ये अनादिकाल से मनाते आ रहे हैं। इनके पुजारी 'न्यीब' के पास भगवान से प्राप्त असाधारण शक्ति होती है यही त्योहार के लिए स्थान का चुनाव करता है। इस त्योहार के बारे में जमुना बीनी ने लिखा है–

"पहले 'बूरी–बूत' त्योहार ग्राम स्तर पर मनाया जाता था और त्योहार मनाने का कोई निश्चित समय भी नहीं होता था। जब भी कोई प्राकृतिक आपदा और महामारी फैलती थी तब इस पर्व को मना लिया जाता था। किंतु बाद में इस पर्व को राजो (जनवरी) से

लोइकी (मार्च) महीने के बीच मनाया जाने लगा। ऐसी मान्यता है कि इन्हीं महीनों के दौरान ईश्वर सभी प्राणियों पर अपनी कृपा–दृष्टि सबसे अधिक रखते हैं।"[3]

अरुणाचल प्रदेश में आदी जनजाति के लोगों की जनसंख्या काफी है। आदी जनजाति का सबसे मुख्य त्योहार सोलुंग उत्सव है। आदी जनजाति में भी उपजातियाँ हैं– पासी, पदाम, मिलांग, पांगी। यह भी इस त्योहार को मनाते हैं। अंग्रेजी माह के सितंबर में इस त्योहार को मनाया जाता है। सोलुंग उत्सव की तिथि तय होने के बाद इसके लिए 'मीरी' का चयन किया जाता है। नौ दिनों तक चलने वाले सोलुंग उत्सव में पोनुंग नृत्य किया जाता है। अरुणाचल प्रदेश की पच्चीस से भी अधिक जनजातियों में से एक है तगिन। यह जनजाति मुख्य रूप से अपर एवं लोवर सुबनश्री जिले में निवास करती है। इनका प्रमुख त्योहार 'सी दोन्यी' है। यह त्योहार जनवरी की एक से चार तारीख के बीच आरंभ होता है। 'सी दोन्यी' में 'सी' का अर्थ 'धरती माँ' एवं 'दोन्यी का अर्थ 'सूर्य' होता है। तागिन मान्यताओं के आधार पर धरती पुलिंग है एवं सूर्य स्त्रीलिंग। अरुणाचल के सब त्योहारों की तरह इस त्योहार का संबंध भी कृषि से ही है। लोग अपने जीवन की सुख–शांति के लिए एवं प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए कामना करते हैं। जनवरी माह में भी तगिन जनजाति के लिए हर्ष, खुशी एवं उल्लास का माहौल रहता है। जनवरी तक इनकी फसल कटकर घर तक पहुँच जाती है। उसी की खुशी में एवं संपन्नता के आनंद में यह त्योहार मनाया जाता है। त्योहार में बड़े–बूढ़े, जवान, बच्चे, साक्षर, निरक्षर, अमीर, गरीब आदि सभी वर्ग के लोग बिना किसी भेदभाव के आपसी बैर मिटाकर इस त्योहार में शरीक होते हैं। अरुणाचल में मोनपा जनजातियाँ निवास करती हैं। मोनपा जनजातियों द्वारा नववर्ष का आरंभ होते ही पर्व, उत्सव एवं त्योहारों का आरंभ हो जाता है। इनका मुख्य त्योहार नववर्ष का त्योहार है। वर्ष का प्रथम त्योहार 'लोसर' होता है। इस त्योहार में लोग नए कपड़े पहनकर भगवान की पूजा करते हैं। सभी बड़े–बुजुर्ग छोटों को सुखी एवं मंगलमय जीवन के लिए आशीर्वाद देते हैं–

टाशी दीले फुन्सुम छोह
आमा बाट्र, कुगम जाहप्प
प्रैन दलु ले रेमगन ते, ज्ञागन फाह डौतो
जोमज्युक नऊ तेमरी शो। [4]

मोन्पा जनजातियों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया है। परंतु अपने जनजातीय त्योहारों का इन्होंने बहिष्कार नहीं किया है। अपने पारंपरिक त्योहारों के साथ ही साथ ये बौद्ध धर्म के पर्व, उत्सव एवं त्योहारों को मनाते हैं। इनका दूसरा मुख्य त्योहार छोइकोर है। यह त्योहार इनके समुदाय का एक प्रमुख धार्मिक त्योहार है, जिसे प्रत्येक चंद्रवर्ष के चौथे महीने में दो बार मनाया जाता है। इस त्योहार में बड़े बुजुर्ग को घर बुलाकर उनसे धर्म ग्रंथ का वाचन कराया जाता है। छोइकोर शब्द 'छोइ' एवं 'कोर' से बना है। जिसमें छोई का अर्थ 'धर्म ग्रंथ' एवं कोर का अर्थ 'परिक्रमा' करना है अर्थात् धर्म ग्रंथ को लेकर परिक्रमा करना ही इस त्योहार का मुख्य उद्देश्य है। इस त्योहार को यहाँ के लोग अपने समाज की सुख शांति एवं फसल की अच्छी पैदावार के लिए मनाते हैं। एक और प्रमुख त्योहार 'छेह चिलेङ' है। इस त्योहार को मोम्पा जनजाति पूर्णिमा के दिन मनाते हैं। प्रत्येक माह की पूर्णिमा को ज्यादातर लोग मांसाहार का सेवन नहीं करते हैं। पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के अंतर्संबंध में भिन्नता तो है पर इस भिन्नता में एकता है। इस एकता को स्पष्ट करते हुए शिवानंद झा ने लिखा है– "रंग–बिरंगी संस्कृति के बावजूद सामाजिक नियमों के पालन एवं जातीय परंपरा पर अटूट विश्वास अरुणाचल की विशिष्टता है, जो हमारी राष्ट्रीय पहचान का मूल स्वर है। परंपराओं के क्रमबद्ध अनुशीलन, किंतु विकासोन्मुखी स्वभाव के कारण ही स्वातंत्र्योत्तर काल में जिस गति से इस राज्य ने विकास के विविध आयामों में सफलता

अर्जित की है वह अन्य राज्यों के लिए अनुकरणीय हैं।"[5] भारत में विभिन्नता में एकता है। इस बात को पूर्वोत्तर भारत में आकर समझा जा सकता है। यहाँ पर बसने वाली अनेक जातियों के खान–पान, रहन–सहन, रीति–रिवाज, संस्कृति अलग–अलग है। फिर भी उनमें सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक स्तर पर समानता है। यही समानता उनकी विभिन्नता में एकता को प्रदर्शित करती है जो सर्वत्र भारत में दुर्लभ है। किसी भी संस्कृति में त्योहारों का स्थान सर्वोच्च होता है। पर्व, त्योहार एवं उत्सवों के माध्यम से ही हम उस समाज के लोक–रंग, समाज, संस्कृति को जान एवं पहचान सकते हैं। लगभग सभी जनजातियों का उत्सव कृषि से जुड़ा होता है। इस प्रकार के प्राचीन धार्मिक–सांस्कृतिक धरोहर के प्रतीक इन त्योहारों को असम, मेघालय, नागालैंड, मिजोरम, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश एवं त्रिपुरा के लोग सदियों से मनाते आ रहे हैं। परंपरा, लोकसंस्कृति एवं लोक–रंग को बचाने के लिए इन पारंपरिक त्योहारों को समाज में जिंदा रखने के लिए इन त्योहारों का प्रचलन आवश्यक है। इन त्योहारों, पर्व एवं उत्सवों की समाज में आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदीनेस्ट / डेस्पेर्ड्स hindinest/desperdes

2. जनपथ, संपा. अनंत कुमार सिंह, प्रो. नंद किशोर पांडेय (अतिथि संपा.), दिसंबर, 2009

3. वही

4. फोक सांग एंड डांस ऑफ अरुणाचल प्रदेश खंड (i) डॉ. एन. ओसिक पृ.50

5. जनपथ, संपा. अनंत कुमार सिंह प्रो. नंद किशोर पांडेय (अतिथि संपा.), दिसंबर, 2009

– हिंदी विभाग, नेहू, शिलांग, मेघालय–793022

❑❑❑

असम की चाय जनगोष्ठी में स्त्री–जीवन

प्रियंकादास

आमतौर पर नारी कहने से ममत्व, कोमलता, सहजता आदि भावों का बोध होता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति में वैदिक काल में नारी की यही छवि प्रचलित थी। लेकिन सभ्यता के विकास के साथ–साथ नारी की इस छवि में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता आया। यह परिवर्तन हमें समाज के सभी वर्गों, जातियों एवं क्षेत्रों की महिलाओं के संदर्भ में देखने को मिलता है। बात केवल अनपढ़, गरीब, निम्नजाति या वर्ग की स्त्रियों की दशा ही नहीं है बल्कि पढ़ी–लिखी, मॉडर्न महिलाओं की स्थिति भी आज बहुत संतोषजनक नहीं है। उदाहरण के तौर पर समाज की सेलिब्रिटी श्रेणी से ताल्लुक रखने वाली मीडिया और सिनेमा जगत में काम करने वाली महिलाओं की स्थिति पर भी विचार किया जा सकता है जिन्हें उनके साथी पुरुष कलाकारों या सहकर्मियों के समान काम करने के बावजूद उनके बराबर पारिश्रमिक नहीं मिलता। अन्य कार्य–क्षेत्रों में भी लगभग यही स्थिति है। इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि अमुक वर्ग, जाति या क्षेत्र की महिलाएँ ही लैंगिक भेदभाव की शिकार हैं। इस संदर्भ में यदि हम असम के चाय बागान की महिलाओं की स्थिति पर ध्यान दें तो वह अत्यंत दयनीय एवं विचारणीय है। जहाँ एक ओर इनके कर्मस्थल अर्थात् चाय बागानों और उद्योगों में आर्थिक शोषण होता है, वहीं दूसरी ओर अपने पारिवारिक जीवन में आए दिन ये महिलाएँ शारीरिक और मानसिक शोषण का शिकार होती हैं। तथापि चाय के बागानों में 'एटि कलि दुटि पात' (चाय की कोमल पत्तियों) को धैर्यपूर्वक बटोरती चाय जनगोष्ठी की महिलाओं के चेहरे की आभा कवि निराला की पत्थर तोड़ती मजदूर स्त्री से तनिक भी अलग नहीं है। विख्यात आदिवासी लेखिका वंदना टेटे ने महिला मजदूर के विलक्षण सौंदर्य के उल्लेख में यह लिखा है कि ***टांगी, हंसिया,/ दाब, दरांती/ ये सब हमारी सुंदरता के/ प्रसाधन हैं/ जिन्हें हाथ में पकड़ते ही/ मैं दुनिया की/ सबसे सुंदर/ स्त्री हो जाती हूँ।***

गौरतलब है कि चाय उद्योग असम की अर्थव्यवस्था की नींव है। आज भले ही इस प्रदेश में अन्य कल–कारखानों एवं उद्योगों की स्थापना हो गई है लेकिन चाय उद्योग का यहाँ की अर्थव्यवस्था के उन्नयन में महत्वपूर्ण योगदान है। समूचे भारत की कुल चाय उत्पादन का सर्वाधिक हिस्सा असम से ही निर्यात होता है। इन चाय उद्योगों तथा बागानों ने असम की एक बहुत बड़ी आबादी को रोजी– रोटी उपलब्ध कराया है। असम में चाय उद्योग की स्थापना के प्रारंभिक चरण में लगभग सन् 1837 ई. में पहली बार चाय मजदूरों को भारत के अलग–अलग राज्यों से लाया गया। उसके बाद से लेकर लगभग 1960 ई. तक उद्योगों तथा बागानों के रख–रखाव के लिए श्रमिक लाने का यह सिलसिला जारी था। भारत के भिन्न–भिन्न पृष्ठभूमि से लाए गए भिन्न भाषा–भाषी और संस्कृति के इन श्रमिकों ने असम के परिवेश, संस्कृति के अनुरूप एक नए समाज का गठन किया। वर्तमान असम की 'चाय जनगोष्ठी' इन्हीं बहुरंगी भाषा और संस्कृति की समन्वित इकाई है। चाय जनगोष्ठी के श्रमिक शोषण की मार को झेलते हुए भी असम को अपनी जननी–जन्मभूमि मानते हैं तथा अपने कर्म के प्रति आजीवन समर्पित हैं।

दरअसल, जब बात चाय जनगोष्ठी के असम आगमन की होती है तो इसका सबसे क्रूर पक्ष यह है कि इन चाय श्रमिकों के भोलेपन, दरिद्रता और परिश्रमी स्वभाव का यथोचित लाभ उठाकर असम लाया गया और तमाम यातनाएँ देकर इनसे दिन–रात मजदूरी करवाई गई। इनके समाज में प्रचलित लोकगीतों से रूबरू होने पर यह ज्ञात होता है कि इन्हें झूठे वायदे कर धोखे से और बात न मानने पर बलपूर्वक असम लाया गया। पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

सरदार बोले काम काम, बाबू बोले धरे आन,
साहेब बोले लिबो पिठेर चाम,
हे बिदेशी श्याम, फाँकि दिए आनाइलि आसाम[1]

गीत की पंक्तियों का आशय यह है कि चाय जनगोष्ठी के महिला और पुरुष सभी श्रमिकों को धोखे (फाँकि) से असम लाकर न्यूनतम पारिश्रमिक के बदले दिन–रात श्रम कराया जाता था। किसी कारणवश बात न मानने पर अथवा किसी भी तरह का प्रतिरोध करने पर मार–मार कर इनकी चमड़ी उधेड़ दी जाती थी। इन चाय श्रमिकों की ऐसी करुण और विवशतापूर्ण स्थिति थी कि वे न ही अपने मूल स्थान को जा सकते थे और न ही असम में इन्हें दो वक्त की रोटी ठीक से मिल पाती थी। इस स्थिति में आज कोई बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। हालिया दृश्य यह है कि आज भी अन्य पेशों के मुकाबले चाय उद्योग में पारिश्रमिक सबसे कम है। आज भी चाय मजदूर नून–भात से अपना पेट भर रहे हैं।

विस्थापन और पलायन के दंश से जूझते सदियों से चाय बागानों में कमरतोड़ परिश्रम कर रहे ये श्रमिक वर्ग आज भी शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि हर क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं और विकास हेतु प्रतीक्षारत हैं। असम की कुल आबादी का अनुमानतः 17-18% चाय जनगोष्ठी के लोग हैं। जिसमें पश्चिम बंगाल, तत्कालीन बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, ओड़िशा, आंध्र प्रदेश आदि राज्यों के सौ से भी अधिक जाति और जनजाति, जैसेः उड़िया, मुंडा, तेलंगा, माझी, साउरा, साउताल, तेली, कुर्मी, कुम्हार आदि समुदाय हैं। ये तो हुई बात संपूर्ण चाय जनगोष्ठी की। लेकिन इनमें भी चाय जनगोष्ठी की महिलाओं की स्थिति तो और भी दूभर है। इनका बचपन शिक्षा और खेल–कूद से कोसों दूर दो वक्त की रोटी की आस में बीतता है तो कुछ घरों में यह भी देखा जाता है वे अपनी बेटियों को समृद्ध परिवारों में दैनिक कामकाज के लिए भेज देते हैं। इससे उनके घरों में दो पैसे अधिक आने की संभावना बढ़ जाती है। जैसे ही लड़कियाँ चाय बागानों में काम करने योग्य हो जाती हैं तो वे रोजाना की आर्थिक दौड़ में शामिल हो जाती हैं। अर्थात् यह कहना कदाचित गलत नहीं होगा कि चाय मजदूरों की लड़कियाँ अपने घरों की आर्थिक जरूरतों की पूर्ति में होश सँभालने भर से जुट जाती हैं। इनके समाज में लड़कियों की शादी बहुत ही कम उम्र में कर दी जाती है या वे कई बार अपनी इच्छा के अनुसार ही प्रेम विवाह कर लेती हैं। अक्सर कम आयु में ही गर्भवती हो जाना इनके स्वास्थ्य व जीवन के प्रति एक बहुत बड़ी समस्या या चुनौती है। चाय जनगोष्ठी की महिलाओं के जीवन की इन स्थितियों को कई जगह गीतों के माध्यम से भी व्यक्त किया गया है–

दुःख भोरा जीबोन रोहिते ना पारे मोन
सोचे छिली गो पोढ़े–लिखे गोर्हिबो जीबोन
ना होइलो सोपना पुर दी तोके पूरोन
कोम बोयोसे शादी दिलो जीबोन हामार भांगे गेलो
मोर पीछे छेनाई जीबोन बेमारे मोरोन
कि होइलो भाबी के काटाछि जीबोन"[2]

गीत की इन पंक्तियों में चाय जनगोष्ठी की किशोरी महिलाओं के जीवन की विडंबना को चित्रित करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार कम उम्र में ही उनका विवाह संपन्न होने के कारण बाद में उनका जीवन

अत्यंत दुखद और अस्वास्थ्यकर रहता है। बाकी लड़कियों की तरह वे भी पढ़–लिखकर अपना जीवन बेहतर तरीके से जीना चाहती हैं। लेकिन उनके सारे स्वप्न अधूरे ही रह जाते हैं तथा इन्हीं अधूरे सपनों के ताने–बाने और तमाम दुखों–तकलीफों में उलझते हुए सोचते–विचारते ही उनका शेष जीवन बीतता है।

चाय उद्योग प्रमुख रूप से मशीनों के मुकाबले मानव श्रम पर निर्भर है। इसीलिए ब्रिटिश सरकार पुरुष और महिला श्रमिकों को यहाँ सुख सुविधाओं से परिपूर्ण जीवन, कम श्रम में अधिक आमदनी आदि अनेक झूठे प्रलोभन देकर असम ले आई थी। परंतु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत रही। और, आज भी काफी हद तक विपरीत ही है। चाय बागानों में काम करने वाली महिला कहने भर से ही एक वास्तविक और जीवंत प्रतिछवि हमारे आँखों के सामने आती है कि ये महिलाएँ चाय की हरी–हरी पत्तियाँ अर्थात् 'एटि कलि दूटि पात' के बीच पाँचों उंगलियाँ फिराती है। अपने सीने से बच्चे को चिपकाए, पीठ पर पत्तों की टोकरी लादे हुए धूप और वर्षा से संघर्ष करती हुई घर–परिवार की आर्थिक तंगी को भरसक दूर करने का प्रयास करती है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध कथाकार मधु कांकरिया के यात्रा–संस्मरण 'साना साना हाथ जोड़ि ...' का वह प्रसंग याद आता है जिसमें वे लिखती हैं कि– " पीठ पर बच्चे को कपड़े से बाँधकर पत्तों की तलाश में वन–वन डोलती आदिवासी युवतियाँ। उन आदिवासी युवतियों के फूले हुए पाँव और इन पत्थर तोड़ती पहाड़िनों के हाथों में पड़े ठाठे, एक ही कहानी कह रहे थे कि सारी मलाई एक तरफ, सारे आँसू, अभाव, यातना और वंचना एक तरफ।" वास्तव में ये महिलाएँ असम के मनमोहक सौंदर्य चाय बागानों में मौजूद हरियाली के बीच ही जीवन यापन हेतु कर्मस्थल के साथ–साथ उसमें संघर्ष करती हुई खुशी और आनंद का माध्यम भी ढूँढ़ लेती है। अपनी तमाम तरह की तकलीफों को दरकिनार कर ये महिलाएँ गाते–गुनगुनाते अपने पेशे के प्रति कर्मठता को दर्शाती हैं। आज तक ऐसी कोई मशीन नहीं बनी है जो इतनी सफाई के साथ चाय की पत्तियों को चुन सके। यह कार्य बहुत ही धैर्य और बारीकी का होता है। यही कारण है कि बागानों में पुरुषों को नहीं बल्कि महिलाओं को ही पत्ती तोड़ने का कार्य दिया जाता है।

चाय जनगोष्ठी की महिलाएँ गर्भवती होने के नौ महीने तक मजदूरी करती रहती हैं। सूर्य की पहली किरण से ही उनका जीवन जीने के प्रति दृढ़ता और संघर्ष दिखाई पड़ता है। सुबह से घर का काम करने के बाद सात बजे से पूर्व ही बागानों में उपस्थित होना अनिवार्य है। इसके अलावा इन्हें लगभग आठ घंटे में चौबीस किलो चाय की पत्ती तोड़नी होती है। वरना दिहाड़ी में कटौती। ऐसी तमाम तरह की शर्तो के बरक्स इन महिलाओं को श्रम के अनुकूल वेतन नहीं मिलता है। चाय जनगोष्ठी की महिला श्रमिकों के कामकाजी जीवन की इन समस्याओं का स्पष्ट उल्लेख गीतों में कई जगह मिल जाता है। उदाहरण के लिए हम नीचे उद्धृत पंक्तियों को देख सकते हैं:

चल चंपा चल पैदल–पैदल
एक नंबर बागाने पाता तुला काम रे
बाबू साहब देख ली, घुराई दिबे पोट लै
नाई पाबि पूरा तलब रे, नाई पाबि पूरा तलब रे

* * * *

एकटी कोली दूटि पाताए धोराए जे हाथ नाचाबी
जोल्दी मोल्दी टुकड़ी भोराए आगे चाय ओजोन दिबी
पूरा काम कोर लै बानास पाबि ढेर से,
पूजा तो आसे गेलो रे[3]

तात्पर्य चह है कि चंपा नाम की लड़की अपनी बाकी साथियों के साथ बागान में पत्ते तोड़ने के लिए जाती है। उसी में उनके साथियों द्वारा गीत के माध्यम से उनको यह ध्यान दिलाया जाता है कि उन्हें बागान तक

जल्दी–जल्दी जाना है। अगर थोड़ी सी भी देर हो गई और सरदार यानी बाबू साहब ने देख लिया तो उनकी दिहाड़ी में कटौती हो जाएगी, पूरा वेतन नहीं मिलेगा। बागान पहुँचने के बाद भी चाय की पत्तियों को तेजी से तोड़कर निश्चित परिमाण में उनका वजन करवाना होता है। तभी जाकर उनका काम पूरा होगा और पूजा के दौरान उन्हें बोनस राशि भी प्राप्त होगी। इस प्रकार बिल्कुल तल्लीनता से समय का ध्यान रखते हुए, भाग–दौड़ करते, विभिन्न शर्तों को निभाते हुए ये महिलाएँ अपने कठिन श्रम के ऐवज में दो पैसे कमा पाती हैं।

ऐसा कहा जाता है कि चाय जनगोष्ठी की महिलाओं के गर्भ से बच्चा जन्म लेने के पूर्व ही वह चाय मजदूर बन जाता है। तात्पर्य यह है कि ये लोग पीढ़ी–दर–पीढ़ी इसी जीविका से जुड़े हुए हैं। बूढ़े से लेकर बच्चे तक सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में कहीं न कहीं इसी पेशे को अपनी जीविकोपार्जन का माध्यम बनाए हुए हैं। यही कारण है कि इनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत सोचनीय है। चाय जनगोष्ठी के पुरुष एवं महिलाओं दोनों में ही नशे की प्रवृति देखी जाती है। इससे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार की गुंजाइश और कम हो जाती है साथ ही पारिवारिक कलह और अशांति बरकरार रहती है। आए दिन चाय जनगोष्ठी की महिलाएँ अपने कर्मस्थल पर आर्थिक, शारीरिक शोषण का शिकार होने के अतिरिक्त घरेलू हिंसा का भी शिकार होती हैं। पति द्वारा शराब पीकर मारपीट करना तो जैसे दैनिक कार्यसूची का ही हिस्सा हो। इसे न केवल घर की महिलाएँ झेलती हैं बल्कि घर की बेटियाँ भी इसका शिकार होती हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो चाय जनगोष्ठी की ये महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक शोषण के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक शोषण के चौतरफे मार से जूझती हैं।

हमादेर घोरे एकटि बेटी शादी होइलो छोटो में
ओई बेटीटा दुःख पाए घोरे घूरे आसेछे
शिक्खा नाइखे साइथ्य नाइखे पोरियाल केमोन चोलाबे
भांगा शोरिल निए बेटी घोरे चोले आसेछे
हामि सोबके बोली भाई रे छोटोए शादी कोरो ना
स्कूल पोढ़ो, खेलो–कूदो, साजाव तोदेर सोपोना [४]

इन पंक्तियों में चाय मजदूरों की बेटियों के विवाह के पश्चात् के जीवन को दिखाया गया है कि किस प्रकार छोटी उम्र में विवाह होने से न केवल उन्हें आर्थिक तंगी का बल्कि घरेलू हिंसा, गाली–गलौज, कलह जैसी तमाम विसंगतियों का सामना करना पड़ता है। इससे उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। और, आखिरकार थक हार कर वे वापस अपने मायके लौट आती है। अपने जीवन से जुड़ी अनेक विडंबनाओं का जिक्र करते हुए वे सबसे कम उम्र में शादी न करके लड़कियों को पढ़–लिखकर अपने सपनों को सजाने और पूरा करने हेतु कहती हैं।

विशेषकर इन महिलाओं में अज्ञानता और सजगता की कमी के कारण समय–समय पर पारित सरकारी नीतियों एवं सुविधाओं से ये अनभिज्ञ रह जाती हैं। और अगर ये इनके बारे में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश भी करें तो अक्सर इनसे रिश्वत माँगा जाता है या फिर गुमराह किया जाता है। बावजूद इन सभी समस्याओं के चाय जनगोष्ठी की महिलाओं का उनके सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में योगदान अतुलनीय है। यद्पि इनकी भाषा, संस्कृति पर असम की भाषा एवं संस्कृति का काफी प्रभाव पड़ा है। लेकिन आज भी इनकी भाषा, कला और संस्कृति अपनी जड़े जमाए हुए हैं। यही कारण है कि इनकी लोक–संस्कृति, प्रसिद्ध लोक–नृत्य 'झुमुर' आदि अपने आप में उतना ही विशिष्ट है जितना कि अपने सरलता, कर्मठता और साज– सज्जा से परिपूर्ण चाय जनगोष्ठी की महिलाएँ। चाय जनगोष्ठी के लोक पर्व 'करम पूजा', 'टुचु पूजा' में महिलाओं को विशेष वरीयता दी जाती है। प्रमुख जातीय पर्व 'करम पूजा' साल में तीन बार आयोजित

किया जाता है। परंतु भाद्र महीने की एकादशी तिथि को मनाए जाने वाले जितिया करम में चाय जनगोष्ठी के सभी लोग पूरी निष्ठा से करम राजा के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव व्यक्त करते हैं। इस पूजा के विभिन्न रीतियों जैसे 'झावा जागरण' से लेकर 'करम राजा के विसर्जन' तक में लड़कियों की विशेष भूमिका है। चाय जनगोष्ठी की ये लड़कियाँ स्वयं को कृष्ण की प्रेमिका और भक्त कहती हैं तथा आराध्य देव करम राजा के प्रति जोहार व्यक्त करते हुए कृष्ण के रूप में पति, प्रियतम और पुत्र के प्राप्ति की कामना करती है। पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

गोपीन सबे करिल करम एकदशी,
कृष्णके पाइल पुत्र देख जशोमती
गोपीन सब पाइल कृष्णके पति
ताइत करम पूजै जत करामती [५]

करम पूजा में गाए जाने वाले विविध लोकगीतों में यशोदा, राधा, कौशल्या, सीता आदि पौराणिक मिथकीय स्त्री चरित्रों के माध्यम से स्त्री–जीवन की वेदना और विडंबना को बखूबी अभिव्यक्त किया गया है। चाय जनगोष्ठी के झुमुर लोकगीतों में करम पूजा के संदर्भ में स्त्री सुलभ मनोदशा और अकांक्षाओं को स्पष्टतः चित्रित किया गया है। करम पूजा के जहाँ एक ओर लंबे समय से नवविवाहिता वधु के अपने मायके जाने के लिए प्रतीक्षित है तो वहीं दूसरी ओर जिस स्त्री का पति दूर देश में रहता है उसके लिए पति की अनुपस्थिति करम पूजा में उदासी का कारण बन जाती है। स्त्री की इन अलग–अलग मनोदशा का वर्णन झुमुर गीत की पंक्तियों में कुछ इस प्रकार देख सकते हैं–

कांशी फूल फुटि गेल
आशा मर टूटी गेल
दिने पहर देखलि डहर
भाया हामर नाहि आलइ घर। [६]

उद्धृत पंक्तियों से आशय यह है कि चाय जनगोष्ठी की युवतियाँ विवाह के पूर्व तमाम आर्थिक तंगी समझौता करते हुए जीवन के प्रति यह आशा रखती है कि विवाह के बाद उसके सभी दुःखों और तकलीफों से निजात मिलेगी। परंतु ससुराल जाकर भी उसे उन्हीं परिस्थितियों में जीवन गुजारना पड़ता है। आर्थिक तंगी से जूझती महिलाएँ दिनों– दिन अपने मायके वालों से मिल नहीं पाती। वार्षिक करम पूजा के अवसर पर हर्ष से वह अपने भाई की बाट जोहती है; और मायके से कोई खोज खबर नहीं आने पर उसके हताशा की कोई सीमा नहीं रहती। इसीलिए वह कहती है करम पूजा के समय खिलने वाले गेंदे के फूल को देखकर उसके मन में भी उत्साह उमड़ता है। किंतु अपने घरवालों से न मिल पाने का दुःख उसे अंदर तक आहत कर देता है।

इसी तरह विवाहित महिला को भी करम पूजा के अवसर पर अपने पति की अनुपस्थिति बहुत खलती है। जब करम पूजा में सामूहिक रूप से चाय जनगोष्ठी के सभी सपरिवार उस अनुष्ठान में उपस्थित होते हैं; ऐसी स्थिति में उस विवाहिता स्त्री का मन एक क्षण भी अपने प्रिय के विक्षोह को बर्दाश्त करने में सक्षम नहीं है। उसके पास अपनी वेदना को अभिव्यक्त करने हेतु शब्द रूपी अश्रु के अलावा और कुछ शेष नहीं है। इस भाव से संबंधित झुमुर गीत की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

भादोर एकादशी राइते मोने परे
तोके घने–घने धनि रे
करम साले सुना–सुना मन जो

* * * *

रीझे रंगे काके बोले
भाषा नाहीं ओहो आवे मने
धनि रे तोरे लागिन नैना बहे लोर जो [७]

चाय जनगोष्ठी में प्रचलित 'टुचु/टुसू पूजा' मूलतः महिलाओं का पर्व है। इस पर्व में टुचु देवी के माध्यम से चाय जनगोष्ठी की विवाहित महिलाएँ समाज में त्याग, समर्पण और स्त्रीत्व को सर्वश्रेष्ठ स्थापित करती हैं। टुचु देवी की आराधना करते हुए ये महिलाएँ समाज में पतिव्रत धर्म को सबसे पवित्र मानते हुए अपने सौभाग्य तथा खुशहाल परिवार की कामना करती हैं।

चाय की हरियाली के मध्य अपना अधिकांशतः जीवन व्यतीत करने वाली चाय जनगोष्ठी की ये महिलाएँ कठिन परिश्रमी होती हैं। ये अत्यंत निश्छल प्रवृति की, सहज–सरल जीवन यापन करने वाली और मानवीय संवेदनशीलता से भरी होती हैं। इन्हें संपूर्ण असम के चाय उद्योग की आधारशिला कहना कदाचित गलत न होगा। अपने जीवन की तमाम तरह की कठिनाईयों से जूझते हुए अत्यंत कठिन परिश्रम से ये महिलाएँ अपनी न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने में सक्षम हो पाती हैं। नारी सशक्तिकरण के वर्तमान दौर में भी इनका सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शारीरिक शोषण जारी है। परंतु इनके विभिन्न हालातों और जीवन यापन के संदर्भों व शर्तों में बहुत हद तक सुधार हुआ है। साथ ही लड़कियाँ शिक्षा एवं स्वास्थ्य के प्रति भी काफी सजग हुई हैं। इनके समाज में भी पिंकी कर्मकार जैसा भी है जो चाय बागानों से निकलकर लंदन ऑलिंपिक तक का सफर तय करती हैं। इसके अतिरिक्त समाज सेविका, लेखिका, शिक्षिका, प्रशासन से संबंधित विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए समाज और संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास में अपना योगदान देने और स्वयं को स्वावलंबी बनाने हेतु तत्पर हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डिंबेश्वर तासा : चाह चनगोष्ठीर समाज–संस्कृति, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2012, पृष्ठ 47
2. https://youtu.be/74FBiSHhGF4
3. https://youtu.be/_vu2lDdytDI
4. https://youtu.be/7KYDEslPHZg
5. सुशील कुर्मी : मेघराज कर्मकार रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2018, पृष्ठ 200
6. डिंबेश्वर तासा : चाह जनगोष्ठीर समाज–संस्कृति, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2012, पृष्ठ 49
7. https://youtu.be/Cb9HBxbPv4s

– मानव–कल्याण नामघर रोड, जिला– तिनसुकिया, असम–786125

❑❑❑

असमिया के आंचलिक उपन्यास 'सेइ नदी निरबधि' और 'पिता–पुत्र' में चित्रित शिक्षा व्यवस्था

शहिदुल इस्लाम खान

सारांश : असमिया उपन्यासकार निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' (1963 ई.) और होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' (1975 ई.) दोनों ही आंचलिक उपन्यास की धारा के अंतर्गत आते हैं। आंचलिकता विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। जिसका उदय पाश्चात्य साहित्य में हुआ है। विश्व के औपन्यासिक साहित्य में आंचलिकता के उद्भव–विकास में अंतर पाया जाता है। भारतीय उपन्यास साहित्य की विकास–यात्रा में जो महत्वपूर्ण मोड़ दिखाई देते हैं उनमें आंचलिक उपन्यास अपनी एक महत्वपूर्ण पहचान रखता है। हिंदी साहित्य में आंचलिक उपन्यास ने एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसके साथ साथ असमिया साहित्य में भी आंचलिक उपन्यासों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। असमिया साहित्य में आंचलिक उपन्यासों का विकास हिंदी आंचलिक उपन्यास साहित्य के साथ–साथ ही हुआ जबकि असमिया साहित्य में उपन्यास विधा हिंदी साहित्य के उपन्यास विधा से तीस–चालिस (30–40) साल बाद प्रारंभ हुआ। असमिया के आंचलिक उपन्यासों में जनजाति की सभी समस्याओं को सामने लाने का भरपूर प्रयास किया गया है। प्रस्तुत लेख में निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' और होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' उपन्यासों में से ग्रामीण अंचल में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

शिक्षा व्यवस्था : शिक्षा का मनुष्य जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा मनुष्य को सद आचरण, सभ्यता और अनुशासन का पाठ सिखलाती है। साथ ही चरित्र निर्माण में भी सहायता करती है। शिक्षा ही मनुष्य को अच्छा नागरिक बनाती है। शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति से न होकर संयमित एवं सफल जीवन से है। शिक्षा अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। किसी भी राष्ट्र की प्रगति एवं पहचान शिक्षित नागरिकों पर निर्भर होती है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति की प्रगति के साथ ही देश की प्रगति में भी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। अंधविश्वास, कुप्रथा, रूग्ण मानसिकता एवं पिछड़ापन आदि से मुक्ति पाने के लिए शिक्षा अनिवार्य है। राष्ट्रीय एकात्मता, नैतिकता, सामंजस्य, मूल्य संवर्धन आदि के लिए भी शिक्षा जरूरी है। भारतीय संविधान में उद्घोषणा करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि "राज्य अपने विकास एवं आर्थिक क्षमता की सीमाओं के अंतर्गत कार्य करने, शिक्षा प्राप्त करने एवं बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अयोग्यता एवं दूसरे अक्षमतापूर्ण अवसरों के जनता के अधिकारों की सुरक्षा प्राप्ति के लिए प्रभावपूर्ण व्यवस्था करेगा।"[1] गाँवों में अर्थव्यवस्था ठीक न होने के कारण वहाँ का समाज मूल आवश्यकताओं से वंचित है। भारतवर्ष गाँवों का देश है। स्वातंत्र्यपूर्व काल में गाँवों की शैक्षिक दशा दयनीय रही है। स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा का व्यापक रूप में प्रचार एवं प्रसार हुआ है। पिछड़े गाँव, अंचल एवं जनजातियों तक शिक्षा में जोड़ने की बहुमुखी प्रयास हुए हैं। इसके बावजूद वहाँ शिक्षा की दशा संतोषप्रद नहीं है। भारत को प्रगतिशील राष्ट्र बनाने के लिए ग्रामीण नागरिकों को शिक्षित बनाकर अंधविश्वासों से मुक्त करना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का साक्षर होना अत्यंत जरूरी है। विवेच्य उपन्यासों में से

इसका विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है।

शिक्षा में भौतिक सुविधाओं का अभाव : अंचलों में एक ओर प्राकृतिक परिवेश शिक्षा में बाधा बनता है तो दूसरी ओर वहाँ भौतिक साधन–सुविधाओं का अभाव पाया जाता है। शहर से दूर वन एवं पहाड़ों में बसे अंचल और बाढ़ ग्रस्त क्षेत्र यातायात तथा अनेक प्राथमिक जरूरतों से वंचित हैं। वहाँ पाठशालाओं के अभाव के साथ ही इमारत, साधन, अध्यापकों का अभाव विद्यमान है। आज भी देश के अनेक गाँव और पिछड़े अंचलों में प्राथमिक शिक्षा की दशा संतोषप्रद नहीं है। निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' के पगलादिया अंचल में शिक्षित लोगों की संख्या न के बराबर है। इस गाँव में पढ़ने के लिए सुविधा ही नहीं है तो गाँव वालों को पढ़ने की चाहत कहाँ से आएगी। गाँव के बच्चे खेल–कूद में ही सारा दिन बिता देते हैं। कोई भी बच्चा पढ़ना नहीं चाहता और माता–पिता भी उन्हें पढ़ने के लिए मजबूर नहीं करते। जिसके कारण ये बच्चे सारा दिन इधर–उधर घूमते–फिरते ही निकाल देते हैं। ऐसी स्थिति में शहर से आए हुए प्रमोद डेका दुविधा में पड़ जाता है। वह अपने बच्चे को पढ़ाना चाहता है। लेकिन गाँव (पगलादिया गाँव) की हालत देखकर घबरा जाता है। गाँव में प्राथमिक विद्यालय के अलावा कोई दूसरा विद्यालय नहीं है। दो–तीन गाँव मिलाकर एक उच्च माध्यमिक विद्यालय (कक्षा सात तक का विद्यालय) है, जो उनके (प्रमोद डेका) घर से पाँच–छह कि.मि. दूरी पर है जिसमें अपने बेटे दीपू को कक्षा सात में दाखिला कराता है। विद्यालय जाने के लिए दीपू को नदी पार (अतिक्रम) करके जाना पड़ता है और गाँव की स्थिति इतनी बुरी है कि बारिश के मौसम में रास्ता–घाट बहुत ही खराब हो जाता है।[2] इस तरह की बहुत सारी असुविधाएँ झेलकर विद्यालय की ओर जाना पड़ता है जो बच्चों के लिए भारी पड़ता है। पढ़ने के लिए आवश्यक होता है विद्यालय। अगर विद्यालय ही न रहे तो बच्चों में पढ़ाई की इच्छा कहाँ से आएगी?

शिक्षा के इस क्रांतिकारी दौर में भी शिक्षा को लेकर ग्रामीण–अंचल की स्थिति संतोषजनक नहीं हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जहाँ सारी दुनिया शिक्षा के क्षेत्र में आकाश की बुलंदियों को छू रही है, वहीं हमारे देश भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की स्थिति अभी भी चिंताजनक है। होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' उपन्यास में मॉहघूलि गाँव के विद्यालयों में शिक्षक की कमी व शिक्षा के क्षेत्र में गैर जिम्मेदारी के कारण शिवनाथ अपने बेटे कालिनाथ को गाँव के विद्यालय में पढ़ाना नहीं चाहते। जिसके कारण उसे पढ़ने के लिए शहर के सरकारी विद्यालय में दाखिला दिलवाना पड़ता है– "शिवनाथ का मँझला बेटा कालिनाथ हॉस्टल में रहकर शहर के उच्च विद्यालय में पढ़ता है; मॉहघूलि में सरकारी सहायता–प्राप्त उच्च विद्यालय होते हुए भी काबिल शिक्षक के अभाव में आजतक इस विद्यालय से कोई अच्छा रिजल्ट नहीं दिखा; प्रधानाध्यापक विद्यालय के काम से ज्यादा आंचलिक राजनीति में व्यस्त रहते हैं।"[3] शिक्षा के लिए विद्यालय के साथ–साथ शिक्षक की भी जरूरत होती है, ग्रामीण अंचल में इसकी पूर्ति नहीं हो पाती जिसके कारण बच्चों को शहर की ओर जाना पढ़ता है।

शिक्षक की भूमिका : शिक्षक शिक्षण प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षक के बिना शिक्षा की प्रक्रिया सफल रूप से नहीं चल सकती। शिक्षक न केवल छात्रों को शिक्षा प्रदान करके ही अपने दायित्व से मुक्ति पा लेता है वरन् उसका उत्तरदायित्व इतना अधिक और महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक शिक्षक उन्हें पूर्ण करने में समर्थ नहीं होते। शिक्षक की क्रिया और व्यवहार का प्रभाव उनके विद्यार्थियों, विद्यालय और समाज पर पड़ता है। इस दृष्टि से कहा जाता है कि अध्यापक राष्ट्र का निर्माता होता है। एक आदर्श शिक्षक वह होता है जो अपने शिक्षक पद के लिए अपने आप को समर्पित करता है। अपने पद

की गरिमा को ध्यान में रखता है। छात्रों के प्रति प्रेम व सहानुभूति रखता है। एक शिक्षक का सिर्फ यही दायित्व नहीं है कि वह अध्यापन के प्रति रुचि रखें, उसे अपने विद्यार्थियों के साथ आत्मीय, सहानुभूतिपूर्ण संबंध भी रखना चाहिए। छात्र के सर्वोन्मुखी विकास के उत्तरदायित्व में शिक्षक की अहम भूमिका होती है। जिसके फलस्वरूप शिक्षण संस्थानों का उत्तरदायित्व है कि वह अध्यापकों को सुनियोजित एवं सुगठित प्रशिक्षण प्रदान करें जिससे वह भी अपने छात्रों के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सके।

शिक्षक का पद अत्यंत गरिमापूर्ण होता है, क्योंकि जिस प्रकार खेती के लिए बीज, खाद एवं उपकरण के रहते हुए अगर किसान नहीं हैं, तो सब बेकार है। उसी प्रकार विद्यालय के भवन, शिक्षण सामग्री एवं छात्रों के होते हुए शिक्षक नहीं हैं तो सब बेकार है। होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' उपन्यास के मॉहघूलि अंचल में शिवनाथ के परिवार को छोड़कर ज्यादातर लोग गरीब और अशिक्षित हैं। इस अंचल में ज्यादा से ज्यादा लोग शिवनाथ से जमीन लेकर खेती करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। जिसके कारण इस अंचल में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम है। जो भी बच्चे पढ़ने में माहिर हैं वे आर्थिक संकट के कारण आगे की पढ़ाई नहीं कर पाते। नबीन को स्कूल के अध्यापक उसे आगे पढ़ाने के लिए उसके पिता को उकसाते हैं। उसके पिता देबेरा बूढ़ा नबीन को कॉलेज में पढ़ाने की जिम्मेदारी नहीं उठा पाते; क्योंकि कॉलेज में पढ़ाने की उसकी हैसियत नहीं है। शिक्षा के प्रति जागरूक अध्यापक नबीन को किसी भी हालत में कॉलेज में दाखिला देने के लिए कहता है और आगे की पढ़ाई के लिए छात्रवृत्ति उपलब्ध (सुलभ) करवा देना चाहता है। इसलिए देबेरा बूढ़ा अपनी जमीन गिरवी रखकर बच्चे को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए कॉलेज में दाखिला देता है। इस तरह नबीन की आगे की पढ़ाई की जिम्मेदारी प्रधानाध्यापक उठाता है और उसके लिए एक छात्रवृत्ति का इंतजाम कर देता है– "नबीन जैसा लड़का केवल आर्थिक संकट के कारण कॉलेज में नहीं पढ़ पाएगा– ऐसी बात हो ही नहीं सकती। उसने मेरे विद्यालय का नाम रोशन किया, उसी के कारण मैं आज सम्मान पाने का अधिकारी बना। इसीलिए मेरा भी उसके प्रति कुछ कर्तव्य बनता है।"[4] समाज निर्माण में शिक्षकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती हैं। क्योंकि विद्यालय समाज के प्रांगण में ही आते हैं। बच्चे उसी समाज के हिस्से होते हैं। प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक जैसा कार्य करते हैं, यानी एक आदर्श अध्यापक के कर्तव्य को देखकर ही बच्चे सीखते हैं। अध्यापक बच्चों को अच्छी शिक्षा के साथ–साथ एक अच्छे नागरिक बनने के लिए प्रेरित करते हैं। आदर्श अध्यापक के गुण है कि उनके व्यवहार में नम्रता एवं विनम्रता भाव, उनमें सहजता, गंभीरता एवं विद्यता झलकती हो, उनकी वाणी ऐसी हो कि बच्चे के मन को जीत ले जो इस शिक्षक में दिखाई देती है।

शिक्षा के प्रति उदासीनता : आंचलिक जीवन पिछड़ा एवं वर्तमान गतिविधियों से असंपृक्त है। स्वातंत्र्योत्तर काल में व्यापक परिवर्तन के बावजूद वहाँ शिक्षा का आंदोलन पूर्णरूपेण प्रसारित नहीं हो पाया है। इसके पीछे अंचलों में स्थित परंपरागत दृष्टि एवं शिक्षा के प्रति होने वाली उदासीनता भी एक प्रधान कारक है। अशिक्षा, अज्ञान एवं अर्थाभाव के कारण अंचलवासी लड़कों को पढ़ाने में असमर्थ एवं उदासीन पाए जाते हैं। निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' में पगलादिया नदी के किनारे पर अवस्थित अंचल के लोग अशिक्षित थे। अंचल में शिक्षा का कोई भी प्रभाव नहीं था। दो–चार लोग पंडितों के पास जाकर शिक्षा ग्रहण कर लेते थे। आनुष्ठानिक शिक्षा ग्रहण करने वालों की संख्या न के बराबर थी। फिर भी उन्हीं में से जो भी लड़का पढ़ना चाहता है और माता–पिता भी चाहते हैं कि उसका बेटा पढ़े–लिखे। लेकिन गाँव के समृद्ध लोगों में

पढ़ाई के प्रति उदासीनता के कारण उनको पढ़ने में बाधा उत्पन्न होती थी। गाँव के समृद्ध लोग अंचलवासी को पढ़ने के लिए इसलिए रोकते थे, कि अगर ये लोग पढ़–लिख जाएँ तो उन लोगों का काम कौन करेगा? अगर ये लोग पढ़ लेंगे तो इन पर राज नहीं कर पाएँगे। इसलिए पढ़ने के लिए उन्हें बाधा उत्पन्न कर देता था। पगलादिया अंचल के प्रमोद डेका के साथ ऐसा ही होता है। वह अपनी पत्नी से कहता है– "नारायण मौजादार– उसकी पढ़ाई बंद करने के लिए कितनी ही कोशिश की थी।"[5] लेकिन प्रमोद डेका के पढ़ाई में बाधा नहीं दे पाए थे इसलिए प्रमोद डेका आगे चलकर सेना में तैनात हो पाए थे।

गाँव में आर्थिक संकट होने के कारण शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता देखने को मिलती है। लोग दिनभर मेहनत करने के बाद भी अच्छे से गुजारा नहीं कर पाते। घर के सभी सदस्य खेत–खलिहानों में काम करके अपनी–अपनी क्षुधा निभाते हैं। होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' उपन्यास में ग्रामीण लोगों की शिक्षा के प्रति उदासीनता दिखाई देती है। बच्चा पढ़ने में होनहार होने पर भी उन्हें विद्यालय नहीं भेजा जाता। विद्यालय न भेजकर अपने साथ खेती में हाथ बँटाने के लिए ले जाता है। चमुवा गाँव का दिबाकर पढ़ने में होशियार लड़का था। लेकिन आर्थिक संकट के कारण उसके पिता उसे पढ़ाई बंद करने के लिए कहते हैं। फिर भी वह खेती का काम करके देर से ही सही लेकिन स्कूल जरूर जाता है। इस तरह उसे स्कूल जाने के लिए उसके पिता रोज मना करते हैं। परंतु दिबाकर बिन बताए काम को छोड़कर स्कूल की ओर जाता था। लेकिन एक दिन उसके पिता उसे विद्यालय से लेने के लिए आ जाते हैं। तब दिबाकर की कक्षा चल रही थी। अचानक दिबाकर के पिता कक्षा में घुसकर मास्टर से कहने लगा– "बाबू, हम हैं अज्ञानी मूर्ख आदमी, अपनी तरफ से कुछ गलती हो गया तो क्षमा कर दीजिएगा। मैं दिबाकर को विद्यालय से ले जाने के लिए आया हूँ। मैं बहुत दिनों से उसे स्कूल में आने के लिए मना कर रहा हूँ कि तुझे अब और स्कूल जाने की जरूरत नहीं है, परंतु वह मेरी बात न मानकर छुप–छुप के स्कूल की ओर आता रहता है। आज भी उसे खेत में हल जोतने के लिए देकर मैं बाँस काटने के लिए गया था, तो वहाँ से आकर देखा कि वह नहीं है, स्कूल की ओर आ गया। मैं अकेला हूँ, अगर वह मेरे साथ खेत–खलिहान में थोड़ा बहुत हाथ न बँटाकर स्कूल में बाबू जैसे पढ़ने आएगा तो मैं घर कैसे चलाऊँ? अपना नाम लिख सके और ज़मीन जायदात की कागजात पढ़ सके इसलिए मैंने ही स्कूल में भेजा था। अब वह हो गया, तो उसे स्कूल में पढ़ने की कोई जरूरत नहीं है।"[6] इस तरह दिबाकर को उसके पिता स्कूल से हमेशा के लिए निकालकर ले जाते हैं। मॉहघूलि गाँव के शिवनाथ का मझला बेटा अपनी पढ़ाई में उदासीनता लाकर एम.ए. की पढ़ाई अधूरी छोड़कर आ जाता है। उनका छोटा बेटा लक्ष्मीनाथ आवारागर्दी करके घूमता रहता है जिसके कारण उसकी पढ़ाई बंद हो जाती है और अंत में एक गुंडा बन जाता है। इस तरह बहुत सारे बच्चों की पढ़ाई छूट जाती है।

स्त्री शिक्षा : प्राचीन काल से शासकों, योद्धाओं अर्थात् पुरुष प्रधान समाज के कारण स्त्री शिक्षा का महत्व नहीं था। किंतु समय परिवर्तन के साथ–साथ कुछ विचारशील पुरुषों के प्रयत्नों से समाज में स्त्री शिक्षा का महत्व होने लगा। जिनमें प्रमुख रूप से राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने स्त्री शिक्षा का प्रचलन किया। इन्हें कई विरोधों एवं हिंसा का सामना करना पड़ा। इस तरह जैसे–जैसे समय बीतता गया वैसे ही नारी शिक्षा में बदलाव और विकास होने लगा। आज के समाज में स्त्री पुरुष के समान ही शिक्षा प्राप्त कर रही है। लेकिन ग्रामीण अंचल में आज भी स्थिति दयनीय है। ग्रामीण क्षेत्र में स्त्री को ज्यादा शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति नहीं देती। स्वातंत्र्योत्तर काल में नारी शिक्षा

को लेकर काफी परिवर्तन हुआ है। लेकिन आज भी यह प्रगति पुरुष की तुलना में कम ही है। नगरों में नारी शिक्षा की दशा संतोषप्रद है लेकिन गाँव तथा पिछड़े अंचलों में आज भी स्थिति दयनीय है। अंचलों में नारी शिक्षा को लेकर उदासीनता एवं परंपरागत दृष्टि विद्यमान है। निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' के पगलादिया अंचल में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत ही कम है। वहाँ पर माता–पिता अपने बेटे को ही नहीं पढ़ाना चाहते तो बेटी को क्या पढ़ाएँगे। गाँव के जमींदार व्यक्ति मौजादार (तहसीलदार) नारायण चौधुरी ही अपनी बेटी को नहीं पढ़ाते। उनकी सोच है कि लड़की को ज्यादा पढ़ाना नहीं चाहिए। शास्त्र का अध्ययन कर पाए या चिट्ठी–पत्री लिख–पढ़ पाए उतनी ही शिक्षा लड़की के लिए काफी है। इसलिए वह अपनी बेटी लक्ष्मी को द्वितीय या तृतीय कक्षा तक ही पढ़ाते हैं।[7] ग्रामीण–अंचल में सारी समस्या का मूल है अर्थ। लेकिन यहाँ पर चौधुरी धनवान आदमी होते हुए भी पुरानी सोच रखते हैं और अपनी बेटी लक्ष्मी की पढ़ाई रुकवा देते हैं। इस उपन्यास में नारी शिक्षा के प्रति लोगों में सजगता भी दिखाई देती है– "आजकल के लड़के शादी करने के समय लड़कियों की सिर्फ गुणवत्ता व सौंदर्य को ही नहीं देखते, कितनी पढ़ी–लिखी है वह भी देखते हैं। लड़की अगर नौकरी ना करे तो परिवार चलाना ही मुश्किल पड़ जाता है। आजकल लड़की का शिक्षित होना बहुत ही जरूरी है।"[8] पुरुष और स्त्री इस समाज के एक सिक्के के दो पहलू हैं तो फिर शिक्षा भी एक समान प्राप्त होनी चाहिए। जिस तरह पुरुष का शैक्षिक जीवन इस समाज के विकास के लिए महत्वपूर्ण है उसी प्रकार नारी शिक्षा भी देश के हित के लिए आवश्यक है। आज के इस युग में स्त्री पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। हर एक क्षेत्र में नारी आज कुशल है, वह घर की देखभाल के साथ–साथ अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अडिग है।

होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' उपन्यास में चमुआ गाँव के दिवाकर की बहन बहागी पढ़ना चाहती है। लेकिन आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती। घर में बहुत लड़ाई–झगड़ा करके भी (कक्षा सात) तक पढ़ती है। लेकिन उसे आगे पढ़ने की हिम्मत नहीं होती। कालिनाथ उसे उच्च शिक्षा लेने का लालच देता है तब वह कहती है– "घर में कुछ नहीं, दिल (मन की इच्छा) है उच्चाकांक्षी। घरवालों से लड़–झगडकर किसी भी हालत में एम.ए. पास किया (उत्तीर्ण हुई)। उच्च विद्यालय में पढ़ने के लिए फ़ीस (शुल्क) कौन देगा?"[9] दिवाकर की बहन को उच्च विद्यालय में पढ़ने का शौक था। परंतु आर्थिक दुरावस्था के कारण वह आगे की पढ़ाई नहीं कर पाती। वैदिक शास्त्र कहते हैं कि "लड़कों के साथ लड़कियों को उचित देखभाल के साथ पोषित और प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।" एक सशक्त समाज का निर्माण करने के लिए स्त्रिओं को सशक्त व स्वस्थ बनाना बेहद जरूरी है, तभी एक सभ्य समाज का निर्माण हो पाता है। स्त्री को अपनी जिंदगी का ध्यान तो रखना ही पड़ता है साथ में पूरे परिवार का ध्यान भी रखना पड़ता है। एक स्त्री को पूरी जिंदगी बेटी, बहन, पत्नी, माँ, सास और दादी जैसे रिश्तों को ईमानदारी से निभाना पड़ता है। अतः स्त्री शिक्षा अत्यंत जरूरी है।

एक कहावत है कि "एक पुरुष को शिक्षित करके हम सिर्फ एक ही व्यक्ति को शिक्षित कर सकते हैं लेकिन एक नारी को शिक्षित करके हम पूरे देश को शिक्षित कर सकते हैं।" इसलिए अपने परिवार की उन्नति की कल्पना स्त्री शिक्षा के बिना नहीं कर सकते हैं। किसी भी लोकतंत्र की यह नींव है कि स्त्री और पुरुष को बराबर शिक्षा प्राप्त करने का हक़ हो। एक पढ़ी–लिखी स्त्री ही समाज में खुशी और शांति ला सकती है। कहते हैं कि बच्चे इस देश का भविष्य हैं और एक नारी ही माँ के रूप में उसकी पहली शिक्षा का स्त्रोत है। इसी कारणवश एक स्त्री

का शिक्षित होना बहुत जरूरी है। एक शिक्षित नारी न केवल अपने गृह का बल्कि पूरे समाज को सही दिशा प्रदान करती है। हर एक स्त्री को अपनी इच्छानुसार शिक्षा ग्रहण करने का हक है और उस क्षेत्र में कार्य कर सकें जिनमें वह कुशल हैं। अतः स्त्री शिक्षा का महत्व विभिन्न तरीके से समाज के काम आता है। लेकिन आर्थिक स्थिति, परिवार के लोगों की मानसिकता व समाज में निवास करने वालों की मानसिकता ने स्त्री शिक्षा में भारी रुकावट पैदा की है, जो इन उपन्यासों में देखने को मिलती है।

शैक्षिक चेतना : शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान देती है। आजादी के बाद भारतीय शिक्षा में सुधार व स्तरीकरण हेतु अनेक आयोगों तथा समितियों का केंद्रीय स्तर पर गठन किया गया। अनेक आयोगों तथा समितियों ने शिक्षा की समस्याओं की समीक्षा की और राष्ट्रीय नीतियाँ तैयार की। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग 1948–49 ई., माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग) 1952–53 ई. व कोठारी आयोग (शिक्षा आयोग) 1964–66 ई. का गठन किया गया। कोठारी आयोग ने (1961–66 के दौरान) शिक्षा में हुई प्रगति की समीक्षा की व इसमें सुधार की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए अपने सुझाव प्रस्तुत किये। इन सिफारिशों और प्रयासों के आधार पर 1968 ई. में एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति आयोग बनाई गई। सभी स्तरों पर शैक्षिक सुविधाओं का प्रसार शुरू हुआ व शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार पर केंद्रित करने का कार्य आरंभ हुआ। क्योंकि बालक का व्यक्तित्व प्राकृतिक व भौतिक वातावरण का समावेश होता है। अतः वर्तमान में मनोवैज्ञानिकों ने बालक के असीम जिज्ञासा भरे औजस्वी मस्तिष्क को तृप्त और विकसित करने हेतु स्वस्थ व शैक्षिक पारिवारिक, सामाजिक वातावरण को आवश्यक मानते हुए शिक्षा के लिए अनेक नीतियाँ (आयोग) बनाई जा रही हैं।

इस तरह देखने को मिलता है कि स्वातंत्र्योत्तर काल से ग्रामीण शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार का कार्य निरंतर जारी रहा। जिससे गाँवों में व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं। पिछड़े अंचल एवं जनजातियों में भी धीमी गति से ही क्यों न सही लेकिन परिवर्तन हो रहा है। वे अब शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व को महसूस करने लगे हैं। शिक्षित पात्रों में अधिकारबोध, जागृत एवं नई चेतना पल्लवित हो रही है। ग्रामीण अंचल के लोग शिक्षा के क्षेत्र में धीमी गति से आगे बढ़ते आ रहे हैं जो इन उपन्यासों के माध्यम से देखे जा सकते हैं।

निरूपमा बरगोहाञि के 'सेइ नदी निरबधि' में दिखने को मिलता है कि पागलादिया अंचल के लोगों में शिक्षा को लेकर पहले कोई चेतना नहीं थी। अंचल में माध्यमिक विद्यालय के अलावा कोई विद्यालय ही नहीं होता था। लेकिन समय परिवर्तन के साथ–साथ लोगों में जागरूकता आ जाती है और शिक्षा के लिए अंचल के ही बच्चों ने मिलकर पुस्तकालय खोल दिया। जिसमें गाँव के बच्चे जाकर पढ़ते हैं। जब दीपू इस गाँव का एस.डी.ओ. बनकर आता है तब गाँव के पुस्तकालय की उन्नति के सिलसिले में बच्चे उम्मीद लेकर दीपू के पास आते हैं– "हम इन्हीं के पास आए हैं लक्ष्मी दी। हमारे पुस्तकालय के लिए कुछ सहायता चाहिए।"[10] बचपन में लक्ष्मी (मौजादार नारायण चौधूरी की बेटी) की पढ़ाई में उसके माँ–बाप ध्यान नहीं देते थे और लक्ष्मी भी पढ़ना नहीं चाहती थी जिसके कारण द्वितीय कक्षा तक ही पढ़ पाई थी। लक्ष्मी बीस (20) साल की उम्र में ही विधवा हो जाती है और दो–तीन साल के बच्चे को लेकर मायके आ जाती है। तब वह घर में ही पढ़ाई करके एल.पी. स्कूल और एम.ए. भी पास कर लेती है और आगे की पढ़ाई भी जारी रखती है। वह एक शिक्षिका बनने की चाहत रखती है। इस तरह देखने को मिलता है कि ग्रामीण अंचल के लोगों में शिक्षा के प्रति चेतना जाग रही है और आज

के समय में ग्रामीण लड़कियाँ भी लड़कों की बराबरी में पढ़ती हुई दिखाई देती हैं।

समाज में चेतना पैदा करने का सशक्त माध्यम शिक्षा है। ऐसे में सबसे बड़ी आवश्यकता नागरिकों को शिक्षित करने की है। जब तक शिक्षा हर व्यक्ति तक नहीं पहुँचेगी, इसकी सार्थकता नहीं रहेगी। होमेन बरगोहाञि के 'पिता–पुत्र' में शिवनाथ का मँझला पुत्र कालिनाथ को एम.ए. पढ़ने के लिए भेजा जाता है। कालिनाथ एम.ए. पढ़ते वक्त बहुत सारी सामाजिक और मार्क्सवादी पुस्तकें पढ़ा करता था। इन सारी किताबों को पढ़ने से उसमें समाज सेवा का भाव जन्म लेता है। उसका एम.ए. प्रथम वर्ष समाप्त हो चुका था। इसी बीच उसके घर से एक चिट्ठी आती है जिसमें उसके घर की समस्याओं के बारे में लिखा था। उसका छोटा भाई लक्ष्मीनाथ शराब के नशे में घर पर दंगा करता रहता है। तब कालिनाथ को लगा कि ये सिर्फ उसके घर का मामला नहीं है, उस अंचल में निवास करने वाले प्रत्येक घर का मामला होगा। इसलिए वह अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर घर वापस आ जाता है और अंचल की गंदगी साफ करने के लिए उतर जाता है। अपने समाज को स्वच्छ, शराब मुक्त समाज बनाने के लिए अकेले ही लड़ाई करता है। जब उसे उसकी बहन पढ़ाई छोड़कर आने की वजह पूछती है तब वह कहता है– "जो लोग अवैध शराब का व्यापार करके मॉहघूलि को नरक के द्वार पर पहुँचा रहे हैं और नवयुवकों को इस नरककुंड में ढकेल रहे हैं– इसबार उन लोगों को मैं एक सबक सिखाऊँगा। मॉहघूलि के सर पर जो भूत सवार हुआ है उसे मैं यहाँ से निकालकर ही रहूँगा।"[11] इस तरह हम देख सकते हैं कि कालिनाथ के ऊपर शिक्षा की चेतना जाग जाती है। सिर्फ उच्च शिक्षा प्राप्त करना ही सचेतनता नहीं है। जिस शिक्षा से समाज में कुछ बदलाव आता है वही शिक्षा, शिक्षा कहने के लायक होती है।

निष्कर्ष : शिक्षा मनुष्य के जीवनपर्यंत चलने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा कोई समाज अपने सदस्यों को अपनी पूर्व संचित सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराता है और उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे अपनी सभ्यता एवं संस्कृति में निरंतर विकास कर सकें। शिक्षा के द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास किया जाता है। इसके माध्यम से विद्यालयों में ज्ञान, कला कौशल तथा अच्छे व्यवहारों का विकास किया जाता है। शिक्षा मानव की अमूल्य वस्तु है। शिक्षा समाज और मानव की आत्मा है तथा विकास में सहायक है। यदि समाज मानव का दर्पण है तो मानव शिक्षा का दर्पण है। अर्थात् मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक अपने जीवन में जो वृद्धि करता है, जिन पहलुओं का विकास करता है वह सब शिक्षा से संभव है। शिक्षा मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य अपने जन्म के बाद से ही शिक्षा ग्रहण करना प्रारंभ कर देता है और शिक्षा की यह प्रक्रिया चलती रहती हैं। प्रारंभ में शिक्षा प्रदान करने का कार्य घर–परिवार एवं समुदाय करते थे। तत्पश्चात् व्यक्ति औपचारिक साधनों जैसे– विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करता है। प्रारंभ में जहाँ शिक्षा द्वारा बालक अपने गुरु से ज्ञान एवं सूचनाएँ प्राप्त करता था, वहीं आज शिक्षा का अर्थ काफी व्यापक हो गया है। शिक्षा के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास किया जाता है। शिक्षा मनुष्य को ऐसा परिवेश प्रदान करती है जहाँ व्यक्ति का निरंतर सर्वातोन्मुखी विकास होता है। अतः ग्रामीण अंचल में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत सारी बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं लेकिन धीरे–धीरे सभी बाधाएँ दूर होती जा रही हैं।

संदर्भ सूची

1. आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, पृ.–97
2. सेइ नदी निरबधि, पृ–9
3. पिता–पुत्र, पृ. 132
4. पिता–पुत्र, पृ. 182
5. सेइ नदी निरबधि, पृ–23
6. पिता–पुत्र, पृ. 206

7. सेइ नदी निरबधि, पृ–13
8. सेइ नदी निरबधि, पृ–103
9. पिता–पुत्र, पृ. 219
10. सेइ नदी निरबधि, पृ–164
11. पिता–पुत्र, पृ. 197

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. निरूपमा बरगोहाञि, सेइ नदी निरबधि, असम पब्लिशिंग कंपनी, पाणबाजार, चतुर्थ संस्करण, फरवरी–2016 ई.

2. होमेन बरगोहाञि, पिता–पुत्र, स्टूडेंट्च स्टार्स, गुवाहाटी, ग्यारहवां संस्करण, मई–2017 ई.

3. डॉ. अनिता बेलगाँवकर, आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, अमन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण –2016 ई.।

– घर संख्या–228, गाँव–बनवाहार, डाकघर–कयाकुछि, जिला और थाना– बरपेटा, असम–781352

❑❑❑

सिक्किम की सांस्कृतिक विरासत

उपमा शर्मा

प्रत्येक समुदाय अपने समाज व संस्कृति की संवेदना और अनुभवों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होता है। जब भी किसी समाज व संस्कृति का इतिहास लिखा जाता है तो अन्य उपलब्ध स्रोतों के साथ–साथ साहित्य की उन विधाओं का सहारा लिया जाता है जो किसी युग व समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोकसंस्कृति किसी समाज की वह अभिव्यक्ति होती है जिसमें उसकी लोक–चेतना के विविध आयामों का आरेखन होता है। नृत्य, गीत, उत्सव, लोककथाएँ, लोकगीत, पारंपरिक अनुष्ठान और जीवन शैली आदि में सांस्कृतिक मूल्य निहित हैं जिनसे किसी समाज की संपूर्ण मानसिकता, उसका व्यवहार व प्रकृति आदि का ज्ञान होता है। यह लोकसंस्कृति ही किसी समाज के विकास का आधार होती है जो मौखिक परंपराओं से हस्तांतरित होती हुई बृहत्तर सामाजिक मूल्यों के रूप में किसी जनजातीय समुदाय को उसकी पहचान प्रदान करती है। सिक्किम राज्य के लोग अपनी जीवंत संस्कृति व सभ्यता के लिए जाने जाते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के अंतर्गत आठ राज्य हैं। अरुणाचल प्रदेश, असम, त्रिपुरा, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय और सिक्किम। सिक्किम अपने आप में एक अद्‌वितीय राज्य है जो प्रकृति की गोद में विराजमान है। इस राज्य को 'पूर्वोत्तर का भाई' की संज्ञा दी गई है, अन्य सात राज्यों को बहन कहते हैं। 16 मई, 1975 में सिक्किम औपचारिक रूप से भारतीय गणराज्य का 22वाँ राज्य बना। "सिक्किम शब्द का सर्वमान्य स्रोत लिंबू भाषा के शब्दों सु (अर्थात् नवीन) तथा ख्यिम अर्थात् (महल अथवा घर) है, जोकि प्रदेश के पहले राजा फुंत्सोक नामग्याल के द्‌वारा बनाए गए महल का संकेतक है को जोड़कर बना है। तिब्बती भाषा में सिक्किम को चावल की घाटी कहा जाता है।"[1] सिक्किम एक ऑर्गेनिक कृषि प्रधान राज्य है। यहाँ के लोग सीढ़ीदार खेतों में पारंपरिक पद्‌धति से कृषि करते हैं। यहाँ के कृषक ईलाइची, अदरक, संतरा, सेब, चाय और पीनशिफ आदि की खेती करते हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा सिक्किम में ईलाइची की उपज सर्वाधिक है। यहाँ मुख्य रूप से लिंबू, लेप्चा और भूटिया जनजातियाँ हैं जिनकी अपनी अनूठी संस्कृति है और भाषाई दृष्टि से भी विविधता है। पहाड़ी क्षेत्र होने के बावजूद यहाँ रोजगार के अवसर हैं। यहाँ पर ज्यादातर दवा उद्‌योग हैं जिसकी वजह से कई राज्यों के लोग यहाँ रोजगार की तलाश में आते हैं। मद्‌यनिर्माणशाला, मद्‌यनिष्कर्षशाला, चर्म–उद्‌योग तथा घड़ी–उद्‌योग सिक्किम के मुख्य उद्‌योग हैं।

"यह राज्य के दक्षिणी भाग में स्थित है। मुख्य रूप से मेल्ली और जोरेथांग नगरों में, राज्य में विकास दर 8-3% है,जो दिल्ली के पश्चात् राष्ट्रभर में सर्वाधिक है।"[2] सिक्किम राज्य पर्यटन के लिए विश्वभर में प्रसिद्‌ध है। पर्यटकों की वजह से ही इस राज्य की अर्थव्यवस्था मजबूत परिलक्षित होती है। 'प्लेविन' जुआ, जिसे विशेष रूप से तैयार किए गए अंकों पर खेला जाता है, को राष्ट्रभर में खूब वाणिज्यिक सफलता हासिल हुई।"[3] "राज्य में प्रमुख रूप से ताँबा, डोलोमाइट, चूना पत्थर, ग्रेफ़ाइट, अभ्रक, लोहा और कोयला आदि खनिजों का खनन किया जाता है।"[4] सिक्किम राज्य वर्तमान समय में विकसित राज्यों में से एक राज्य है। पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करने के बावजूद इनके जीवन में आधुनिकता का प्रभाव देखा जा सकता है।

परिधान की दृष्टि से यहाँ विविधता है, यही इनकी विशिष्ट पहचान है।

सिक्किम में अधिकतर नेपाली लोग निवास करते हैं जो 19वीं सदी में आए हैं। नेपाली लोग मूलतः हिंदू हैं तथा इनकी संपर्क भाषा नेपाली है। नेपाली समुदाय के लोग यहाँ की जनजातियों से रोटी बेटी का संबंध स्थापित नहीं करते हैं। लेप्चा जनजाति को सिक्किम के मूल निवासियों में से एक माना जाता है। प्राचीन समय में सिक्किम के राजा भूटिया समुदाय के थे और भूटिया समुदाय के लोग इन्हीं के वंशज माने जाते हैं। वर्तमान समय में देखा जाए तो भूटिया समुदाय के लोग आर्थिक रूप से बहुत मजबूत हैं। ये लोग आर्थिक रूप से बहुत समृद्ध हैं। शैक्षणिक दृष्टि से भी ये लोग बहुत आगे हैं एवं पाश्चात्य सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित हैं फिर भी अपनी संस्कृति, भाषा एवं रीति–रिवाज का पालन बहुत ही कट्टरता के साथ निभाते हुए नज़र आते हैं। इनकी भाषा भूटिया है। ये लोग अपनी भाषा के प्रति बहुत सजग हैं। चूँकि यह एक हिंदीतर भाषी क्षेत्र है इसलिए यहाँ के निवासी, हिंदी भाषा का प्रयोग आवश्यकतानुसार ही करते हैं। नहीं तो आम बोलचाल में नेपाली भाषा का प्रयोग करते हैं लेकिन इनके जीवन में अंग्रेजी भाषा का प्रभाव अत्यधिक दिखाई पड़ता है। सिक्किम का लोकसाहित्य बहुत समृद्ध है जिसको संरक्षित करने की आवश्यकता है। सिक्किम विश्वविद्यालय में लुप्तप्राय भाषा विभाग है फिर भी वैश्विक फलक पर अभी तक इन भाषाओं (लिंबू, लेप्चा, भूटिया) को कोई स्थान नहीं मिल पाया है जिसको विश्व स्तर पर लाना जरूरी है। जिससे सिक्किम से इतर राज्य के लोग भी यहाँ की संस्कृति व भाषा से अवगत हो सकें।

भूटिया समुदाय के सांस्कृतिक पक्ष पर एक दृष्टि डालें तो उनकी संस्कृति अन्य जनजातियों से भिन्न नज़र आती है। भूटिया जनजाति का मृत्यु संस्कार बहुत अलग है। इनके यहाँ मरने के उपरांत बौद्ध गुरु को बुलाया जाता है। बौद्ध गुरु मृतक को 'फौअ' करते हैं, भूटिया और बौद्ध धर्म के अनुयायियों का मानना है कि मृतक आत्मा मौत के बाद अवचेतन अवस्था में होती है एवं गुरु के 'फौअ' मिलने के तुरंत ही वह चेतन अवस्था में लौट आती है तथा मृतक आत्मा गुरु के बताए पथ पर चलती है। इसमें गुरु आकर मृतक के सर को थामकर मंत्रों का जाप करते हैं। अंतिम संस्कार धर्मगुरु के द्वारा संपन्न होता है। अग्नि संस्कार में हिंदुओं की भाँति बेटे की कोई भूमिका नहीं होती है। मृतक की मौत के उनचास दिनों तक प्रतिदिन दीए जलाने का प्रचलन है, ताकि आत्मा के रास्ते में आने वाली बाधा में प्रकाश बना रहे। मृत्यु के उनचास दिनों के बाद का क्रिया–कर्म भी भूटिया या बौद्ध धर्म के अनुयायियों में प्रमुख होता है। मृतक की मृत्यु के पश्चात् उनचास दिनों के बाद अंतिम क्रिया संस्कार संपन्न होता है, जिसमें मृतक का परिवार घर में पूजा–पाठ करवाता है। इसके साथ समाज और अन्य परिजनों को भोजन करवाता है। लोगों को स्वादिष्ट भोजन, शराब, मांस, मछली परोसा जाता है। इसमें लोगों को निमंत्रण दिया जाता है। मृतक के नाम पर कई सालों तक श्राद्ध किया जाता है। माँ के लिए श्राद्ध नौ साल तक किया जाता है जबकि पिता के लिए श्राद्ध करने का समय आठ वर्ष होता है।

भूटिया समुदाय के लोग शिक्षित होते हुए भी अंधविश्वासी प्रवृत्ति में लिप्त होते हैं। इनका मानना है कि कुत्ते के मर जाने पर उसे एक ऐसे सुरक्षित जगह पर दफनाना चाहिए जहाँ से उसके सर को जब चाहे तब जमीन से निकाल सकें। मृतक कुत्ते के सिर को अगर किसी ऐसी महिला को दिया जाए जो निःसंतान है तो उसे संतान की प्राप्ति हो जाती है। भूटिया समुदाय हर कार्य लामा के अनुसार करने में अत्यधिक विश्वास रखते हैं। अगर कोई व्यक्ति हींग खा रहा है तो उसके ऊपर चुड़ैल है इत्यादि अनेक अंधविश्वासों वाला प्रसंग इनके समुदाय में विद्यमान है।

पूर्वोत्तर भारत की लोकधर्मिता बहुरंगी है। यही कारण है कि यहाँ बारहों मास पर्व उत्सव का माहौल बना रहता है। 'पांग ल्हाबसोल' एक विशेष पर्व है जिसे तीसरे छोंग्याल राजा छग्दोर नामग्याल ने सिक्किम में लोकप्रिय बनाया। इस पर्व में कंचनजंघा पर्वत की महानता की पूजा होती है। यह पर्व भूटिया और लेप्चा भाईचारे संबंधी संधि से भी जुड़ा है जो 13 वीं शताब्दी में पर्वत कंचनजंघा को साक्षी मानकर लेप्चा चीफ थेककोंगथेक और भूटिया प्रमुख से बुम्सा के बीच संपन्न हुआ था। उसी की स्मृति में प्रत्येक वर्ष यह पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है।

"हिंदू धर्म राज्य का प्रमुख धर्म है जिसके अनुयायी राज्य में 60.9% में है। बौद्ध धर्म के अनुयायी 28.9% पर एक बड़ी अल्पसंख्या में हैं। सिक्किम में ईसाइयों की 6.7% आबादी है जिनमें मूल रूप से अधिकतर लेप्चा हैं। इन्होंने अंग्रेजी धर्मोपदेशकों के प्रचार के बाद ईसाई मत अपनाया। राज्य में कभी सांप्रदायिक तनाव नहीं रहा है। मुसलमानों की 1.4% आबादी के लिए गंगटोक के व्यापारिक क्षेत्र में और मंगन में मस्जिद है।"[5] पूर्वोत्तर में बौद्ध धर्म की जड़ें बहुत गहरी हैं। पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में छिटपुट रूप से बौद्ध धर्मावलंबी लोग रहते हैं लेकिन अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और सिक्किम में इस धर्म को मानने वाले लोगों की संख्या सर्वाधिक है। सिक्किम राज्य के अनेक आदिवासी समुदाय बौद्ध धर्म में आस्था रखते हैं। लेप्चा व भूटिया समुदाय के ज्यादातर लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। भगवान बुद्ध के उपदेशों के प्रति ये लोग गहरी श्रद्धा रखते हैं लेकिन लामा अर्थात् पुजारी को छोड़कर आमतौर पर लोग मांसाहारी हैं। राज्य के बौद्ध धर्मावलंबी भगवान बुद्ध को अनेक नामों से संबोधित करते हैं। भगवान बुद्ध को दयालु, चमत्कारी और कल्याणकारी माना जाता है। इन जनजातियों के जीवन में लामा का महत्वपूर्ण स्थान है। लामा इन आदिवासी समुदायों के आध्यात्मिक गुरु और अभिभावक हैं। ये ही बच्चों का नामकरण संस्कार कराते हैं, रोगियों को आरोग्य प्रदान करने के लिए प्रार्थना करते हैं तथा अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

"नेपाली सिक्किम की प्रमुख भाषा है। सिक्किम में प्रायः अंग्रेजी और हिंदी बोली और समझी जाती हैं। यहाँ की अन्य भाषाओं में भूटिया, जोखा, मझवार नेपालभाषा, दनुवार, शेर्पा, सुनवार,तमाङ; थुलुंग, तिब्बती और याक्खा शामिल हैं।"[6] सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अगर एक दृष्टि डाले तो यहाँ के सभी लोग हिंदू त्योहार जैसे दिवाली ,दशहरा और होली इत्यादि मनाते हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों का त्योहार कुछ भिन्न है। लेप्चा समुदाय उत्सवप्रिय समाज है। लेप्चा ही नहीं सिक्किम के अन्य समुदाय भी अपनी सांस्कृतिक विरासत में सर्वाधिक समृद्ध हैं। लोकगीत, लोकनृत्य एवं लोककथा आदि के माध्यम से इनके जीवन में ऊर्जा का संचार होता है। 'तेन्दोंग ल्हो रम फत' और 'नाम्सुंग' लेप्चा जनजाति का पर्व है जो प्रत्येक वर्ष 8 अगस्त को मनाया जाता है। इसमें लेप्चा पंडित बूग्निथंग और मून, तेन्दोंग पर्वत की पूजा रक्षा देवता के रूप में करते हैं। इन लोगों का अपना कैलेंडर होता है जिसे लेप्चा कलेंडर कहते हैं। इसी के अनुसार ये लोग तीज त्योहार मनाते हैं। आज भी ये लोग समूह में रहना पसंद करते है। निःसंदेह ये लोग प्रकृति प्रेमी हैं। इनके समुदाय में आज भी प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। बहुमूल्य खनिज पदार्थ व कीमती औषधियों का इन्हें विशेष ज्ञान है। इनकी संस्कृति, लोकसाहित्य और भाषा लिखित तौर पर नगण्य मात्र है। लोककथा, लोकगीत, अनुष्ठान और पर्वगीत से लेकर पहेलियाँ, चुटकुले, कहावतें और लोकोक्तियाँ आदि लेप्चा समुदाय की एक समृद्ध विरासत है। यह सामग्री लिखित रूप में न होने के कारण धीरे–धीरे विस्मृत हो रही है।

नेपाली समुदाय का सबसे बड़ा त्योहार 'तिहार' है जो प्रत्येक वर्ष दिसंबर महीने में मनाया जाता है। किरात मिथक के अनुसार

प्राचीन समय में एक किरात राजा था जो बहुत दयालु और प्रजापालक था। उसका नाम बाली हंग था। (लिंबू भाषा में हंग का अर्थ राजा होता है) प्रजा राजा से बहुत प्यार करती थी। राजा भविष्यज्ञाता था इसलिए उसे अपनी मृत्यु की तिथि ज्ञात हो गई। राजा ने अपने दरबारियों को अपनी मृत्यु के बारे में सूचना दी। दरबारी अत्यंत दुखी हो गए। दरबारियों ने राजा से अनुरोध किया कि वे मृत्यु से बचने के लिए कोई रास्ता निकालें। राजा ने कहा कि मृत्यु का कोई समाधान नहीं है। सबको एक न एक दिन मरना ही पड़ता है, लेकिन यदि प्रजा वास्तव में राजा को बचाना चाहती है तो उसे पूरी रात सरसों के तेल में दीपक जलाकर मृत्यु देवता से प्रार्थना करनी पड़ेगी। लोगों की प्रार्थना को सुनकर यमराज राजा को दीर्घायु कर सकते हैं। राज्य की प्रजा को सलाह दी गई कि वे राजा के लिए प्रार्थना करें और सरसों के तेल का दीपक जलाएँ। राज्य के युवक–युवतियों ने घर–घर जाकर लोगों को यह संदेश दिया और दीप जलाने का निवेदन किया। किरात लोगों का यह विश्वास है कि रात बारह बजे बाली हंग की मृत्यु हो गई थी लेकिन कुछ पल के बाद ही वे पुनः जीवित हो गए। ऐसा विश्वास है कि जब यमराज ने देखा कि राज्य की जनता अपने राजा से बहुत प्यार करती है तो उन्होंने राजा को दीर्घायु प्रदान की। लोग बहुत खुश हुए। राजा ने जनता का आभार व्यक्त किया और राज्य भर में आनंदोत्सव मनाने का आदेश दिया। इसके बाद वार्षिक आनंदोत्सव के आयोजन की परंपरा बन गई। यह त्योहार हिंदू त्योहार दीपावली से मेल खाता है। अधिकांश नेपाली हिंदू धर्म को मानते हैं तथा देवी लक्ष्मी की पूजा करते हैं। वे अपने घरों को सजाते हैं तथा पुष्पहार पहनाकर लक्ष्मी की उपासना करते हैं। वे गाय–बैलों की भी पूजा करते हैं। तिहार के प्रथम दिन को कौवा का त्योहार या काग तिहार कहते हैं। कौवे को सियालरोटी और अन्य भोज्य पदार्थ खिलाए जाते हैं। दूसरे दिन को कुकुर तिहार अर्थात् कुत्तों का त्योहार कहा जाता है। कुत्तों को गेंदे के फूल की माला पहनाई जाती है एवं अच्छे–अच्छे भोज्य पदार्थ खिलाए जाते हैं। तीसरे दिन को दीपक जलाकर यमराज की प्रार्थना की जाती है। हिडु लोग इसे गाई तिहार के रूप में भी मनाते हैं। इस दिन गाय और माता लक्ष्मी की पूजा की जाती है। सुबह में तेल लगाकर एवं गेंदे के फूलों की माला पहनाकर गाय की पूजा की जाती है। उसे सियालरोटी खिलाई जाती है। यह दिन असत्य पर सत्य की जीत के रूप में मनाया जाता है। शाम को दीप जलाकर देवी लक्ष्मी की पूजा की जाती है। चौथे दिन गोरु तिहार मनाया जाता है। इस दिन बैलों की पूजा की जाती है। त्योहार के पाचवें दिन को भाई टीका के रूप में मनाया जाता है। इस दिन बहनें अपने भाइयों का सम्मान करती हैं। बहनें अपने भाइयों को गेंदे के फूलों की माला पहनाकार तिलक लगाती हैं। बहनें अपने भाइयों की लंबी आयु और सुख–समृद्धि के लिए प्रार्थना करती हैं और भाई अपनी बहनों की रक्षा करने का संकल्प लेते हैं। मारुति नृत्य तिहार का अभिन्न अंग है।

"पूर्वोत्तर के समाज में लोककथाओं और मिथकों की समृद्ध परंपरा है। सभी समुदायों में अपने देशांतरगमन, पूर्व पुरुषों तथा ईश्वरीय प्रतीकों के संबंध में भिन्न–भिन्न मिथक प्रचलित हैं। यहाँ वन एवं वन्य–प्राणियों से संबंधित लोककथाओं और मिथकों का बाहुल्य है। पूर्वोत्तर के आदिवासी मिथकों में सृष्टि, पेड़, पर्वत, जल, मानव, पशु–पक्षी, जीव–जंतु आदि की उत्पत्ति की कथा वर्णित है। यहाँ प्रेम–कथाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। शिकार संबंधी लोककथाएँ भी खूब लोकप्रिय हैं। इन लोककथाओं में मानवीय मूल्यों को प्रतिस्थापित करने की भावना निहित होती है।"[7]

सिक्किम राज्य में विविध रंगों का समावेश है। विविधता होने के बावजूद कहीं कोई संघर्ष दिखाई नहीं देता है। यहाँ के

स्थानीय लोग देखने में सीधे–सादे, भोले, निश्चल नज़र आते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है कि यहाँ कई संस्कृतियाँ एक साथ फल–फूल रही हैं। सांस्कृतिक तौर पर भिन्नता के बावजूद सिक्किम में शांति है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अबाउट सिक्किम डिपार्टमेंट ऑफ इनफॉर्मेशन एंड पब्लिक रिलेशंस गवर्नमेंट ऑफ सिक्किम, 29 सितंबर–2005, अभिगमन तिथि–12 अक्तूबर–2006

2. इकोनॉमी ऑफ सिक्किम डिपार्टमेंट इनफॉर्मेशन एंड पब्लिक रिलेशंस, गवर्नमेंट ऑफ सिक्किम, 29 अक्तूबर –2005

3. प्लेविन लॉटरी इंटरप्ले मल्टीडिया लिमिटेड कंपनी 20 अगस्त, 2006, अभिगम तिथि–12 अक्तूबर–2006

4. सिक्किम इकोनॉमी राष्ट्रीय सूचना–विज्ञान केंद्र, 29 अगस्त–2006, अभिगम तिथि 12 अक्तूबर, 2006

5. http://www.Censusindia.net/religiondata 2001 Indian census Data

6. पीपल ऑफ सिक्किम डिपार्टमेंट ऑफ इनफॉर्मेशन ऑफ पब्लिक रिलेशंस गवर्नमेंट ऑफ सिक्किम, 29 सितंबर, 2005, अभिगम तिथि–12 अक्तूबर, 2006

7. परमार वीरेंद्र, (2020), उत्तर–पूर्वी भारत के आदिवासी, मित्तल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 38

– के द्वारा प्रदीप त्रिपाठी, हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, काजीरोड,
गंगटोक, सिक्किम–737101

❑❑❑

संपर्क सूत्र

1. प्रो. दिनेश कुमार चौबे, क्वार्टर नं.–पी–48, आवासीय परिसर पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, नेहू, शिलांग, मेघालय–793022, मो.– 9436312134, ईमेल–dkcnehu76@gmail.com
2. डॉ. मिलन रानी जमातिया, चांदमारी, आईएलएस हॉस्पिटल के पास, अगरतला, त्रिपुरा–799006, मो.– 8974009245, ईमेल–milanrani08@gmail.com
3. प्रो. विनीता कुमारी, 1543, औटरम लाइंस, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009, मो. 9911140082, ईमेल– drvineetaminglani50@gmail.com
4. श्री दिनेश कुमार वर्मा, मकान संख्या सी–214/4, नजदीक एम.एस. पब्लिक स्कूल, लक्ष्मी पार्क, नांगलोई, दिल्ली–110041, मो.– 9313343753, ईमेल–dkverma.pp@gmail.com
5. श्री मुनींद्र मिश्र, विश्वविद्यालय परिसर, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, सूर्यमणिनगर, त्रिपुरा पश्चिम–799022, ईमेल– mishramuneendra@gmail.com
6. डॉ. दीपक कुमार गुप्ता, हिंदी शिक्षक, अदलागुरी मजलिया विद्यालय, बोंगाईगाँव, असम–783392, ईमेल–deepakguptaa462@gmail.com
7. डॉ. तादाम रूती, सहायक प्रोफेसर, गवर्मेंट कॉलेज दोइमुख, जिला पापुम पारे, अरुणाचल प्रदेश, मो.– 9402027207, ईमेल– tadamruti@gmail.com
8. प्रो. जय कौशल, के द्वारा श्रीमती निवेदिता हसनु, मकान सं.–56, दिमासा क्लब के पास, अमोलापट्टी, दीफू, असम–782460, मो.– 8131040183, ईमेल– jaikaushalaudc@gmail .com
9. डॉ. बीना देबबर्मा, के द्वारा जोगिंदर देबबर्मा, समीप बिजय कुमार एच/एस गर्ल्स स्कूल, चारकुथिर लैंड, अगरतला, त्रिपुरा–799001, मो.– 7005338952, ईमेल– binadebbarma 1982@gmail.com
10. डॉ. अभिजीत सिंह, फ्लैट नं.–5 बी, ई ए–31, सोनारतरी अपार्टमेंट, घोषपारा, देशबंधु नगर, कोलकाता, पश्चिम बंगाल–700059, मो.– 9831778147, ईमेल– abhisingh1985123@ gmail.com
11. श्री वीरेंद्र परमार, 103, नवकार्तिक सोसायटी, प्लॉट नं.–13, सेक्टर–65, फरीदाबाद–121004, मो.– 9868200085, ईमेल– bkscgwb@gmail.com
12. डॉ. उर्मिला शर्मा, हाउस नं.–175, भवानी प्लाजा के सामने, वंशीलाल चौक, बड़ा बाजार, हजारीबाग, झारखंड–825301, ईमेल– urmilasharma009@gmail.com
13. सुश्री नूतन पांडेय, जी–1403, आदित्य मेगासिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201014, मो.– 9435509662, ईमेल– pandeynutan@hotmail.com
14. डॉ. जाहिदुल दीवान, कमरा नं.–32, 52 ए/2, करतार सिंह टोकस बिल्डिंग, बुद्ध बिहार, मुनिरका, नई दिल्ली–110067, मो.– 7678245992, ईमेल– jahidignou@gmail.com
15. डॉ. अनीता पंडा, के द्वारा एम के टेक, सैमसन कैफे, बावरी मैनसन, धानखेती, शिलांग, मेघालय–793001, ईमेल– aneeta.panda@gmail.com

16. श्री जीतू कुमार गुप्ता, शोधार्थी, हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय, मो.गो.ई. हाईस्कूल के पास, होजाई, असम, मो.– 9864999090, ईमेल– jitugupta8sep@gmail.com

17. डॉ. रघुनाथ पांडेय, 753 सिविल लाइंस गोंडा, उत्तर प्रदेश–271001, मो.– 9450527126, ईमेल– rnp26.11@gmail.com

18. श्री पासांग रुकू, रिसर्च स्कॉलर हॉस्टल (पुरुष) त्रिपुरा विश्वविद्यालय, (केंद्रीय विश्वविद्यालय) सूर्यमणिनगर अगरतला, पश्चिम त्रिपुरा, पिन–799022, tungsangruku@gmail.com

19. डॉ. संजय प्रसाद श्रीवास्तव, जूनियर रिसोर्स पर्सन/लेक्चरर ग्रेड (हिंदी), राष्ट्रीय परीक्षण सेवा–भारत, भारतीय भाषा संस्थान, मानसगंगोत्री, मैसूर, कर्नाटक–570006, ईमेल– srivastavsanjay12@gmail.com

20. डॉ. शरिफुज जामान, बाबू जगजीवन राम रिसर्च होस्टल, गुवाहाटी यूनिवर्सिटी, गुवाहाटी, असम–781014, मो.– 9435009125, ईमेल– zaman21nov@gmail.com

21. सुश्री प्रियंका कुमारी, आर-520, खसरा नं.–45/7, भाग्य विहार, रानी खेड़ा, नई दिल्ली–110081, मो.– 7678118393, ईमेल– Priyakjha92@gmail.com

22. डॉ. सुनील कुमार शॉ, हिंदी विभाग, नेहू, शिलांग, मेघालय–793022, मो.– 8617301842, ईमेल– sunilbhu50@gamil.com

23. सुश्री प्रियंकादास, मानव–कल्याण नामघर रोड, जिला– तिनसुकिया, असम–786125, मो.– 6001590551, ईमेल– priyankadas2061996@gmail.com

24. श्री शहिदुल इस्लाम खान, घर संख्या–228, गाँव–बनवाहार, डाकघर–कयाकुछि, जिला और थाना–बरपेटा, असम–781352, मो.– 7598608795, ईमेल– khanshahidulislam49@gmail.com

25. उपमा शर्मा, के द्वारा प्रदीप त्रिपाठी, हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, काजीरोड, गंगटोक, सिक्किम–737101, मो.– 8101629551, ईमेल–upamasharma64@gmail.com

❑❑❑

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र

सेवा में,

निदेशक

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,

शिक्षा मंत्रालय, पश्चिमी खंड–7, आर. के. पुरम्, नई दिल्ली – 110066

ई.मेल – chdsalesunit@gmail.com

फोन नं. – 011–26105211 एक्सटेंशन नं. 201, 244

महोदय/महोदया,

कृपया मुझे भाषा (द्वैमासिक पत्रिका) का एक वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए/ दस वर्ष के लिए/ बीस वर्ष के लिए दिनांक .... से सदस्य बनाने की कृपा करें। मैं पत्रिका का वार्षिक/ पंचवर्षीय/ दसवर्षीय/ बीसवर्षीय सदस्यता शुल्क .... रुपए, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट सं. .... दिनांक .... द्वारा भेज रहा/रही हूँ। कृपया पावती भिजवाएँ।

नाम : ....

पूरा पता : ....

....

....

मोबाइल/दूरभाष : ....

ई–मेल : ....

संबद्धता/व्यवसाय : ....

आयु : ....

पूरा पता जिस पर पत्रिका प्रेषित की जाए : ....

....

सदस्यता	शुल्क डाक खर्च सहित
वाषिक सदस्यता	रु. 125.00
पंचवर्षीय सदस्यता	रु. 625.00
दसवर्षीय सदस्यता	रु. 1250.00
बीसवर्षीय सदस्यता	रु. 2500.00

डिमांड ड्राफ्ट निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए। कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम एवं पूरा पता भी लिखें।

नाम एवं हस्ताक्षर

नोट : कृपया पते में परिवर्तन होने की दशा में कम से कम दो माह पूर्व सूचित करने का कष्ट करें।

केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निदेशक सह कुलपति, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, प्रोफेसर नागेश्वर राव की अध्यक्षता में 27 अप्रैल 2022 को आयोजित भाषा, वार्षिकी एवं साहित्यमाला प्रकाशन के परामर्श एवं संपादन मंडल की बैठक।

पंजी संख्या. 10646 / 61
ISSN 0523-1418

भाषा (द्वैमासिक)
BHASHA-BIMONTHLY
पी. ई. डी. 305-2-2022
700

भाषा

मार्च–अप्रैल(विशेषांक) 2022

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्

हिंदी

केंद्रीय निदेशालय

Digital India
Power To Empower

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066
www.chd.education.gov.in
www.chdpublication.education.gov.in